श्यामाचरण दुबे
सागर विश्वविद्यालय

मानव और संस्कृति

राजकमल प्रकाशन
दिल्ली इलाहाबाद बम्बई पटना मद्रास

भूमिका

मानवीय अध्ययनों में 'नृतत्व' अथवा 'मानव-शास्त्र' का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस विषय का विकास बड़ी तीव्र गति से हुआ है और अब तो यह अनेक स्वयंपूर्ण उपभागों में विभाजित होता जा रहा है। प्रस्तुत पुस्तक नृतत्व की उस शाखा की परिचयात्मक रूपरेखा है जो मानवीय संस्कृति के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करती है।

लेखक ने सांस्कृतिक नृतत्व के सर्वमान्य तथ्यों को भारतीय पृष्ठभूमि में प्रस्तुत करने का यत्न किया है। इस सीमित उद्देश्य के कारण जहाँ तक हो सका है समकालीन सद्धान्तिक वादविवादों के प्रति तटस्थता का दृष्टिकोण अपनाया गया है।

हिन्दी के माध्यम से आधुनिक वैज्ञानिक विषयों पर लिखने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। प्रामाणिक पारिभाषिक शब्दावली का अभाव उनमें सबसे अधिक उल्लेखनीय है; इस पुस्तक में प्रचलित हिन्दी शब्दों के साथ अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली का उपयोग स्वतन्त्रतापूर्वक किया गया है। जहाँ आवश्यक समझा गया कुछ नये पारिभाषिक शब्द भी बना लिये गए हैं। विषय का स्पष्टीकरण लेखक का उद्देश्य रहा है, और इसकी सिद्धि के लिए पारिभाषिक शब्दावली सम्बन्धी सैद्धान्तिक मतभेदों के प्रति लेखक ने किसी विशिष्ट आग्रह अथवा दुराग्रह को नहीं अपनाया।

नृतत्व विभाग,
सागर विश्वविद्यालय

श्यामाचरण दुबे

विषय-सूची

१ : प्रवेश

२ : मानव और प्रकृति

३ : मानव और समाज

४ : मानव और अदृश्य जगत्

५ : मानव और कला

६ : मानव और संस्कृति

७ : आदिवासी भारत

१

प्रवेश

एक

मानव का अध्ययन

जिज्ञासा मानव की एक बड़ी शक्ति है। इसकी प्रेरणा से मानव ने अपने ज्ञान-विज्ञान के भण्डार को आश्चर्यजनक रूप से विकसित कर लिया है। मानव स्वयं अपने लिए भी जिज्ञासा का विषय रहा है, और इस स्व-केन्द्रित कुतूहल के कारण उसने अनेक मानवीय अध्ययनों का विकास किया है। इन अध्ययनों में 'नृतत्व' अथवा 'मानव-शास्त्र' का अपना विशिष्ट स्थान है।

सामान्य रूप से नृतत्व को हम मानव और उसके कार्यों का अध्ययन कह सकते हैं। मनुष्य जाति के जन्म से लेकर वर्तमान काल तक मानव के शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास एवं व्यवहार के विभिन्न पक्ष इस विज्ञान के अध्ययन-क्षेत्र में आते हैं। मानव-समूहों की शरीर-रचना तथा संस्कृति की समानताओं और विभिन्नताओं का अध्ययन नृतत्व का विशेष उद्देश्य है।

संभवतः यह कहना अनावश्यक है कि व्यापक रूप से मानव-जीवन की समस्त विविधताओं का उनके जटिल रूपों में अध्ययन कर सकना किसी एक विज्ञान के लिए संभव नहीं है। समाज-शास्त्र मनुष्य और उसके समूहों के पारस्परिक संबंधों का अध्ययन करता है। मानस-शास्त्र अथवा मनोविज्ञान के अन्तर्गत व्यक्तिगत तथा सामाजिक धरातल पर मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। इतिहास विशिष्ट घटनाओं को वर्णित कर, समय-पट पर उनके कार्य-कारण संबंधों का विश्लेषण करता है। अर्थ-शास्त्र जीविका-संबंधी मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन तथा उनके रूपों एवं प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है। राजनीति-विज्ञान का उद्देश्य मानव के नियंत्रण संबंधी व्यवहार के विभिन्न रूपों और प्रक्रियाओं की व्याख्या है।

इन बहु-पक्षी मानवीय अध्ययनों द्वारा हम मानव-जीवन के यथार्थ को समझने का यत्न करते हैं। मानव और उसकी संस्कृति के अध्ययन के रूप में नृतत्व इन विषयों के अत्यंत निकट होकर भी उनसे भिन्न अस्तित्व रखता है। जहाँ अन्य सामाजिक तथा मानवीय विज्ञान अपनी विषय-रुचि के अनुसार व्यापक रूप से सम्पूर्ण मानव-समाज पर दृष्टिपात करते हैं, नृतत्व सीमित समाजों में इन विषयों की मान्यताओं का परीक्षण करता है। दूसरे, सामाजिक अध्ययन अपनी दृष्टि मानव-जीवन के विशिष्ट पक्षों पर केन्द्रित करते हैं, नृतत्व सीमित समाजों को अपने अध्ययन का विषय बनाकर जीवन को उसकी समग्रता में देखने का यत्न करता है। प्राणी-शास्त्र की शाखा के रूप में नृतत्व प्राचीन तथा आधुनिक मानव के विभिन्न समूहों की शारीरिक रचना एवं प्रक्रियाओं की समानताओं तथा भिन्नताओं का विश्लेषण और वर्गीकरण करता है। दूसरी ओर एक सांस्कृतिक-सामाजिक अध्ययन के रूप में वह इसी प्रकार विभिन्न संस्कृतियों और समाजों की रचना तथा प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है।

यद्यपि भिन्न-भिन्न देशों के निवासियों की सामाजिक प्रथाओं तथा धार्मिक रीति-रिवाजों का वर्णन हमें प्राचीन साहित्य में भी मिलता है, एक स्वतंत्र वैज्ञानिक अध्ययन के रूप में नृतत्व का विकास उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में हुआ। इसके पूर्व यह विषय सामान्यतः भूगोल अथवा इतिहास का एक अंग माना जाता था। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में प्राकृतिक विज्ञानों का विकास आरंभ हुआ। प्राणी-जगत् के अन्य सदस्यों के साथ मनुष्य जाति के भिन्न-भिन्न समूहों के वैज्ञानिक वर्गीकरण के प्रथम प्रयत्न इस युग में हुए। मनुष्य को प्रकृति का अंग मानकर उसका अध्ययन करने के इन प्रारंभिक प्रयत्नों में नृतत्व का जन्म हुआ। मनुष्य-विज्ञान के कतिपय प्रारंभिक अध्येताओं का अनुमान था कि मानव-समूहों की भाषा तथा संस्कृति उनके प्रजातीय गुणों पर आश्रित रहती है। विषय के वैज्ञानिक अध्ययन से यह क्रमशः स्पष्ट होता गया कि प्रजातीय गुणों तथा भाषा एवं संस्कृति में इस प्रकार का कोई संबंध नहीं है। इस नई स्थिति के सामान्य रूप से स्वीकृत होते ही मनुष्य का अध्ययन अनेक शाखाओं और उप-शाखाओं में विभाजित हो गया। विशाल प्राणी-वर्ग के अनेक प्राणियों में से एक के रूप में मनुष्य के विकास तथा उसकी शारीरिक विशेषताओं का अध्ययन शारीरिक नृतत्व के रूप में स्वतंत्र रूप में विकसित हुआ। इस अध्ययन का दृष्टिकोण तथा प्रणाली दोनों प्रायः पूर्ण रूप से प्राकृतिक विज्ञान के अन्य अंगों से प्रभावित थे। मनुष्य के व्यवहार का अध्ययन, विशेषकर उसके जटिल सामाजिक संबंधों का विश्लेषण, प्राकृतिक विज्ञान की अध्ययन-शैली द्वारा भली भाँति नहीं

किया जा सकता। इस दिशा में नृतत्व ने इतिहास एवं समाज-विज्ञान की अध्ययन-शैली को अपनाया।

नृतत्व के दो महत्त्वपूर्ण भाग, जो क्रमशः मनुष्य और उसके कार्यों से संबद्ध हैं, 'शारीरिक नृतत्व' तथा 'सांस्कृतिक नृतत्व' के रूप में विकसित हुए हैं। इनमें प्रत्येक के अनेक उपभाग हैं।

शारीरिक नृतत्व का एक भाग मानव के आदिकाल से लेकर वर्तमान काल तक के शारीरिक विकास का अध्ययन करता है, और दूसरा भाग मानव की वर्तमान प्रजातियों का उनकी शारीरिक विशेषताओं के आधार पर तुलनात्मक अध्ययन करके उनका वैज्ञानिक वर्गीकरण करने का यत्न करता है।

सांस्कृतिक नृतत्व तथा उसके अन्य उपविज्ञानों के अन्तर्गत मानव-समाज के स्वरूप और इतिहास का अध्ययन किया जाता है। देश एवं काल की सीमाओं से बाध्य न होकर मानव-जाति के प्रत्येक अंश की संस्कृति का अध्ययन करना इस विज्ञान का उद्देश्य है।

प्राग्-इतिहास में हम संस्कृति के जन्म तथा उसके उदयकालीन पक्षों का अध्ययन करते हैं। प्राग्-इतिहास के अध्ययन द्वारा हम मानव के इतिहास को उन अंधकारमय युगों तक ले जा सकते हैं जिनके संबंध में हमें कोई लिपिबद्ध प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। प्रागैतिहासिक काल के स्मृति-चिह्न उनकी आयु एवं प्राप्ति-स्थान के अनुसार कालानुक्रम से वर्गीकृत किये जा सकते हैं। उपर्युक्त परिस्थितियों में भूगर्भशास्त्र की वैज्ञानिक अध्ययन-प्रणाली से हम उनकी आयु का अनुमान कर सकते हैं; और उनके आधार पर मानवीय संस्कृति के क्रमिक विकास एवं प्रगति के संबंध में धारणाएँ भी निश्चित कर सकते हैं। किन्तु प्राग्-इतिहास से हमें मानव की संस्कृति का एकांगी चित्र ही मिलता है। मानव के यंत्र और उपकरण उसकी जीवन-कथा के कतिपय पक्ष ही हमारे सम्मुख उपस्थित करते हैं, और उनके आधार पर हम उसके संपूर्ण जीवन को समझने का प्रयत्न करते हैं। प्राग्-इतिहास के माध्यम से हम प्राचीन मानव के जीवन के भौतिक पक्षों से भली भाँति परिचित हो सकते हैं। उससे हम संभवतः यह भी जान सकते हैं कि वे कैसे घरों में रहते थे, किन अस्त्र-शस्त्रों का उपयोग करते थे, उनमें कैसे आभूषण प्रचलित थे अथवा उनका खाद्य किस प्रकार का होता था। किन्तु ऐसे अध्ययनों के आधार पर हम प्राचीन मानव के मनोविचारों के संबंध में कुछ नहीं कह सकते, और न उस बीते हुए युग की समाज-व्यवस्था, नियम, जीवन-दृष्टि तथा विश्वासों आदि पर ही प्रकाश डाल सकते हैं। इन विषयों पर निर्धारित की गई मान्यताओं को हमें केवल वैज्ञानिक अनुमान के रूप में ग्रहण करना चाहिए।

पुरातत्त्व के अनुसंधानों का उद्देश्य मानव के अतीत-संबंधी तथ्यों का संकलन तो है ही, उनका चरम लक्ष्य उन प्रक्रियाओं का विश्लेषण एवं निरूपण है जिनके द्वारा मानवीय सभ्यताएँ विकसित एवं पुष्पित होती हैं।

सांस्कृतिक नृतत्व का एक भाग वर्तमान काल के जीवित अथवा कुछ समय पूर्व नष्ट हुए समाजों के अध्ययन से संबद्ध है। प्रत्येक मानव-समुदाय का जीवन-यापन का अपना विशिष्ट ढंग होता है। नृतत्व की भाषा में इसे ही संस्कृति कहते हैं। सांस्कृतिक नृतत्ववेत्ता संस्कृतियों का उनके विशिष्ट परिसर में अध्ययन करते हैं, तथा उनकी अन्य संस्कृतियों से तुलना करके उनके विकास, संगठन और प्रक्रियाओं के संबंध में सर्वदेशीय, सर्वकालीन निष्कर्षों पर पहुँचने का प्रयत्न करते हैं। इस तरह के अध्ययन में क्षेत्रीय कार्य द्वारा अध्ययन-क्षेत्र से तथ्यों का संकलन आवश्यक है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए नृतत्ववेत्ता को संसार के प्रत्येक भाग में अनेक प्रजातियों तथा अनेक सांस्कृतिक स्तरों के मानव-समूहों के निकट संपर्क में आना पड़ता है। अधिकांशतः इस विज्ञान में प्राथमिक संस्कृति वाली ऐसी आदि-जातियों का अध्ययन किया जाता है जो आधुनिक सभ्यता की परिधि में नहीं आतीं। अध्येता की अपनी संस्कृति से भिन्न, सम्पन्न किन्तु उलझी संस्कृतियों के अध्ययन के प्रयोगों से नृतत्ववेत्ता को अध्ययन की एक विशिष्ट प्रणाली प्राप्त हो गई है, और उसने तटस्थता का ऐसा वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित कर लिया है कि उसकी इस प्रणाली का उपयोग उतनी ही उपादेयता से सभ्य समाजों तथा परिवर्तनशील संस्कृतियों के अध्ययन में भी किया जा सकता है।

नृतत्व, अर्थ-शास्त्र, समाज-शास्त्र और आंशिक रूप से इतिहास के विद्यार्थियों का चरम लक्ष्य प्रायः एक ही है। चारों समाज तथा संस्कृति की प्रक्रियाओं को समझना चाहते हैं, और उन कारकों और परिस्थितियों का विश्लेषण करना चाहते हैं जो संस्कृति-परिवर्तन की गति और दिशा निश्चित करते हैं। अपने अध्ययन द्वारा वे कतिपय ऐसे निष्कर्षों पर पहुँचना चाहते हैं जिनकी सहायता से भावी समाज के परिवर्तन की दिशा का अनुमान किया जा सके; और यदि संभव हो तो इस परिवर्तन पर नियंत्रण भी रखा जा सके। नृतत्व ने देश और काल के बंधनों को स्वीकार न करके जीवन के भिन्न मूल्य और संस्कृति के भिन्न प्रकार वाले समाजों का वर्णन तथा विश्लेषण किया है। उन मूल तथ्यों का, जिन पर समाज और संस्कृति की क्रियाएँ आश्रित हैं, वास्तविक मूल्यांकन करने के लिए पूर्ण मनुष्य-जाति तथा उसकी भिन्न-भिन्न शाखाओं के सम-अनुभवों का अध्ययन आवश्यक है। एक तरह से नृतत्ववेत्ता के अध्ययन-क्षेत्र की सीमा ही

उसकी शक्ति है। वह अधिकांशतः सीमित आदि-समाजों का अध्ययन करता आया है। ये समाज छोटे और सुगठित होते हैं। उनकी संस्कृतियाँ सरल एवं सुसंगठित होती हैं। सीमित परिधि तथा लघु जनसंख्या के कारण इन संस्कृतियों के रूप में स्थिरता होती है और समाज तथा संस्कृति के आदर्श प्रायः निश्चित होते हैं। इन मानव-समूहों में सामाजिक रीति-नीति का उल्लंघन करने वाले व्यक्तियों की संख्या अत्यंत अल्प होती है। अतः इन समाजों में संस्कृति के रूपों की जटिल विविधता हमें दृष्टिगत नहीं होती। इन कारणों से व्यक्ति तथा संस्कृति के पारस्परिक संबंधों का विश्लेषण इन समाजों में सुविधापूर्वक किया जा सकता है। प्राकृतिक तथा सामाजिक विज्ञानों का यह एक अलिखित नियम है कि जहाँ तक संभव हो, अनुसंधान सरल से आरंभ किया जाकर क्रमशः अधिक उलझी हुई संस्थाओं और समस्याओं की ओर उन्मुख किया जाय। नृतत्व-वेत्ता सरल आदि-समाजों का अध्ययन करके अधिक विकसित समाजों के अध्ययन की पूर्व पीठिका प्रस्तुत कर रहे हैं। पिछले दो-तीन दशकों में नृतत्व के अध्येताओं ने जटिल संस्कृतियों तथा आधुनिक समाजों के कतिपय महत्त्वपूर्ण अध्ययन भी किये हैं।

भाषा-शास्त्र का नृतत्व से निकट का संबंध है। भाषा मानव की संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग होती है। अतः सांस्कृतिक नृतत्व के अध्ययन में उसका स्थान होना अनिवार्य है, किन्तु नृतत्व के अंतर्गत आने वाले उप-विज्ञानों में भाषा-विज्ञान अपेक्षाकृत स्वयं पूर्ण और स्वतंत्र है। भाषा तथा उसके स्वरूप और गठन का अध्ययन जीवन के अन्य पक्षों से अलग भी सरलतापूर्वक किया जा सकता है। आदि-संस्कृतियों में भाषाओं की विविधता तथा उसके स्वरूप की जटिलता में अनुसंधान की सीमाहीन सामग्री है। प्रारंभिक दृष्टि से भाषाओं के विकास का विश्लेषण तथा गठन के आधार पर उनका वर्गीकरण अत्यंत आवश्यक है। शब्द और भाषा दोनों अपने-आप में अन्तिम रूप से स्वयं पूर्ण न होकर उन विशिष्ट समाजों की सांस्कृतिक चेतना पर आश्रित रहते हैं जिनमें उनका विकास होता है। शब्द व्यक्ति और समाज की चेतनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतः भाषा के माध्यम से नृतत्ववेत्ता को उन समाजों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन की बहुमूल्य सामग्री प्राप्त हो सकती है। जिस तरह भाषा के स्वरूप का विश्लेषण हमें सांस्कृतिक समस्याओं के मर्म तक पहुँचने में सहायक हो सकता है, उसी तरह संस्कृतियों के गठन तथा उनकी प्रक्रियाओं संबंधी ज्ञान से हमें भाषा-शास्त्र की कतिपय उलझी हुई समस्याओं को समझने में भी सहायता मिल सकती हैं। इस तरह स्पष्ट है कि भाषा-शास्त्रज्ञों और नृतत्ववेत्ताओं

का सहयोग अत्यंत उपयोगी हो सकता है।

नृतत्त्व को हम चार प्रमुख उपभागों में विभाजित कर सकते हैं :

१. मानवीय विकास—इस भाग के अंतर्गत प्रस्तरीकृत मानव तथा निकट-मानव प्राणियों के अध्ययन द्वारा मानव-जाति के विकास की विभिन्न स्थितियाँ निश्चित करने का प्रयत्न किया जाता है।

२. शारीरिक नृतत्त्व—नृतत्त्व-विज्ञान की यह शाखा शारीरिक विशेषताओं के आधार पर संसार के विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में बिखरे हुए मानव-समूहों का वैज्ञानिक वर्गीकरण करती है। प्राचीन मानव-संबंधी अनुसंधान के लिए इस विज्ञान के विद्यार्थियों को मानवीय अस्थि-पंजर—प्रस्तरीकृत अथवा सामान्य—और उनके अवशेष ही प्राप्त हो सकते हैं। आधुनिक मानव-समूहों के प्रजातीय वर्गीकरण के लिए वे शरीर के विभिन्न अंगों की नाप-जोख, रक्त-समूह विश्लेषण, मांसपेशियों की गठन, त्वचा, आँख और केश के रंग, केश-रचना आदि का उपयोग करते हैं। इसके अतिरिक्त शारीरिक नृतत्त्वशास्त्र के विद्यार्थी विभिन्न मानव-समूहों में शरीर की अनिवार्य प्रक्रियाओं की समानता और भिन्नता का अध्ययन करते हैं।

३. प्रागैतिहासिक पुरातत्त्व—इस शाखा का विद्यार्थी पृथ्वी के गर्भ में विलीन अतीत के पृष्ठों को पढ़ने का प्रयत्न करता है। मानव के सांस्कृतिक विकास की क्रमिक रूपरेखा निश्चित करने के लिए यह आवश्यक होता है कि हम भूगर्भ में विलीन, प्राचीन काल के अलिखित इतिहास को उस युग के अवशेषों में पढ़ने का प्रयत्न करें। यद्यपि पुरातत्त्व स्वयं एक स्वतंत्र विषय है, उसकी प्रागैतिहासिक सामग्री का वास्तविक मूल्यांकन उसी समय हो सकता है जब कि नृतत्त्व के माध्यम से उसका सांस्कृतिक अर्थ समझने का प्रयत्न किया जाय। प्रागैतिहासिक पुरातत्त्व से हमें मानव-संस्कृति के विकास की रूपरेखा स्थिर करने में बड़ी सहायता मिली है।

४. सांस्कृतिक नृतत्त्व—मनुष्य के संबंध में कहा जाता है कि वह एक सामाजिक प्राणी है; किन्तु प्राणी-जगत् में केवल वही एक सामाजिक प्राणी नहीं है। समस्त जीवधारियों में उसकी एक विशेषता उल्लेखनीय है, और वह यह है कि मानव ही एकमात्र संस्कृति का निर्माण करने वाला प्राणी है। संस्कृति को हम परिवेश का मानव-निर्मित भाग कह सकते हैं। ई० बी० टायलर के अनुसार संस्कृति उस समुच्चय का नाम है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, नीति, विधि, रीति-रिवाज तथा अन्य ऐसी क्षमताओं और आदतों का समावेश रहता है जिन्हें मनुष्य समाज के सदस्य के रूप में अपनाता है। नृतत्त्व की शास्त्रीय दृष्टि

से संस्कृति हम उन सब व्यवहार-प्रकारों की समग्रता को कहते हैं जिन्हें मानव अपने सामाजिक जीवन में सीखता है। रंग, रूप आदि की भाँति संस्कृति मानव को प्रकृति की देन नहीं है। संस्कृति सामाजिक आवश्यकताओं द्वारा जनित मानव का आविष्कार है। मनुष्य संस्कृति में जन्म लेता है, संस्कृतिसहित जन्म नहीं लेता। शारीरिक विशेषताओं की भाँति संस्कृति प्रजनन के माध्यम से व्यक्ति को नहीं मिलती; सामाजिक जीवन में अनिवार्य संस्कृतिकरण की प्रक्रिया से व्यक्ति उसे ग्रहण करता है। समाज की परंपरा संस्कृति को जीवित रखती है। संस्कृति के अंतर्गत मानव के आविष्कार, निर्माण-कला, संस्थाएँ, सामाजिक संगठन, कला, साहित्य, धर्म, विचार आदि विषय आते हैं। सांस्कृतिक नृतत्व का उद्देश्य अपनी विशिष्ट अध्ययन-प्रणाली द्वारा मानव-जाति की भिन्न-भिन्न शाखाओं और समूहों की इसी संस्कृति का अध्ययन है। सामाजिक नृतत्व के अंतर्गत सामाजिक तथा राजकीय संगठन, न्याय-व्यवस्था आदि आते हैं। सांस्कृतिक नृतत्व का क्षेत्र अधिक व्यापक है। सामाजिक नृतत्व उसका एक महत्त्वपूर्ण भाग है। समाज-व्यवस्था के अतिरिक्त आविष्कार, अर्थ-व्यवस्था, कला, साहित्य, विश्वास आदि का अध्ययन भी सांस्कृतिक नृतत्व के विषय-क्षेत्र में है।

इस तरह नृतत्व को हम प्राणी-विज्ञान की एक विशेष शाखा मान सकते हैं। नृतत्व के विशुद्ध प्राणी-शास्त्रीय पक्षों के अतिरिक्त, इस विज्ञान के ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक तीनों पक्ष महत्त्वपूर्ण हैं। ऐतिहासिक अध्ययन के रूप में नृतत्व मानव-जीवन के प्रत्येक पक्ष के विकास का अध्ययन कर कालान्तर में संस्कृतियों में होने वाले परिवर्तन-परिवर्धन का विश्लेषण करता है। सामाजिक व्यवहारों के मूल स्रोतों तथा व्यक्ति को समाज में उसका स्थान दिलाने में संस्कृति के प्रभावों का अध्ययन करने वाले विज्ञान के रूप में हमें नृतत्व का मनोवैज्ञानिक पक्ष स्पष्ट दीख पड़ता है। जीवन-दर्शन तथा मूल्य, जिन पर मानव-जीवन आश्रित रहता है, वाह्य जगत् के प्रति दृष्टिकोण, समाज और संस्थाओं के अन्तर्गत आदर्श और यथार्थ संबंध, आदि समस्याओं पर विचार करके नृतत्व हमारे सम्मुख एक दार्शनिक अध्ययन के रूप में आता है।

देश-देश के निवासियों का रहन-सहन, उनके रीति-रिवाज, धर्म और विश्वासों आदि के संबंध में जानने की मानव-हृदय में सदा से जिज्ञासा की भावना रही है, और इसी भावना में नृतत्व के जन्म का रहस्य निहित है। प्राचीन काल से ही ऐसे तथ्यों का संग्रह होता रहा है जो विचित्र कथा से भी अधिक रोमांचकारी और रहस्यमय प्रतीत होते थे। पर्यटक, सैनिक और व्यापारी देश-विदेश की अपनी यात्राओं में वहाँ के सामाजिक तथा धार्मिक जीवन के संबंध में आश्चर्य-

जनक तथा सहसा विश्वास न कर सकने योग्य सामग्री प्राप्त करते रहते थे। वे जो देखते और सुनते थे उसमें कल्पना और अतिरंजना का पुट मिलाकर उसे अपने मित्रों और देशवासियों के सम्मुख उपस्थित करते थे। इस तरह प्राच्य देशों तथा संसार के अन्य सुदूर क्षेत्रों के संबंध में यूरोप में सत्य, अर्ध-सत्य और असत्य-मिश्रित सामग्री का संकलन होता रहा। इस सामग्री ने साहित्य में भी प्रवेश पा लिया, और अपने विकास की प्रारंभिक स्थिति में नृतत्व को भी उसका उपयोग करना पड़ा। विज्ञान के रूप में नृतत्व ने सत्य को अपना चरम लक्ष्य माना, और सामाजिक तथा सांस्कृतिक सत्य के निरूपण के लिए उसने अपनी विशिष्ट अध्ययन-प्रणाली विकसित की। आज भी नृतत्व की वर्णनात्मक पुस्तकें अज्ञात तथा अल्प-ज्ञात जातियों के संबंध में हमारे कुतूहल की तृप्ति करती हैं। इस विषय की कतिपय सुलिखित पुस्तकों में हमें कभी-कभी साहस और अन्वेषण की रोमांचकारी कथा, इतिहास और यात्रा-विवरण आदि के सम्मिलित तत्त्व मिलते हैं, किन्तु सम-सामयिक नृतत्व-विज्ञान-वेत्ता वर्गीकरण और विश्लेषण को ही अपना मुख्य उद्देश्य मानता है।

नृतत्व का सांस्कृतिक महत्त्व स्पष्ट होने में अधिक समय नहीं लगा। नृतत्व के अनेक उद्देश्यों में हम क्या थे और क्या हैं के विवरण के साथ उन कारणों और शक्तियों का स्पष्टीकरण भी है, जिनके कारण हम जो थे की स्थिति से क्रमशः परिवर्तित होकर आज जो हैं की स्थिति में आ गए हैं। नृतत्व के आधार पर हम न केवल अपने सांस्कृतिक इतिहास की रूपरेखा तैयार करते हैं, वरन् हमें उससे उन सर्वदेशीय तथा सर्वकालीन सामाजिक नियमों का शोध तथा निरूपण करने में भी सहायता मिलती है जिनसे हम मानव-समाज के संगठन और प्रक्रियाओं को भली भाँति समझ सकते हैं। इस तरह नृतत्व का सैद्धान्तिक पक्ष अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, किन्तु उसका समस्त महत्त्व एवं उपयोगिता केवल सैद्धान्तिक समस्याओं तक ही सीमित नहीं है। उसका व्यावहारिक पक्ष भी उल्लेखनीय है। सबसे पहले शासक, व्यवसायी तथा मिशनरी लोगों ने गोरी जातियों और आदि-संस्कृतियों के संपर्क के कारण उठने वाली दैनिक समस्याओं को सुलझाने के प्रयत्नों में इस विषय के ज्ञान का व्यावहारिक उपयोग करना आरंभ किया। नृतत्व की सहायता से वे अनेक अनावश्यक संघर्षों को कम करके, सहयोग की भावना स्थापित करने में सफल हुए। इससे आदिवासियों की कठिनाइयाँ और दुःख कुछ कम हुए तथा उनमें और गोरी जाति के शासकों में सद्भाव का विकास हुआ। इस तरह व्यावहारिक नृतत्व का जन्म हुआ, जिसका क्षेत्र अब पर्याप्त रूप से विकसित हो चुका है। यह विज्ञान

आज प्राथमिक मानवता की सेवा में उपयोगी कार्य कर रहा है।

औपनिवेशिक शासन के क्षेत्र में नृतत्व का महत्त्व सर्वस्वीकृत है। साम्राज्यवाद के विकास के आरंभिक काल में संसार के तथाकथित अविकसित तथा अल्पविकसित भागों में जैसे-जैसे गोरी जातियों का प्रभुत्व प्रसारित होता गया, वहाँ की स्वतंत्र संस्कृतियों का क्रमशः ह्रास होने लगा। गोरे शासकों ने अपने नैतिक विचार, संस्थाएँ, आर्थिक संगठन और धर्म इन रंगीन जातियों को देने का प्रयत्न किया और जब इन प्रयत्नों के मार्ग में आदि-जातियों की ओर से बाधाएँ आईं तो शासकों ने बल और सैनिक शक्ति का प्रयोग किया। इस शासन-नीति का परिणाम यह हुआ कि आदि-जातियों में क्रमशः जीवन-शक्ति का ह्रास होने लगा और उनमें जीवन के आनन्द का अभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होने लगा। नृतत्ववेत्ता जिसे न केवल आदिवासियों से सहानुभूति थी वरन् जिसे उनका विश्वास भी प्राप्त था, शासक और शासितों के बीच मध्यस्थ का कार्य अत्यंत उपयोगी ढंग से कर सकने में समर्थ हुआ। शासितों की जीवन-दृष्टि से भली भांति परिचित होने के कारण वह उनका दृष्टिकोण शासकों के सम्मुख शासकों की अपनी भाषा में उपस्थित कर सकता था और साथ ही उन्हें अपने ज्ञान और अनुभव के आधार पर शासन-नीति के निर्माण में परामर्श भी दे सकता था। औपनिवेशिक शासन में नृतत्ववेत्ता की उपयोगिता शीघ्र ही प्रमाणित हो गई। इंगलैंड, हॉलैंड और फ्रांस आदि देशों ने औपनिवेशिक सेवा में नियुक्त शासकों के लिए इस विषय की प्रारंभिक शिक्षा को अनिवार्य कर दिया। अफ्रीका के शासन में सरकार की ओर से नृतत्ववेत्ताओं की नियुक्ति की गई। अफ्रीका की अप्रत्यक्ष शासन या इण्डाइरेक्ट रूल की नीति, अमरीका की इंडियनिस्ट पॉलिसी आदि शासन-विज्ञान को व्यावहारिक नृतत्व की भेंट हैं। नृतत्ववेत्ता दिन-प्रतिदिन के शासन में उठने वाली समस्याओं को सुलझाने में किस तरह सहायक हो सकता है, इसे एक-दो उदाहरणों से स्पष्ट करना आवश्यक है। अफ्रीका की एक आदि-जाति में यह प्रथा थी कि समूह का प्रत्येक युवक विवाह के पूर्व एक नर-मुण्ड प्राप्त करके अपनी वीरता एवं योग्यता प्रमाणित करे। नवीन शासन-योजना के अंतर्गत ऐसी प्रथा का प्रचलित रह सकना असंभव था। सरकार इस प्रथा का अंत करने के लिए सैनिक शक्ति का प्रयोग कर सकती थी, किन्तु उससे भी अधिक सफलता उसे नृतत्ववेत्ता की मध्यस्थता से प्राप्त हुई। नृतत्ववेत्ता ने उक्त जाति के प्रधानों को समझा-बुझाकर एक नये रिवाज का सूत्रपात कराया, जिसके अनुसार नर-मुण्ड के स्थान पर जंगली सूअर का सिर ले आना साहस और वीरता का पर्याप्त प्रमाण माना जाने लगा। इस प्रकार शासन सैन्य शक्ति के प्रयोग तथा उसके

द्वारा होने वाले नर-संहार और कटुता से बच गया।

दूसरा उदाहरण भारत के छोटा नागपुर नामक आदिवासी क्षेत्र से दिया जा सकता है। इस भाग के प्रत्येक उरांव गांव का अपना एक विशिष्ट झण्डा होता है। अपने-अपने झण्डों के साथ गांव के लोग प्रतिवर्ष 'यात्रा' के लिए जाते हैं और एक विशिष्ट स्थान पर भिन्न-भिन्न गांवों और जातियों के लोग मिलते हैं। यहाँ सामूहिक नृत्य आदि का कार्यक्रम रहता है। रेल के एक ठेकेदार ने एक उरांव गांव को उनकी सहायता के उपलक्ष्य में एक झण्डा भेंट किया, जिस पर रेल के इंजन का चित्र अंकित था। अपने को समान रूप से शक्तिशाली मानने वाले एक दूसरे गांव ने उक्त झण्डे के अनुकरण में उससे भी बड़ा झण्डा बनवाकर उस पर भी वही चित्र बनवाया। दोनों गांवों की इस प्रतिद्वन्द्विता के कारण शान्ति भंग होने की आशंका होने लगी। दोनों दलों ने मार-पीट की तैयारी की, और पुलिस ने सुव्यवस्था की। ज़िले के अधिकारियों के आग्रह से इस क्षेत्र के प्रसिद्ध नृतत्त्ववेत्ता स्वर्गीय शरच्चन्द्रराय ने हस्तक्षेप करना स्वीकार किया। उनके इस हस्तक्षेप के कारण दूसरे गांव ने रेल के इंजन वाले झण्डे के स्थान पर हवाई जहाज के चित्र वाला झण्डा स्वीकार कर लिया, और इसके परिणाम-स्वरूप जो दल पारस्परिक वैमनस्य की भावना लेकर 'यात्रा' में शत्रुओं के रूप में एकत्रित हुए थे, मित्रों के रूप में अपने-अपने घरों को लौटे।

संस्कृति-परिवर्तन तथा संस्कृतियों की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया आदि का नृतत्त्ववेत्ता निकट से अध्ययन करता है। उनमें परिवर्तन क्यों और कैसे होते हैं? संस्कृति-परिवर्तन के साथ कौनसी अन्य समस्याएँ संबद्ध होती हैं? परिवर्तन के प्रयत्नों का प्रारम्भ किस दिशा से करने में सुविधापूर्वक उद्देश्य की सिद्धि हो सकेगी? संस्कृति के कौनसे पक्ष ऐसे हैं जिनमें परिवर्तन का सूत्रपात करना चाहिए? इस प्रकार के अधिकांश प्रश्नों के उत्तर हमें व्यावहारिक नतत्त्व के विशेषज्ञों से प्राप्त हो सकते हैं। शासन के अतिरिक्त समाज-सुधार तथा पुनरुत्थान की योजनाओं के निर्माण में भी नृतत्त्ववेत्ता की सहायता बहुमूल्य प्रमाणित हो सकती है।

विचार और कार्य, दोनों के अन्य कई क्षेत्रों में नृतत्त्व के शास्त्रीय ज्ञान का उपयोग किया जा सकता है। जनसंख्या संबंधी समस्याएँ, जैसे स्त्री-पुरुषों की उर्वरता, जन्म-संख्या, बाल-मृत्यु-संख्या आदि का अध्ययन जीवन और संस्कृति की पृष्ठभूमि में भली भाँति किया जा सकता है। समाज-स्वास्थ्य की समस्या खाद्य, स्वच्छता, औषधोपचार आदि पर अवलंबित है जो स्वयं संस्कृति से संबद्ध होने के कारण जीवन के अन्य पक्षों में घुले-मिले हैं। आर्थिक पुनरुत्थान

तथा पुनर्वास की योजनाएँ यदि हम विशिष्ट संस्कृतियों की जीवन-दृष्टि और जीवन-मूल्यों का ध्यान रखकर न बनाएँगे तो वे निरर्थक और प्रतिकूल परिस्थितियों में हानिकारक भी सिद्ध हो सकती हैं। प्रजातियों और अल्पसंख्यकों की समस्याओं के मर्म तथा वास्तविक स्वरूप को समझने में हमें नृतत्व से बड़ी सहायता मिलती है। प्रजाति, संस्कृति, रक्त तथा रंग के संबंध में युगों से अनेक भ्रान्तियाँ तथा अवैज्ञानिक धारणाएँ चली आई हैं, जिनके कारण मानव-समूहों और राष्ट्रों पर बड़े-बड़े अत्याचार हुए हैं। नृतत्व ने हमें इन विषयों की ओर संतुलित तथा वैज्ञानिक दृष्टि से देखने को बाध्य किया है। अपराध-चिकित्सा के क्षेत्र में भी नृतत्व ने व्यावहारिक दृष्टि से बड़े महत्त्व का काम किया है। अपराध की भी सामाजिक, सांस्कृतिक तथा मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि होती है। व्यक्ति अथवा उनके समूहों को अपराध की ओर उन्मुख करने वाले मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक कारणों को समझने में हमें नृतत्व से सहायता मिल सकती है। व्यक्तित्व के विकास का अध्ययन नृतत्व की नवीनतम धारा का विषय है। संस्कृति के किन तत्त्वों का व्यक्तित्व के विकास के किन पक्षों पर कैसा प्रभाव पड़ता है, यह ज्ञान केवल सैद्धान्तिक महत्त्व का नहीं है, व्यावहारिक उपयोग का भी है। नृतत्व में हमारे मानसिक क्षितिजों को विकसित कर सकने की अभूतपूर्व शक्ति है। नृतत्व के अध्ययन से मानव-संस्कृतियों की विविधता में हम अनेक पक्षों में उनकी मूलभूत एकता स्पष्टतः देख सकते हैं। इस तरह नृतत्व का अध्ययन हमारे युग-युग से संचित अंध-विश्वासों तथा पारिवारिक, प्रान्तीय, जातीय एवं राष्ट्रीय मिथ्या गर्व को छिन्न-भिन्न करने में सहायक हो सकता है। विश्व-बंधुत्व की सच्ची भावना के विकास के लिए हमें जीवन और उसकी समस्याओं को मानव की प्रत्येक प्रजाति और समूह के दृष्टिकोण से देखकर उनकी भिन्न-भिन्न दृष्टियों का समन्वय करना आवश्यक होगा। नृतत्व के अध्ययन से अनेक अंशों में हृदय की वह विशालता तथा विचारों की उदारता प्राप्त हो सकती है जिसके अभाव में विश्व-बंधुत्व की कल्पना एक निरर्थक स्वप्न है।

दो

मानव का उद्भव और विकास

डारविन के विकासवाद के सिद्धान्त के सर्वमान्य होते ही, यह सामान्य रूप से माना जाने लगा है कि मानव का विकास प्राणी-जगत् के निम्न धरातल के जीवों से क्रमशः हुआ है। किन्तु मानव की इस प्रगति की अनेक स्थितियाँ हमारे सम्मुख आज भी जटिल पहेलियाँ हैं। मानव प्राणी-जगत् का संभवतः नवीनतम जीव है। कुछ लाख वर्ष पूर्व मानवीय वानरों की एक शाखा पर यह जाति पुष्पित हुई, और जन्म के कुछ समय बाद ही इसने अपनी बुद्धि एवं आविष्कार-शक्ति से अपने परिसर में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करना आरंभ कर दिया। पृथ्वी और सम्पूर्ण प्राणी-जगत् को दृष्टि में रखते हुए यदि हम मानव के विकास पर विचार करें तो हमें यह स्पष्ट रूप से दीख पड़ता है कि मानव का अपना इतिहास अत्यंत सीमित है। जैसे-जैसे हम क्रमशः अतीत की ओर जाते हैं यह स्पष्ट रूप से लक्षित होता है कि मानव तथा प्राणी-जगत् के कतिपय अन्य सदस्यों के पूर्व-पितामह एक ही-सी शाखाओं से थे। शरीर-रचना तथा मस्तिष्क की दृष्टि से मानव को हम एक विशेष प्रकार का वानर मान सकते हैं। दोनों में अनेक मूलभूत समताएँ हैं। रेंगने वाले प्राणियों और स्तनपायी प्राणियों के अन्तर को दृष्टि में रखकर यदि हम मानव और वानरों के अन्तर पर विचार करें तो हमें ज्ञात होगा कि उनमें कितनी आश्चर्यजनक समानता है। प्रकृति के इतिहास की रूप-रेखा में मानव का स्थान सरलतापूर्वक निश्चित किया जा सकता है। वह प्राणी-जगत् में विकास के उच्चतम धरातल का प्रतिनिधित्व करता है।

मानव के विकास को भली भाँति समझने के लिए, पृथ्वी के निर्माण एवं अन्य जीवधारियों की उत्पत्ति को समझना अत्यंत आवश्यक है।

हमारी पृथ्वी एक ग्रह है। यह सौर-जगत् की सदस्या है, और अपने

अनुचर चन्द्रमा के साथ सूर्य की परिक्रमा करती है। वास्तव में पृथ्वी की उत्पत्ति कैसे हुई, यह प्रश्न भौतिक विज्ञान के सम्मुख एक जटिल समस्या है। इस संबंध में विज्ञान-वेत्ताओं के अपने अनुमान तथा सिद्धान्त हैं जो अब प्रायः सर्वस्वीकृत होते जा रहे हैं। आज से लगभग दो खरब वर्ष पूर्व न तो सौर-जगत् था और न पृथ्वी। उनके स्थान पर एक अति विशाल तारा था, जिसमें एक दिन सहसा एक भीषण विस्फोट हुआ। इस विस्फोट के परिणामस्वरूप वह खण्ड-खण्ड हो गया। उसके विशृंखलित खण्डों से क्रमशः पृथ्वी, शुक्र, बुध, मंगल, शनि, बृहस्पति, नेपच्यून, यूरेनस, प्लूटो आदि बने। विस्फोट तथा विशृंखलन के पश्चात् उस दैत्याकार तारे का जो अंश शेष रह गया उसे ही आज हम सूर्य कहते हैं। इस विस्फोट के कारण के संबंध में विज्ञान-वेत्ताओं का अनुमान है कि सूर्य का पूर्वगामी वह विशाल तारा अपनी श्रेणी से भटककर, अपने से भी अधिक विशाल किसी महान् तारे की गुरुत्वाकर्षण सीमा में पहुँच गया, जिसने उसे अपनी प्रचण्ड शक्ति से अपनी ओर खींचा। यद्यपि दोनों तारे आपस में टकराए तो नहीं, सूर्य का पूर्वगामी तारा छिन्न-भिन्न अवश्य हो गया।

प्रारंभिक स्थिति में पृथ्वी को आच्छादित करने वाला वायुमण्डल बहुत ही कम घना था। ऐसे वायुमण्डल में जीवन की उत्पत्ति असंभव थी। क्रमशः सूर्य का चक्कर लगाने वाले कोटि-कोटि खण्ड, जो सूर्य के पूर्वगामी तारे से छिन्न होकर सहस्रों वर्षों से इसी तरह चक्कर लगा रहे थे, पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के कारण खिचकर उसमें सम्मिलित होते गए। वायु-मण्डल भी क्रमशः घना होता गया। घनीभूत वाष्प ने वर्षा का रूप धारण किया। वर्षा का जल ऊँची सतहों से नीची सतहों की ओर बहा और क्रमशः नदियों, झीलों तथा समुद्रों का निर्माण प्रारंभ हो गया। पृथ्वी के गर्भ में सहस्रों वर्षों तक शान्ति नहीं हुई। भयंकर विस्फोटों, ज्वालामुखियों और भूकंपों ने पृथ्वी को स्थिर न होने दिया। धीरे-धीरे पृथ्वी के अन्तर की अशान्ति कम होती गई। वर्षा का जल ऊँची सतहों से ज़मीन को बहाकर नीची सतहों की ओर लेता गया, जो अनेक परतों में जमा होती गई। युगान्तर में एक के ऊपर एक ऐसी अनेक परतें जमा हो गई। ये परतें पृथ्वी के इतिहास के विभिन्न अध्याय हैं, जिनके अध्ययन से भूगर्भ-वेत्ता अनेक महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों पर पहुँच सकता है।

विज्ञान-वेत्ता समय का विभाजन दो मुख्य भागों में करते हैं। वे भाग हैं: 'सृष्टि संबंधी समय' (कॉस्मिक टाइम) तथा 'भूगर्भशास्त्रीय समय' (जियोलॉजिकल टाइम)। प्रथम समय-खण्ड का आरंभ कब हुआ, यह कह सकना असंभव है। भूमि की परतें जमना जब से आरंभ हुआ, उस समय को ही हम

भूगर्भ-शास्त्रीय समय का आरंभ-काल मान सकते हैं। विज्ञान-वेत्ताओं ने इस द्वितीय समय-खण्ड को पाँच मुख्य युगों तथा अनेक उपयुगों में विभाजित किया है। इन युगों का आरंभ कब हुआ और उनमें जीवन का प्रकार क्या था, यह सामने की तालिका में दर्शाया गया है।

पृथ्वी की आयु के संबंध में विज्ञान-वेत्ताओं का अनुमान है कि वह लगभग १०,००० से ५०,००० लाख वर्ष के बीच है। जीवन की उत्पत्ति आरक्योज़ोइक युग में हुई, यद्यपि जीवन का रूप इस काल में अत्यंत सरल था। इस युग की परतों की भूगर्भ-शास्त्रीय परीक्षा से उसमें कार्बन के निश्चित चिह्न मिलते हैं, जिनके आधार पर बिना किसी संदेह के यह कहा जा सकता है कि इस काल में जीवन की सृष्टि हो चुकी थी। परन्तु जीवन की उत्पत्ति कैसे हुई, यह एक जटिल समस्या है जिसका संतोषजनक उत्तर विज्ञान ने अभी तक नहीं दिया। जीवन के प्रत्येक रूप का आधार प्रोटोप्लाज्म नाम का एक तत्त्व है जो एक अत्यंत जटिल दैहिक-रासायनिक संगठन है। इस तत्त्व की रचना को पूर्णतः समझने के प्रयत्न अब तक प्रायः असफल रहे हैं, और इसीलिए जीवन की उत्पत्ति भी हमारे निकट प्रकृति का एक गूढ़ रहस्य है। पृथ्वी का प्रथम जीवधारी प्रोटोज़ोआ था जो एक स्वयंपूर्ण कोष (सेल) मात्र से निर्मित था। लगभग ६५०,०००,००० वर्षों में उसके स्वरूप में परिवर्तन हुआ। उसकी रचना की जटिलता कुछ बढ़ गई और एक-कोषी प्राणियों के अतिरिक्त बहुकोषी जीवधारी पृथ्वी पर दिखलाई पड़ने लगे। पृथ्वी पर जीवन का यह दूसरा स्वरूप प्रोटेरोज़ोइक युग में दीख पड़ा। भूगर्भीय समय का दो-तिहाई भाग इन युगों में समाप्त हुआ।

पेलियोज़ोइक युग में बड़ी शीघ्रता से जीवन का रूप बदला। सर्वप्रथम बिना रीढ़ के प्राणियों का जन्म हुआ। घोंघे आदि समुद्री जीवों और प्राथमिक मछलियों की उत्पत्ति इसी युग के पूर्वार्ध में हुई। इस युग के मध्य में कीड़े-मकोड़े, मछलियाँ और उभयचर तथा भूमि के अत्यंत प्राथमिक पौधों ने जन्म लिया। इस युग के समाप्त होते-होते रेंगने वाले प्राणी भी पृथ्वी पर आ चुके थे। इस युग की अवधि भूगर्भीय समय का प्रायः छठा भाग थी।

मेसोज़ोइक युग की अवधि भूगर्भीय समय का बारहवाँ भाग थी। यह भयानक सरीसृपों या रेंगने वाले जीवों का युग था।

इसके बाद के युग को सेनोज़ोइक युग कहते हैं। आज भी यही युग चल रहा है। इस युग के तीन भाग किये जा सकते हैं। प्रथम भाग में अश्व, गज, उच्च स्तन्य प्राणी, बड़े बंदर, वानरों आदि की उत्पत्ति हुई। द्वितीय भाग में मानव के पूर्ववर्ती जीवधारी पृथ्वी पर आये, और तीसरे भाग में स्वयं मानव इस भूमि

जगत्
जगत्
(किंगडम)
वनस्पति
खनिज
पशु
स्तर
(ग्रेड)
एककोषी प्रजीव
(प्रोटोज़ोआ)
बहुकोषी
(मेटाज़ोआ)
गण
(फ़ाइलम)
अपृष्ठवंशी
(इनवर्टीब्रेटा)
पृष्ठवंशी
(कारडेटा)
उपगण
(सब-फ़ाइलम)
कशेरुका दण्डी
(वर्टीब्रेटा)
श्रेणी
(क्लास)
मत्स्य
(फिश)
उभयचर
(एम्फिबिया)
सरीसृप; उरग
(रेप्टीलिया)
पक्षी
(बर्ड्स)
उपश्रेणी
(सब-क्लास)
पुरास्तन्य; अंडजस्तन्य
(प्रोटोथीरिया)
अंडा देने वाले (मोनोट्रीम)
यथा: डकबिल
वर्ग
(आर्डर)
निर्दन्त
(एडेन्टेटा)
यथा: स्लोथ, ऐंट-ईटर
जलधिवासी
(सिटेशिया)
यथा: व्हेल, पोरपोइज़
जलवासी
उपवर्ग

पर अवतरित हुआ।

डारविन के सिद्धान्त को भली प्रकार न समझने के कारण मानव के विकास-संबंधी आधुनिक दृष्टिकोण के बारे में बड़ी भ्रान्ति है। साधारणतः यह समझा जाता है कि मानव की उत्पत्ति इस प्रकार हुई है :
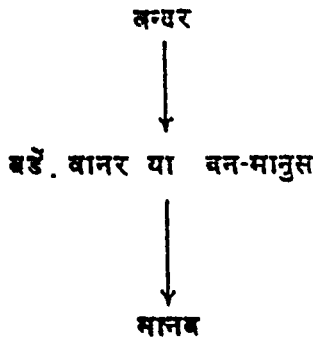
वास्तविकता इससे भिन्न है। नृतत्व के वैज्ञानिक दृष्टिकोण से मानव की उत्पत्ति इस तरह है :
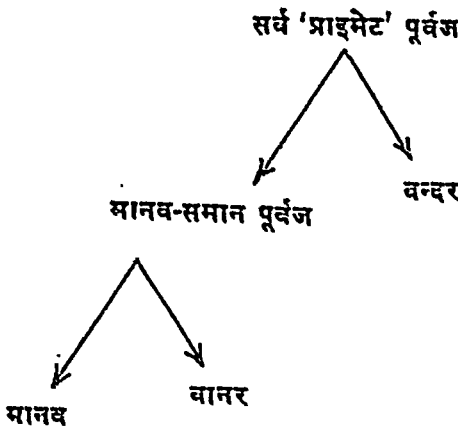
प्राणी-जगत् में मानव की वास्तविक स्थिति सामने की तालिका से स्पष्ट की जा सकती है :

जीवशास्त्रीय वर्गीकरण के आधार पर मानव जिस प्रकार पशु-जगत् के अन्य सदस्यों से संबंधित है, वह उक्त तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा चुका है। उपर्युक्त वर्गीकरण की जिन शाखाओं-उपशाखाओं से मानव का सीधा संबंध है, उसे इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है :

१. जगत् ... ... पशु
२. स्तर ... ... बहुकोषी

३. गण ... ... पृष्ठवंशी
   (१) उपगण ... ... कशेरुका दंडी
४. श्रेणी ... ... स्तन्य, स्तनपायी
   (१) उपश्रेणी ... ... उन्नत-स्तन्य
५. वर्ग ... ... उच्च-स्तन्य (प्राइमेट)
   (१) उपवर्ग ... ... नृ-समुदाय
   (२) उपोपवर्ग ... ... संकीर्ण नासिकीय
६. परिवार ... ... मानव
७. वर्ग ... ... मानव
८. जाति-विशेष ... ... मेधावी

इस प्रकार जीव-शास्त्र ने प्राणी-जगत् के सबसे उन्नत और सुविकसित पशु सदस्य को मेधावी-मानव (होमोसेपियन्स) की संज्ञा दी है।

प्राइमेट (उच्चस्तन्य) वर्ग की विशेषताएँ

मानव के निकटतम पूर्वजों में जिस वर्ग के प्राणियों को रखा जाता है, उन्हें उच्चस्तन्य (प्राइमेट) कहते हैं। इस वर्ग के प्राणियों के जितने भी परिवार हैं उन सभी में जो सामान्य विशेषताएँ पाई जाती हैं उन्हें संक्षेप में यहाँ दिया जा रहा है :

१. सामान्यतः इनमें दो ही स्तन-ग्रंथियाँ होती हैं। ये पेट से ऊपर वक्ष पर स्थित रहती हैं।

२. मादा एक बार में एक या कभी-कभी एक से अधिक संतान को जन्म देती है। पर यह संख्या सामान्यतः दो-तीन से अधिक कभी नहीं होती।

३. वस्तुओं को पकड़ के लिए अंगूठे का अन्य उँगलियों से भिन्न होना और उसका अपनी ओर से उँगलियों की ओर मुड़ सकना इस वर्ग के प्राणियों की उल्लेखनीय विशेषता है। इस विशेषता के कारण वे वस्तुओं को हाथ द्वारा मज़बूती से पकड़े रख सकते हैं।

४. इस शाखा में कंधे की हड्डी (क्लेविकल, कॉलर बोन) का समुचित विकास हुआ है। कंधे से जुड़े हुए हाथ जब वस्तुओं को पकड़ने का कार्य करने लगे तो यह आवश्यक हुआ कि कंधे से उनकी पकड़ मजबूत बनी रहे। इसी सब के कारण कंधे की हड्डी का विकास हुआ है।

५. हाथ में कुहनी के नीचे के भाग की हड्डियाँ (रेडियस और अलना) इस तरह जुड़ी हुई हैं कि हाथ को किसी भी ओर घुमाया जा सकता है।

६. उनके पैरों में पाँच उँगलियाँ होती हैं और पैरों और हाथों का स्पष्ट कार्य-विभाजन पाया जाता है। हाथ, वस्तुओं को पकड़ने, उन्हें मुँह तक पहुँचाने आदि का कार्य करते हैं, और इसलिए शरीर का सारा भार पैरों पर रहता है। इस प्रकार शरीर का भार उठाने के कार्य से हाथों को मुक्ति मिल गई है।

७. हाथों और पैरों में पंजों के स्थान पर चपटे नखों का इनमें विकास हुआ है।

८. इनमें जबड़े का भाग आगे की ओर अधिक उभरा हुआ नहीं होता, जैसा कि अन्य निम्नेतर स्तन्यों में पाया जाता है।

९. आँखें खोपड़ी के अग्रभाग में पाई जाती हैं, न कि दाएँ-बाएँ। इसलिए इनमें समदर्शिता (स्टीरिओस्कोपिक विज़न) का विकास हुआ है। आँख के गड्ढे के पिछले भाग में अस्थि-भित्ति (बोनी वॉल) है, जो निम्नेतर प्राणियों में नहीं पाई जाती।

१०. इनमें घ्राण-शक्ति के ह्रास के साथ-साथ नासिका-क्षेत्र भी छोटा होता गया है।

११. इनका मस्तिष्क अपेक्षाकृत दीर्घ होता है, और उसमें कई घुमावदार, चिन्हांकित स्थल होते हैं।

१२. इनमें दाँतों की संख्या ३२ से ३६ तक पाई जाती है।

१३. यौन-क्रियाओं के लिए निम्नेतर स्तन्यों की भाँति इनमें कोई मिथुन-काल अथवा जनन-काल निश्चित नहीं होता। वर्ष के किसी भी भाग में ये क्रियाएँ की जा सकती हैं। वयस्क मादाएँ निश्चित अवधि-अंतरों से रजस्राव करती हैं।

मानव का विकास

मानव के विकास का क्रमबद्ध इतिहास लिख सकना यदि संभव नहीं तो अत्यंत कठिन अवश्य है। प्रागैतिहासिक काल के प्रस्तरीभूत अवशेषों में कम-से-कम छः भिन्न प्रकार के प्राचीन प्राइमेट-वर्गीय प्राणियों के अवशेष मिलते हैं। इनमें लीमर और टारसियर का उल्लेख किया जा चुका है। लीमर जाति के जीवित वंशज हमें भूमध्यरेखावर्ती प्रदेश, विशेषकर मडागास्कर, में मिलते हैं। उनके प्रस्तरीकृत अवशेप ईयोसीन युग के स्तरों में मिले हैं। मेसोज़ोइक युग के वृक्षों पर वास करने वाले और कीड़े-मकोड़ों का आहार करने वाले स्तनपायी प्राणी, जिन्हें हम पूर्व-प्राइमेट वर्ग का पूर्वज मान सकते हैं, और लीमर में हमें स्पष्ट अंतर दीख पड़ता है। प्राइमेट वर्ग के प्राणियों में वे सबसे अधिक प्राचीन

तथा विकास की दृष्टि से प्राथमिक माने जा सकते हैं। उनका आकार लघु (४" से २४" तक) होता है। वे गिलहरी जैसे दीख पड़ते हैं, किन्तु उनका सिर लोमड़ी जैसा होता है। वे वृक्षों पर वास करते हैं, और अधिकांशतः रात्रि के समय ही बाहर निकलते हैं। उनका मस्तिष्क अपेक्षाकृत बड़ा होता है। वे मांसाहारी और शाकाहारी दोनों हैं।

लीमर

टारसियर के अवशेष निम्न ईयोसीन युग के स्तरों में उत्तरी अमरीका और यूरोप में मिले हैं। जीवित रूप में इस शाखा के प्रतिनिधि केवल ईस्ट-इंडीज द्वीप समूह में मिलते हैं। ये स्वभाव से बड़े भीरु होते हैं, और केवल रात्रि के अंधकार में बाहर निकलते हैं। इनका आकार अत्यंत लघु (८" के लगभग) प्रायः चूहे जैसा होता है। तुलनात्मक दृष्टि से ये लीमर की अपेक्षा कम प्राथमिक अथवा दूसरे शब्दों में अधिक प्रगतिशील हैं। इस जाति में प्रगति के चार चिह्न विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। वे हैं—आँखों का गड्ढों में जड़ा हुआ और बहुत बड़ा होना, घ्राण-शक्ति की अपेक्षा दृष्टि का अधिक विकसित होना, सामने के पंजों से मुख तक भोजन पहुँचाने की क्षमता, तथा पिछले पैरों पर बैठने का स्वभाव। इस प्राणी की विशेषता यह भी है कि वह बिना अपने शरीर को घुमाए सिर को एकदम पीछे रीढ़ की हड्डी की रेखा में ले जा

टारसियर

सकता है। ये कीटाहारी होते हैं।

नई दुनिया के वन्दर हेपेलिडी और सेविडी नामक दो उप-परिवारों में विभाजित किये जा सकते हैं। प्रथम प्रकार के उप-परिवार में उल्लेखनीय वन्दर मार्मोसिट है, जो लगभग आठ इंच लम्बा होता है। इसके पैर हाथों की अपेक्षा अधिक लम्बे होते हैं। दिन में जागना और रात को सोना, इन्हें निम्नकोटि के उच्चस्तन्यों (प्राइमेटों) से भिन्न करते हैं। मार्मोसिट मादाएँ एक समय में एक से अधिक शिशुओं को जन्म देता हैं।
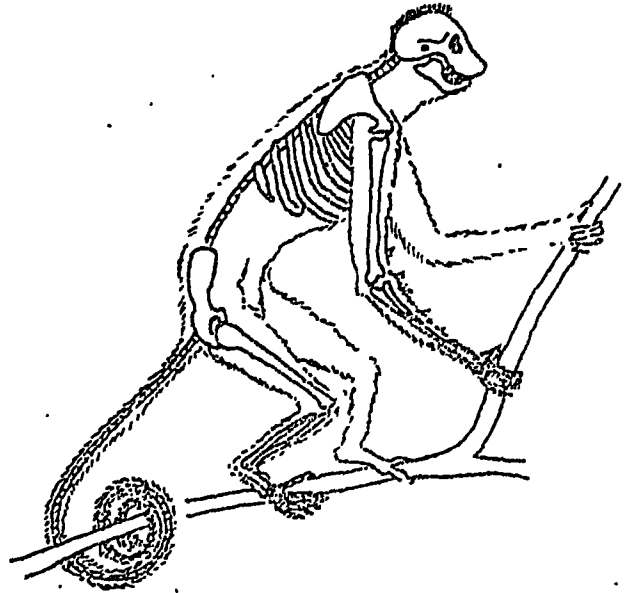
मार्मोसिट

अन्य सभी अमराकी वन्दर सेविडी उप-परिवार के सदस्य हैं, जिनमें सीवस, स्पाइडर, और हाउलर वंदर मुख्य हैं। स्पाइडर वन्दर के हाथ काफी लम्बे होते हैं और वह अपनी पूंछ को भी तीसरे हाथ की तरह उपयोग में ला सकता है। अमरीकी वन्दर विस्तीर्ण नासिकीय (प्लेटिर्हिनी) हैं। उनके नथुने नीचे की ओर खुलने के स्थान पर दाईं-बाईं दिशा में खुलते हैं।

बबून

पुरानी दुनिया के वन्दर, जिन्हें सरकोपिथेसिडी कहा जाता है, सरकोपिथेसिन और सेम्नोपिथेसिन दो उप-परिवारों में विभा-

जित किये जा सकते हैं। वानर और मानव की भाँति ये भी संकीर्ण, नासिकीय (केटेर्हिनी) प्राणी हैं। इनके नयुने नीचे की ओर खुलते हैं। इन सभी बन्दरों में श्रोणिकाठिन्य (इश्चियल केलोसिटीज़) होता है, और मादाओं में श्रोणि के इस भाग में रजोधर्म के चक्र के साथ वर्ण परिवर्तित होता रहता है। इनमें केवल बबून ही ऐसा बन्दर है जो वृक्षवासी नहीं है। सेम्नोपिथेसिन उप-परिवार में लंगूर आते हैं, और ये दक्षिण-पूर्वी एशिया में पाये जाते हैं। मेण्ड्रिल, ओव्म, बबून, आदि सरकोपिथेसिन अधिकतर अफ्रीका में निवास करते हैं।

वानरों को जीवशास्त्रीय दृष्टि से सिमिडी परिवार का माना जाता है। यह परिवार दो उप-परिवारों में विभक्त है: दीर्घ देह वाले वानर और लघु देह वाले वानर। दीर्घ देह वाले वानर पोंगिडी कहलाते हैं। पूर्वी एशिया के ओरांग-उटान, अफ्रीकी गोरिल्ला और चिंपांजी इस शाखा के अवशिष्ट प्रतिनिधि हैं। मलाया के गिबन, जो लघु-देही हैं, हाइलोबेटिडी उप-परिवार से संबंधित हैं।

ऑलिगोसीन (आदिनूतन) काल के उत्तरार्द्ध में ही वानर के उद्भव के चिह्न दीखने लग गए थे। मिस्र के फ़यूम क्षेत्र में पाये गए पेरापिथेकस, और प्रोप्लायोपिथेकस के प्रस्तरीभूतों से इन वानरों के पूर्वजों का संबंध जोड़ा जाता है।

दक्षिण-पूर्वी एशिया में पाए जाने वाले गिबन तीन फुट से अधिक ऊँचे नहीं होते। ये काले रंग के होते हैं, पर उनके मुँह के चारों ओर का भाग एक सफेद घेरे से घिरा रहता है। इनकी सबसे बड़ी विशेषता इनकी भुजाओं की लंबाई है जो शेष शरीर से दो-ढाई गुना अधिक होती है। हाथों की यह लंबाई उन्हें पेड़ों पर झूलने में पर्याप्त सहायता देती है। झूलते हुए एक डाल को छोड़कर दस-पंद्रह फुट की दूरी पर स्थित दूसरी डाल ये आसानी से पकड़ पाते हैं। हाथों की ही भाँति इनके पैरों के अंगूठे भी शेष उँगलियों से भिन्न होते हैं। अपने जीवन का अधिकांश ये वृक्षों पर ही बिताते हैं, किन्तु यदा-कदा भूमि पर भी उतरते रहते हैं।

बोर्नियो और सुमात्रा-वासी ओरांग-उटान गिबन की तुलना में दीर्घ हैं। ओरांग-उटान वजन में १६५ से २०० पौंड तक होते हैं, जब कि गिबन केवल १२ से १५ पौंड। इनकी भुजाओं की लंबाई भी काफी रहती है। भुजाओं का निम्न भाग भूमि का स्पर्श करने में समर्थ होता है, परन्तु इनके पैर इस योग्य नहीं होते कि इतनी बड़ी देह का संपूर्ण भार वे अपने ऊपर सँभाल सकें। भूमि पर चलने के लिए इन्हें चारों हाथ-पैरों का आश्रय लेना पड़ता है। इनके मुँह की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनमें गालों के भाग काफी भरे और उभरे हुए

होते हैं। ग्रीवा-प्रदेश को त्वचा की एक भारी-सी थैली ढक लेती है, जिसे यह प्राणी जब भी चाहे फुला सकता है।

चिपांजी अफ्रीकावासी हैं। ये पाँच फुट लंबे और वजन में लगभग ११० पौंड होते हैं। इनके हाथ केवल घुटने तक ही पहुँच पाते हैं। चिपांजी के लिए खड़ा होना, बैठना, पालथी मारना, या मनुष्य की तरह लेटना भी कठिन नहीं है। यही कारण है कि वे मनुष्य की तरह कई प्रकार की क्रियाएँ करना शीघ्र ही सीख लेते हैं। वृक्षों पर झूलना और एक डाल से दूसरी पर शीघ्रता से पहुँच जाना इनका सहज स्वभाव है। यदा-कदा भूमि पर भी ये चला करते हैं।

गोरिल्ला लगभग ५ फुट १० इंच लंबाई के
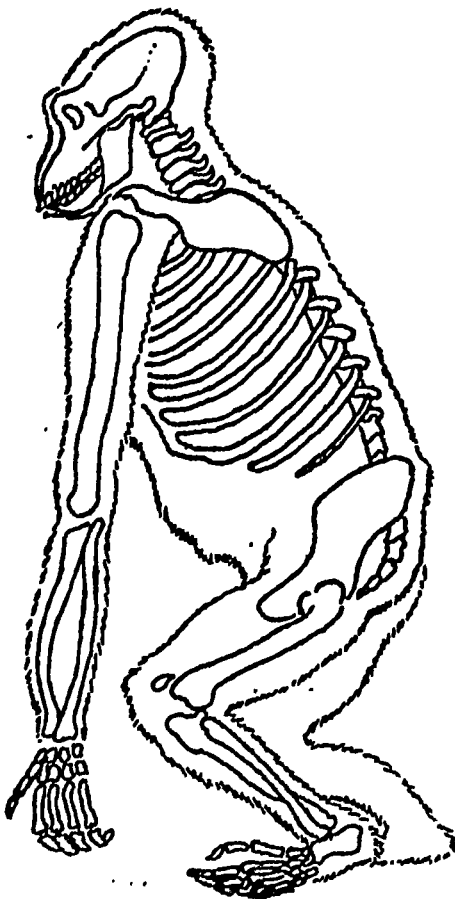
गोरिल्ला
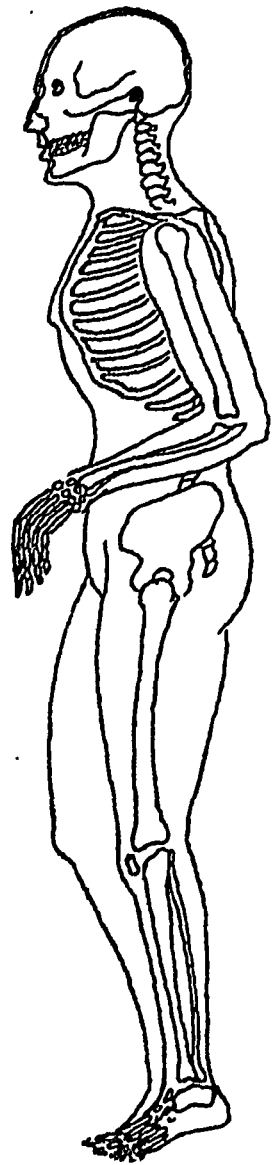
मानव

वानर होते हैं, जिनका वजन ३५० से ६०० पौंड के बीच होता है। गोरिल्ला को पहाड़ी गोरिल्ला, और मैदानी गोरिल्ला, इन दो भागों में वर्गीकृत किया जाता है। इनका भी अधिकतम जीवन वृक्षों पर ही बीतता है। इनकी भुजाएँ लंबी होती हैं, पर खड़े होने की स्थिति में हाथ की उँगलियाँ घुटने से नीचे के स्थल का स्पर्श नहीं कर पातीं। पैरों के अंगूठे भारी किन्तु चिपांजियों के पैर के अंगूठे की तुलना में छोटे होते हैं। फिर भी हाथ के अंगूठे की ही भाँति पैर का अंगूठा भी शेष उँगलियों की दिशा में मुड़ सकता है। इस प्रकार पैर भी वस्तु को पकड़ने का काम कर सकते हैं। शरीर का भार उठाने के लिए पैरों में जो सामर्थ्य चाहिए वह उँगलियों और अंगूठों के दूर-दूर होने के कारण अत्यंत क्षीण रहती है। पसली की हड्डियाँ भी इनमें काफी मजबूत होती हैं।

मिस्र के फ़यूम क्षेत्र में आदिनूतन काल (ऑलिगोसीन) में पाये गए प्रस्तरीकृत पेरापिथेकस को सर्कोपिथेसिडी (पुरानी दुनिया के बंदर) परिवार का पूर्वज माना जाता है। संकीर्ण नासिकीय प्राणियों की जो दो शाखाएँ निकलीं, उनमें से एक का प्रतिनिधित्व पेरापिथेकस ने किया। दूसरी शाखा प्रोप्लायो-पिथेकस के नाम से विख्यात है। ये भी इसी ऑलिगोसीन काल में फ़यूम क्षेत्र में पाये जाते थे। इस प्राणी के प्रस्तरीकृत जबड़े के वैज्ञानिक परीक्षण से यह सिद्ध हो चुका है कि यह प्राणी बंदर न होकर लघु-वानर था। भारत की शिवालिक पहाड़ियों में मध्यनूतन काल के स्तरों में पाये गए प्रस्तरीभूत,जिन्हें ड्रायोपिथेकस कहा जाता है, इसी प्रोप्लायोपिथेकस शाखा के उद्विकासीय परिवर्तन के फल थे। मानव और वानर की भिन्न-भिन्न शाखाओं के सर्व-पूर्वज रूप में ड्रायोपिथेकस को प्रतिष्ठित किया जा चुका है। किन्तु गिबन के पूर्वज प्लायोपिथेकस ड्रायोपिथेकस की अवतारणा के पूर्व ही भिन्न श्रेणी में विकसित हो चुके थे, और इसलिए मानव के संबंधी के रूप में ये गोरिल्ला, चिपांजी और ओरांग-उटान की तुलना में थोड़े दूर के हैं। ड्रायोपिथेकस और नव-मानव के बीच एन्थ्रापॉयड वर्ग की लगभग ८०,००,००० पीढ़ियों ने पृथ्वी पर जन्म लिया, जीवन व्यतीत किया और समाप्त हो गईं।

उक्त वर्ग के बाद 'आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रिकेनस' शाखा उल्लेखनीय है। इसकी स्थिति वानरों और मानव के बीच की-सी है। यह शाखा निश्चित रूप से वानरों से अधिक विकसित थी, किन्तु मानव से कम। पूर्णतः वानर न होते हुए भी यह वानर अधिक था, मानव कम। उसके प्रस्तरीकृत अवशेष दक्षिण अफ्रीका में मिले हैं। उसके चेहरे और जबड़े का जो भाग मिला है वह पूरी तरह प्रस्तरीकृत हो चुका है। इस युग का जो अवशेष सबसे पहले मिला वह एक पाँच

टारसियर

लीमर

दाएँ : गोरिल्ल

ऊपर : चिंपांज़ी
दाएँ : ओरांग उटान
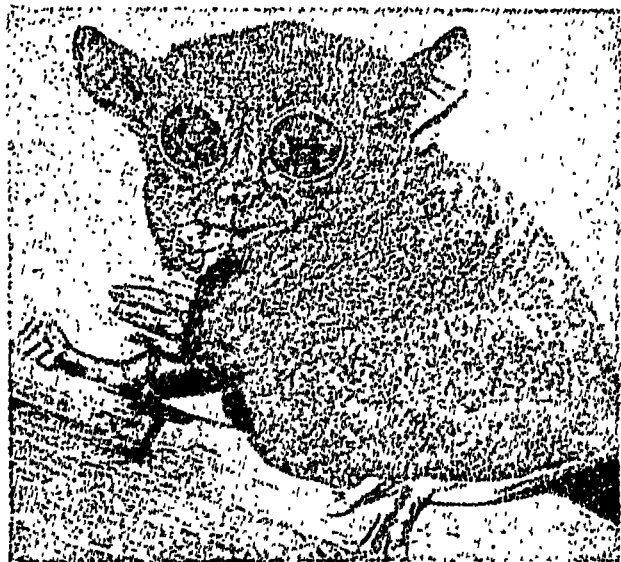
ऊपर : पियेकॅन्थ्रॉपस इरेक्टस

बाएँ : निएण्डर्यल

नीचे : क्रो मेगनन
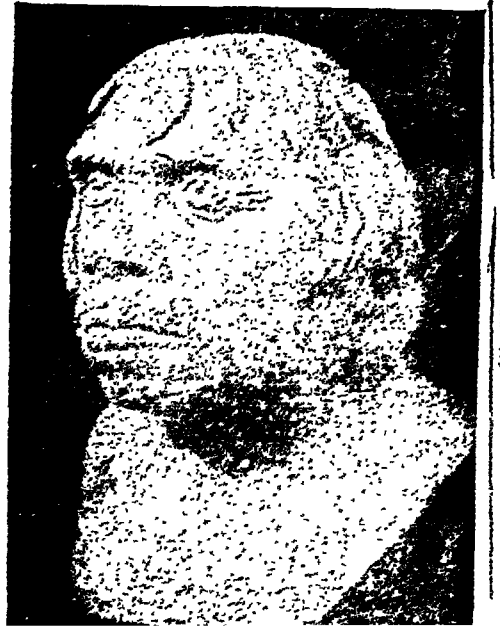
वर्ष के बालक का था। बाद में मध्य अफ्रीका में इस शाखा के अनेक और अवशेष भी मिले। आस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रिकेनस के बारे में अब यह निश्चयात्मक रूप से कहा जा सकता है कि मानवीय विकास के इतिहास में उसकी स्थिति निम्न बंदर वर्ग और नव मानव—मेधावी मानव—के बीच की है। उसमें निम्न प्राइमेट वर्ग के वे सब लक्षण पाए जाते हैं, जो आज तक मानव में भी विद्यमान हैं। उसमें वानरों की विशेषताएँ विकसित हुई लक्षित नहीं होतीं। इस शाखा के पूर्वज मायोसीन अथवा प्लायोसीन युग में संभवतः वृक्षों का निवास छोड़कर भूमि पर उतर आए होंगे। परन्तु इस शाखा के जो अवशेष मिले हैं उन्हें मानव के पूर्वजों के अवशेष नहीं माना जा सकता, क्योंकि वे जिस काल के हैं उस काल में मानव स्वयं पूरी तरह विकसित हो चुका था।

सुदूर-पूर्व और पश्चिम, दोनों क्षेत्रों में प्राचीन मानव के अनेक महत्त्वपूर्ण अवशेष मिले हैं, जिनमें से अनेक का, उनके महत्त्व के अनुरूप, विस्तृत विश्लेषण आवश्यक है। सुदूर-पूर्व के अवशेष अधिक प्राचीन माने जा सकते हैं, क्योंकि पश्चिमी अवशेषों की अपेक्षा शरीर-रचना में पूर्वी अवशेष वानरों के अधिक समीप हैं। प्रायः सभी अवशेष जिस भूगर्भीय स्तर पर मिले हैं वह प्लाइस्टोसीन युग का माना जा सकता है। भूगर्भीय दृष्टि से काल-निर्णय करने में कई हज़ार वर्ष तक की गलती हो जाना सहज संभव है, यह कह देना इस संदर्भ में आवश्यक है। शरीर-रचना की प्राचीनता की दृष्टि से, सुदूर-पूर्व में मिले अवशेषों का वर्गीकरण इस भाँति किया जा सकता है :

१. जाइगेण्टोपिथेकस ब्लेकी
२. मेगेन्थ्रापस पेलियोजवानिकस
३. पिथेकेन्थ्रापस रोवस्टस
४. पिथेकेन्थ्रापस इरेक्टस
५. होमो मोडजोकेरटेनसस
६. पिथेकेन्थ्रापस पीकिनेनसस

इनमें से प्रथम, जाइगेण्टोपिथेकस ब्लेकी शाखा के प्राणी की एक बड़ी दाढ़ फ़ान कोनिस्वाल्ड नामक एक डच औपनिवेशिक अधिकारी को सन् १९३५ में हांगकांग की एक चीनी दुकान में मिली। बाद में दूसरी दुकानों से इसी शाखा के प्राणियों के दो और दाँत मिले। पहले इनके संबंध में यह अनुमान था कि ये किसी विशालकाय एन्थ्रॉपॉयड के दाँत हैं, किन्तु बाद में अधिक सूक्ष्म विश्लेपण से यह ज्ञात हुआ कि दाँत किसी मानव-सम प्राणी के हैं। मेगेन्थ्रापस पेलियोजवानिकस के दो-तीन अवशेष कोनिस्वाल्ड को मध्य जावा में सन् १९३९

और १९४१ के बीच मिले। इसी उत्साही अन्वेषक को सन् १९३८ में जावा के ट्रिनिल नामक स्थान में पिथेकैन्थ्रापस रोबस्टस के कुछ अवशेष मिले—खोपड़ी का ऊपरी भाग और ऊपरी जबड़े का एक हिस्सा। इन अवशेषों के संबंध में पहले यह अनुमान किया गया कि ये सुप्रसिद्ध पिथेकेन्थ्रापस इरेक्टस वर्ग के किसी नर के हैं, किन्तु तुलनात्मक विश्लेषण द्वारा ज्ञात हुआ कि विकास की दृष्टि से ये अवशेष पिथेकेन्थ्रापस इरेक्टस की किसी पूर्ववर्ती शाखा के हैं। अतः उक्त शाखा का स्वतन्त्र नामकरण कर दिया गया।
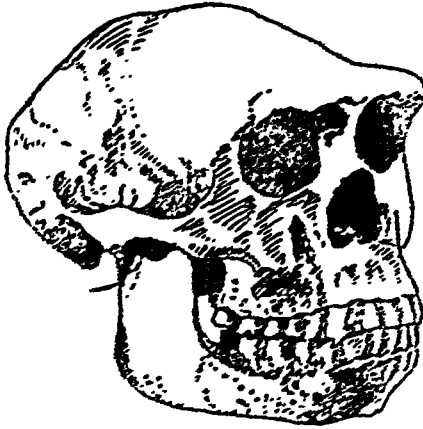
पिथेकेन्थ्रापस इरेक्टस की खोपड़ी

सुदूर-पूर्व में प्राप्त प्राचीन मानव के अवशेष में संभवतः सबसे अधिक प्रसिद्ध शाखा 'पिथेकेन्थ्रापस इरेक्टस' की है जो 'जावा-मानव' के नाम से भी प्रसिद्ध है। १८९१-९२ की अवधि में इस शाखा के अवशेष जावा में दु बॉय नामक एक डच चिकित्सक को मिले। इस शाखा में वानर और आधुनिक मानव-जातियों के मध्यवर्ती गुण मिले, इसलिए उसका नामकरण 'जावा का सीधा वानर-मानव' किया गया। अनेक वर्ष तक यह शाखा मानवीय विकास की खोई हुई कड़ी मानी जाती थी। सर्वप्रथम इस जाति के ये अवशेष मिले : खोपड़ी का ऊपरी भाग, बाएँ पैर की जाँघ की हड्डी और कुछ दाँत। सन् १९३६-३९ के बीच इस शाखा की एक पूरी खोपड़ी मिली। मस्तिष्क के आकार की दृष्टि से यह प्राणी प्रायः मानव के समान ही, किन्तु अपेक्षाकृत निम्न धरातल का था। खोपड़ी के अतिरिक्त इस शाखा के प्राणियों के शरीर का केवल एक अन्य भाग और मिला है—बाईं जाँघ की हड्डी। इस एक अवशेष के आधार पर उसकी शरीर-रचना के संबंध में बहुत अधिक कह सकना कठिन है। यह अवश्य कहा जा सकता है कि यह प्राणी तनकर सीधा खड़ा हो सकने में समर्थ था। उसकी ऊँचाई सामान्यतः ५ फुट ८ इंच के लगभग रही होगी। जावा-मानव के संबंध में यह भी कहा जा सकता है कि उसकी भौंहें नीची, गर्दन मोटी, मुँह चौड़ा और नाक चौड़ी-चपटी-सी रही होगी।

होमो सोडलोकिन्टेन्सस शाखा का केवल एक अवशेष उपलब्ध है; वह है

एक बालक की खोपड़ी। अल्पायु के व्यक्ति का यह अवशेष सरलतापूर्वक किसी विशिष्ट वर्ग में नहीं रखा जा सकता, और इसीलिए मानवीय विकास की परंपरा में उसका स्थान निश्चित करना भी कठिन है।

सुदूर-पूर्व के प्राचीन मानव की एक अन्य खोज 'पिथेकेन्थापस पीकिनेनसस' को पिथेकेन्थापस इरेक्टस के बाद संभवतः सबसे अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई है। सन् १९२९ में इस श्रेणी के अवशेष पेई को मिले थे। इसी श्रेणी के और भी अनेक अवशेष कालान्तर में प्राप्त हुए और उनके अध्ययन से मानवीय विकास के रहस्य को समझने में बड़ी महत्त्वपूर्ण सहायता मिली। पिथेकेन्थापस इरेक्टस और पिथेकेन्थापस पीकिनेनसस में संबंध होने का अनुमान प्रारंभ से ही व्यक्त किया जाता रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये दोनों शाखाएँ प्लाइस्टोसीन युग के एक ही काल में भिन्न-भिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में निवास करती थीं। पीकिंग के समीप चाउ-काउ-टीन नामक ग्राम में कतिपय ऐसी गुफाएँ मिलीं जिनमें महत्त्वपूर्ण प्रस्तरीकृत सामग्री भरी पड़ी थी। इस सामग्री में प्रायः चालीस मानवों के प्रस्तरीकृत अवशेष मिले, जिनमें सबसे अधिक प्राचीन अंश उस शाखा के थे जिसे हम पहले पीकिंग-मानव अथवा 'सिनेनथापस पीकिनेनसस' कहते थे, और जो आज पिथेकेन्थापस पीकिनेनसस कही जाती है। पीकिंग-मानव और जावा-मानव में अनेक समानताएँ दीख पड़ती हैं। पीकिंग-मानव का मस्तिष्क अपेक्षाकृत कुछ बड़ा था; किन्तु यह अन्तर भी बहुत अधिक नहीं है। उसके जबड़ों की बनावट बहुत-कुछ मनुष्य के जबड़ों की-सी थी; दंत-रचना अत्यंत प्राथमिक होते हुए भी मानवीय थी। इस श्रेणी की खोपड़ियाँ कई मिली हैं, किन्तु शरीर के अन्य अंग बहुत थोड़े। इस कारण यह अनुमान किया जाता है कि जिन व्यक्तियों के अवशेष उक्त गुफाओं में मिले हैं वे किसी नर-भक्षी मानव-समूह के शिकार हुए होंगे, और संभवत नर-भक्षियों ने शरीर के अन्य अंगों को हत्या-स्थल पर ही समाप्त कर, खोपड़ियों को तड़काकर उनका भेजा खाने के लिए उन्हें अपनी गुफाओं में ले जाने का निश्चय किया होगा। जावा-मानव का समकालीन होते हुए भी पीकिंग-मानव विकास की दृष्टि से उससे अधिक प्रगतिशील प्रतीत होता है।
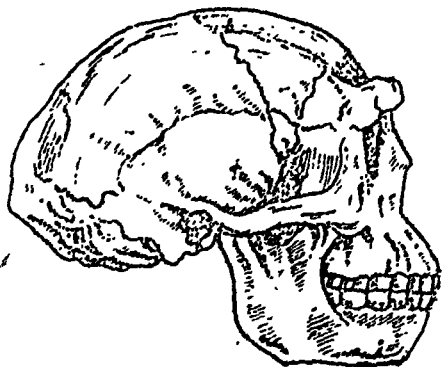
पिथेकेन्थापस पीकेनेनसस की खोपड़ी

पियेकेन्थ्रापस पेकिनेनसस को अब स्वतंत्र शाखा नहीं माना जाता ; वह पियेकेन्थ्रापस इरेक्टस का ही परिवर्तित रूप है।

जावा में प्राचीन मानव की दो अन्य शाखाएँ और मिली हैं जिनका उल्लेख आवश्यक है। वे हैं : 'होमो सोलोएंसस' तथा 'होमो वाडजाकेंसस'। इनमें की प्रथम शाखा और पियेकेन्थ्रापस शाखाओं में अनेक समानताएँ हैं, किन्तु उनके कतिपय भेद भी उल्लेखनीय हैं। वाइडनरीश, जिन्होंने इस क्षेत्र में परिश्रमपूर्वक गहन अध्ययन किया है, इस शाखा को पियेकेन्थ्रापस का एक बड़ा रूप मानते हैं, जो उनके मतानुसार एक विकसित रूप ग्रहण करने के मार्ग में था। द्वितीय शाखा, होमो वाडजाकेंसस की दो खोपड़ियाँ डु बॉय को सन् १८९१ में मिली थीं। विज्ञान-जगत् को उनका ज्ञान सन् १९२० में हुआ। आस्ट्रेलिया की आदिवासी जातियों के सिर और इन खोपड़ियों में कुछ साम्य प्रतीत होता है, और इस आधार पर कुछ विद्वानों का यह मत है कि आस्ट्रेलिया की आदिवासी जातियाँ उसी की वंशज हैं। इस शाखा के संबंध में यह कहना आवश्यक है कि इसके जो अवशेष मिले वे इतने अधिक टूटे-फूटे थे और उनके संबंध में आवश्यक सूचनाओं का प्रकाशन इतनी देर से हुआ कि आज उनके वास्तविक रूप की पुनर्रचना करना अथवा प्राप्ति-स्थान के अध्ययन से उनकी आयु निश्चित करना प्रायः असंभव हो गया है।

पश्चिम में भी प्राचीन मानव के अनेक प्रस्तरीकृत अवशेष मिले हैं। अफ्रीका और यूरोप में मिले इन अवशेषों में से कुछ ऐसे थे जिनकी स्थिति के संबंध में बड़ा मतभेद था। ससेक्स, इंग्लैण्ड, में सन् १९११-१२ में चार्ल्स डासन द्वारा खोजे हुए पिल्टडाउन अवशेष इस श्रेणी में प्रमुख थे। जिस शाखा के ये अवशेष माने जाते थे उसका नामकरण पिल्टडाउन मानव अथवा उसके आविष्कर्ता के नाम के आधार पर इओन्थ्रापस डॉसिनी (डॉसन द्वारा आविष्कृत उदयकालीन मानव) किया गया था। इन अवशेषों के संबंध में सबसे आश्चर्यजनक बात यह थी कि उनमें मिली हुई खोपड़ी प्रायः आधुनिक मानव की खोपड़ी सरीखी ही थी, किन्तु जबड़े का जो निचला हिस्सा मिला था वह एन्थ्रॉपॉयड शाखा के किसी प्रतिनिधि, विशेषकर चिंपांजी, का-सा प्रतीत होता था। इनके संबंध में स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठा कि क्या ये दोनों अवशेष एक ही प्राणी के थे। जो इन अवशेषों को उदयकालीन मानते थे उनका अनुमान था कि ये एक ही प्राणी के थे, किन्तु इस मत के समर्थन के लिए अधिक सबल प्रमाणों की आवश्यकता थी। दूसरा मत यह था कि पिल्टडाउन में मिले खोपड़ी के अवशेष मानवीय एवं अत्यंत प्राचीन हैं, इसलिए महत्त्वपूर्ण हैं। जिस भूगर्भीय स्तर पर ये अवशेष

मिले उसकी प्राचीनता अवश्य असंदिग्ध थी। इस मत के समर्थक जबड़े के अवशेषों के संबंध में मौन रहे। वाइडनरीश आदि अन्य विद्वानों का मत था कि ये सारे अवशेष भ्रामक हैं, क्योंकि उनमें अप्राकृतिक रूप से आधुनिक मानव की खोपड़ी के साथ ओरांग-उटान सदृश प्राणी के जबड़े के अंश और दाँत मिलाए गए प्रतीत होते थे। पिल्टडाउन मानव को यथार्थ मानने वाले नृतत्व-वेत्ताओं का मत था कि निएण्डर्थल मानव के साथ-ही-साथ आधुनिक मानव-जाति का विकास हो चुका था और दोनों जातियाँ एक ही समय पृथ्वी के भिन्न-भिन्न भागों में निवास करती थीं। हाल ही में रेडियो-कार्बन विधि से काल-निर्धारण की जो प्रक्रिया विकसित हुई है उसने यह निर्विवाद रूप से प्रमाणित कर दिया है कि पिल्टडाउन मानव इस युग की एक महान् वैज्ञानिक जालसाजी था। मानव के विकास के इतिहास में उसका उल्लेख अब केवल इसी रूप में होगा।

प्राचीन मानव के जो अवशेष अफ्रीका में मिले हैं वे भी संदिग्ध हैं। पश्चिमी अफ्रीका के टांग्यानिका क्षेत्र में सन् १९३५ में इस वर्ग के उल्लेखनीय अवशेष मिले। इन अवशेषों में अनेक खोपड़ियों के थोड़े-थोड़े अंश थे। इन अंशों के आधार पर पूरी खोपड़ियों का पुनर्निर्माण वाइनर्ट ने किया, और इस पुनर्निर्मित रूप से उनका संबंध पिथेकेन्थ्रापस वर्ग से स्थापित किया। खोपड़ियाँ पुनर्निर्मित रूप में मूल के समान ही हैं अथवा भिन्न, इस प्रश्न पर विद्वानों में बड़ा मतभेद है। यदि उक्त मत को हम स्वीकार कर लें तो इन खोजों को महत्त्वपूर्ण मानना आवश्यक हो जायगा, क्योंकि इनके द्वारा हमें मानवीय विकास की श्रृंखला की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी मिल जाती है। प्लाइस्टोसीन युग के ये अवशेष एक ओर तो जावा-पीकिंग मानव से संबंधित प्रतीत होते हैं, और दूसरी ओर उनमें वे प्रवृत्तियाँ भी स्पष्ट रूप से लक्षित होती हैं जो यूरोप के प्रसिद्ध निएण्डर्थल मानव में हमें अधिक विकसित रूप में दिखाई पड़ती हैं।

होमो हाइडेल बर्गेनसस शाखा के अवशेष १९०७ में मिले थे। जबड़े की हड्डियों से तो ये अवशेष विशालकाय वानरों के-से प्रतीत होते थे, परन्तु उनकी दंत-रचना स्पष्ट रूप से मानवीय दिखाई पड़ती थी। निएण्डर्थल मानव को इस शाखा का वंशज मानना चाहिए अथवा नहीं, यह समस्या अभी विवादास्पद है। जबड़े और दाँतों की रचना का अंतर तथा हड्डियों की विशालता जो हमें इन अवशेषों में देखने को मिलती है उससे सहज ही सुदूर-पूर्व के प्राचीन मानव का स्मरण हो आता है।

'होमो निएण्डर्थलेनसस' शाखा को इस मानव की निकट पूर्ववर्ती शाखा मान सकते हैं। संसार के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में इस शाखा के अनेक अवशेष मिले हैं,

जिनमें यूरोप, उत्तरी तथा दक्षिण-पूर्वी अफ्रीका, पैलेस्टाइन तथा मध्य एशिया में मिली सामग्री विशेष रूप से उल्लेखनीय एवं महत्वपूर्ण है। इन अवशेषों में अनेक मूलभूत समानताएँ हैं, जिनके कारण इन मनुष्यों को हम निएण्डर्थल मानव के नाम से संबोधित कर सकते हैं। इन अवशेषों की भिन्नताओं के आधार पर हम उन्हें अनेक उप-शाखाओं में भी विभाजित कर सकते हैं :
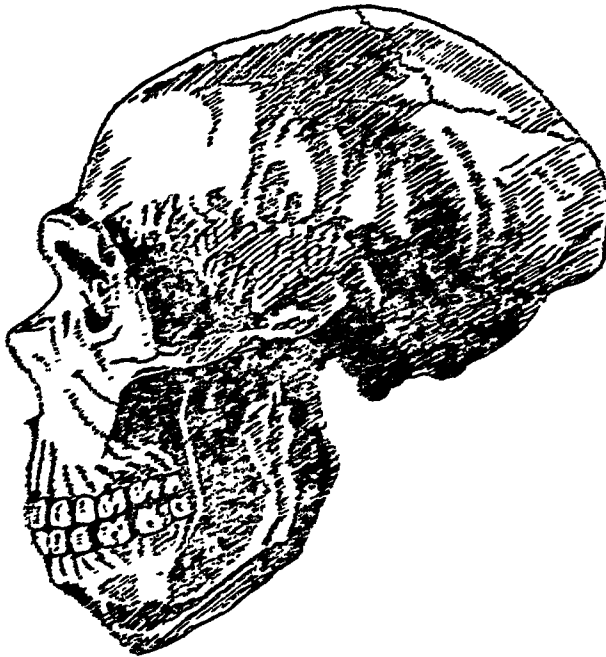
निएण्डर्थल मानव की खोपड़ी

१. रोडेशियन उपशाखा : इस शाखा के अवशेष अफ्रीका के रोडेशिया प्रान्त के ब्रोकन हिल नामक स्थान में मिले। निएण्डर्थल वर्ग के अवशेषों में यही शाखा पूर्व्यांशिक शाखा से निकटतम रूप से संबंधित प्रतीत होती है।

२. यूरोपियन उपशाखा : इस उपशाखा की खोपड़ियाँ एवं कंकाल, ला शैपल, स्पाई, निएण्डर्थल, जिब्राल्टर, क्रापिना आदि स्थानों में मिले हैं।

३. पैलेस्टाइन उपशाखा : पैलेस्टाइन के अतिरिक्त इस शाखा के अवशेष तबून, स्खूल आदि स्थानों में भी मिले हैं।

४. स्टुड उपशाखा तथा पैलि की खोपड़ी : यह उपशाखा आधुनिक मानव के अत्यंत निकट प्रतीत होती है। सन् १९५० में इस शाखा की खोज के बाद अतः यह धारणा सर्वमान्य हो गई कि निएण्डर्थल शाखा के पश्चात् आधुनिक मानव का विकास स्वतः तीव्र गति से हुआ। इन शाखाओं के संदर्भ में अल्पविकसित निएण्डर्थल शाखा की समाप्ति के सिद्धान्त को इन खोजों से बहुत धक्का पहुँचा।

ईसा-पूर्व सन् ३५०,००० से ४०,००० तक यह जाति यूरोप में प्रधान

रूप से बसीं थी। जावा-पीकिंग शाखा के निएण्डर्थल-सम मानव इसी काल में एशिया और अफ्रीका में भी बसे थे। इस शाखा की लगभग ४०,००० पीढ़ियों ने क्रमश: पृथ्वी पर वास किया, और फिर यह आश्चर्यजनक रूप से लुप्त हो गई। इस शाखा के पहले अवशेष सन् १८४८ में जिब्राल्टर में प्राप्त हुए थे। उनका वास्तविक महत्त्व बहुत बाद में स्वीकार किया गया, और इस विशिष्ट वर्ग के अवशेषों का विस्तृत विश्लेषण एवं अध्ययन सन् १९३९ में हुआ। सन् १८५६ में जर्मनी में डुसेल्डार्फ के समीप निएण्डर की गुफा में इस शाखा की प्राय: एक पूर्ण खोपड़ी मिली, जिसके अध्ययन से मानवीय विकास के इतिहास में इस शाखा की वास्तविक स्थिति के संबंध में प्रकाश पड़ा। बाह्य आकार-प्रकार में यह शाखा जावा-पीकिंग शाखा की अपेक्षा कुछ अधिक विकसित रही होगी। गुणात्मक दृष्टि से तो उसका विकास और भी अधिक उल्लेखनीय है। परिमाणात्मक दृष्टि से निएण्डर्थल शाखा का मस्तिष्क प्राय: उतना ही बड़ा था जितना कि सामान्य आधुनिक मानव का होता है, किन्तु गुणात्मक दृष्टि से कहीं कम विकसित था। निएण्डर्थल मानव के दाँत बहुत-कुछ मनुष्य के दाँतों से मिलते-जुलते थे। उसकी ठुड्डी जावा-पीकिंग मानव की भाँति छिपी हुई नहीं थी, और न आधुनिक मानव की भाँति निकली हुई थी। उसका चेहरा लम्बा और भरा हुआ तथा नाक चौड़ी थी। उसकी ऊँचाई सामान्यत: ५ फुट ३ इंच के लगभग रही होगी। वह कुछ झुककर चलता था। उसकी गरदन छोटी और मोटी थी। सामान्यत: उसका शरीर भी मोटा और गठा हुआ रहा होगा। इसी तरह उसकी भुजाएँ छोटी और वज़नदार रही होंगी। पेलेस्टाइन की पार्वतीय गुफाओं में प्राचीन मानव के जो अवशेष मिले हैं वे भी इसी शाखा के हैं। इनमें से अनेक ऐसे हैं जिनके अध्ययन से पहले यह प्रतीत हुआ था कि निएण्डर्थल शाखा के विकास की एक स्थिति में नव-मानव की शारीरिक विशेषताएँ आने लगी थीं। माउण्ट कॉर्मेल में जो अवशेष मिले हैं, और जो आज 'शुल रेस' के रूप में विख्यात हैं, निश्चित रूप से निएण्डर्थल शाखा के हैं, किन्तु उनमें भी प्रगति की दिशा में विकास के चिह्न स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं। पैलेस्टाइन वर्ग के आविष्कारक-द्वय मेक्काउन और कीथ का भी यही मत है। इस संबंध में दो सिद्धांत विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सर्वप्रथम तो यह कि निएण्डर्थल शाखा की ही भिन्न-भिन्न पीढ़ियों में क्रमश: शारीरिक परिवर्तन होते गए और कालांतर में इन्हीं परिवर्तनों के फलस्वरूप नव-मानव का जन्म हुआ। दूसरा यह कि निएण्डर्थल तथा नव-मानव शाखाओं के सम्मिलन से इन विशिष्ट शाखाओं की उत्पत्ति हुई। यह मत भी अत्यंत क्रान्तिकारी है और इससे नृतत्व की पूर्व-स्वीकृत मान्यताओं में परिवर्तन करने की

आवश्यकता स्पष्ट हो जाती है। दो शाखाओं में यौन-संबंधों द्वारा इस मिश्रित उपशाखा की उत्पत्ति को यदि हम ठीक मानें तो पहले की अनेक धारणाएँ अत्यंत संदिग्ध हो जायँगी। विद्वानों का यह मत था कि निएण्डर्थल तथा नव-मानव में शारीरिक तथा मानसिक भिन्नताएँ इतनी अधिक थीं कि उनका एक-दूसरे के समीप आना असंभव था। उनके युद्ध में ही, इस मत के समर्थकों के अनुसार, निएण्डर्थल शाखा पूर्ण रूप से नष्ट होकर सदा के लिए पृथ्वी से लुप्त हो गई। अधिकांश विद्वान् अब भी इस संभावना पर विचार करना चाहेंगे कि ये दोनों शाखाएँ न केवल एक साथ बहुत समय तक पृथ्वी पर रहीं वरन् उनमें सम्पर्क हुआ और उनके सम्मिलन से संतति भी उत्पन्न हुई।

प्राचीन मानव की जिस अंतिम शाखा के प्रस्तरीकृत अवशेष हमें मिलते हैं वह है क्रो-मेगनन शाखा। क्रो-मेगनन शाखा में हमें नव-मानव के किसी पूर्वज के नहीं, स्वयं नव-मानव के ही दर्शन होते हैं। शारीरिक गुणों की प्रत्येक दृष्टि से उसे आधुनिक मानव कहा जा सकता है। वह ऊँचा था और तनकर खड़ा हो सकता था। उसके मस्तिष्क का आकार बड़ा था, और ललाट उन्नत तथा चौड़ा। उसका सिर सुडौल तथा ठुड्डी निकली हुई रही होगी। आधुनिक सौन्दर्य की दृष्टि से भी संभवतः वह अत्यंत आकर्षक माना गया होगा। एकाएक यह नई जाति यूरोप में कैसे आ गई, इस संबंध में तीन मत हैं :

१. निएण्डर्थल शाखा में ही क्रमश परिवर्तन होते गए और अन्त में यह क्रो-मेगनन शाखा प्रस्फुटित हुई।

२. लंदन-पिल्टडाउन शाखा के क्रमिक विकास से यह शाखा पृथ्वी पर आई।

३. यह शाखा यूरोप के बाहर के किसी क्षेत्र से आकर यूरोप-भर में फैल गई। यहाँ उसकी निएण्डर्थल शाखा से प्रतियोगिता हुई, जिसमें वह विजयी हुई और दूसरी शाखा नष्ट हो गई।

मानवीय विकास के अध्ययन की वर्तमान स्थिति में उपर्युक्त मतों में से पहले और तीसरे मत पर विचार करना आवश्यक है। पिल्टडाउन मानव के अप्रामाणिक सिद्ध हो जाने पर दूसरी धारणा विचार योग्य नहीं रही। यह अनुमान कि निएण्डर्थल शाखा के विकास से नव-मानव का जन्म हुआ, अब मान्य नहीं है। फाँटे शिवादे में जो अवशेष मिले हैं वे इस अनुमान को असत्य प्रमाणित करते हैं। इन अवशेषों में प्रगतिशील निएण्डर्थल शाखा के अवशेष जिस भू-गर्भीय स्तर पर मिले हैं, वह पुरातन निएण्डर्थल शाखा के स्तर की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। इस तरह हम यह तो मान सकते हैं कि निएण्डर्थल मानव की ये दो शाखाएँ एक साथ रही होंगी, परन्तु यह मानना कठिन है कि उनमें से किसी

एक ने मानव को जन्म दिया होगा। क्रो-मेगनन युग प्राय: ई० पू० सन् १५,००० में समाप्त हो गया। आधुनिक कॉकेसॉयड प्रजाति संभवत: इस शाखा से उत्पन्न हुई है। इस काल में नई शाखाओं का आना प्रारम्भ हुआ। अब तक की सब खोपड़ियाँ लम्बी थीं। इस काल के अवशेषों में गोल खोपड़ियाँ भी मिलने लगती हैं। इनमें अधिकांश स्त्रियों और बच्चों की प्रतीत होती हैं, जिनके मुण्ड संभवत: किसी अनुष्ठान के अवसर पर बलि किये गए थे। भूमध्यसागरीय और अल्पाइन जातियों की उत्पत्ति संभवत: इस शाखा से हुई होगी। नार्डिक समूह यूरोप में इनके भी बाद आया।

अमरीका में ऑलिगोसीन युग के लीमर और बन्दरों के अवशेष मिलते हैं, किन्तु वहाँ ड्रॉयोपिथेकस का विकास नहीं हुआ, जिसके कारण दीर्घ काल तक वहाँ मानव का सर्वथा अभाव था। यूरोप से साइबेरिया को पार करके बेरिंग-स्ट्रेट्स के रास्ते सबसे पहले मानव उत्तरी अमरीका में गये, जहाँ से क्रमश: मध्य और दक्षिणी अमरीका में फैल गए। संभवत: क्रो-मेगनन मानव के उत्कर्ष काल में ही एशियाई मानव के दलों ने अमरीका की ओर प्रयाण किया होगा।

विकासवाद का सिद्धान्त अब प्राय: सर्वमान्य हो गया है। डारविन के जीवन-काल में इस सिद्धान्त का जो विरोध हुआ था, वह अब सुनने में नहीं आता। मानव के विकास का जो सिद्धान्त इन पृष्ठों में उपस्थित किया गया है, उसका समर्थन अनेक तथ्यों से किया जा सकता है। शरीर-रचना की तुलनात्मक दृष्टि से मानव और जीवित वानरों में अनेक समानताएँ दिखाई पड़ती हैं। तेरहवीं पसली को छोड़कर बड़े वानरों के अस्थि-पंजरों में जितनी हड्डियाँ हैं, उतनी ही मानव के शरीर में। हड्डियों के स्वरूप में तो अंतर अवश्य है, किन्तु दोनों श्रेणियों में उनकी संख्या और कार्य एक-से ही हैं। जो अंतर दिखाई पड़ते हैं, उनके कारण स्पष्ट हैं। मनुष्य तनकर खड़ा होता और चलता है, अपने हाथों का विभिन्न कार्यों के लिए उपयोग करता है; उसके पैरों में अधिक स्थायित्व आ गया है, तथा उसके मस्तिष्क का आकार भी बड़ा हो गया है। इन्हीं कारणों से उसकी शरीर-रचना के स्वरूप में भी परिवर्तन हो गया है। मानव के शरीर में आज भी अनेक ऐसे अवयव तथा ग्रंथियाँ हैं, जिनकी कोई विशेष आवश्यकता मानव-शरीर को नहीं है। आधुनिक मानव के शरीर में ये निरुपयोगी अवयव उसके प्राइमेट पूर्वजों के शरीर में अत्यंत उपयोगी तथा आवश्यक थे। उस पुरातन युग के चिह्न-स्वरूप ये अवयव अब तक मानव के शरीर में अवशिष्ट हैं। इस भाँति के अनावश्यक अवयवों के कुछ उदाहरण ये हैं: शरीर पर के बाल, वर्मीफार्म ग्रंथि (जो बड़े वानरों में और बन्दरों में पचन के लिए अनावश्यक है, किन्तु मानव के लिए आवश्यक है), बुद्धि-दाँत (या

अकल दाढ़, जो अन्य प्राइमेट्स के लिए उपयोगी है, मानव के लिए व्यर्थ), अनावश्यक रूप से बड़ी आँतें तथा रीढ़ की निचली कॉक्सिक्स।

इन सबको देखकर वैल्स ने कहा है कि मानव पुरातन वस्तुओं का चलता-फिरता संग्रहालय है। भ्रूण (एम्ब्रियो) से लेकर शिशु-जन्म तक जिन-जिन स्थितियों का निर्माण होता है, मोटे ढंग से मानव के विकास में वे सभी स्थितियाँ कालान्तर में एक के बाद एक आई थीं। मानव और प्राइमेट्स में रक्त-संबंध भी असंदिग्ध रूप से देखा जा सकता है। वैल्स के शब्दों में, "एक-से पूर्वजों का रक्त आज भी मानव, उच्च बड़े वानरों तथा कुछ कम परिमाण में दोनों जगों के बंदरों की धमनियों में अभी भी दौड़ रहा है।" प्रस्तरीकृत मानव से हमें विकास की शृंखला की कतिपय महत्त्वपूर्ण खोई हुई कड़ियाँ भी मिल गई हैं। हूटन के शब्दों में, "लीमर मानव से अपने दूर के संबंध की ओर इंगित करता है, बन्दर मानव से अपने संबंध के विषय में निश्चित है; बड़े वानर वृक्षों के ऊपर से इसकी घोषणा करते हैं।"

तीन

प्रागैतिहासिक युगों में संस्कृति का विकास

पृथ्वी के गर्भ में मानवीय संस्कृति के विकास के विभिन्न स्तरों-संबंधी अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य छिपे हैं। प्राग्-इतिहास और पुरातत्त्व के अध्येता उनकी खोज करके हमारे सांस्कृतिक विकास का क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत करने के लिए प्रयत्नशील हैं। यह अध्ययन अत्यंत रुचिकर, किन्तु कष्ट एवं व्यय-साध्य होता है, तथा इसमें धैर्य एवं प्रतीक्षा की बड़ी आवश्यकता होती है। इस अध्ययन की अपनी सीमाएँ भी होती हैं, क्योंकि मानव के हाथों द्वारा निर्मित प्राचीन काल की जो वस्तुएँ हमें मिलती हैं उनके आधार पर ही हमें उसके जीवन-संबंधी मान्यताएँ स्थिर करनी पड़ती हैं। यह स्पष्ट है कि इसमें अनुमान तथा कल्पना को स्थान देना अनिवार्य होता है। मनुष्य अपने दैनिक जीवन में जिन वस्तुओं का उपयोग करता है, उनमें बहुत बड़ी संख्या ऐसी वस्तुओं की होती है जो शीघ्र ही नष्ट होने वाले पदार्थों की बनी होती हैं। इस तरह उसके दैनिक उपयोग की वस्तुओं का बहुत थोड़ा अंश हमें अपने अध्ययन के लिए उपलब्ध होता है। इससे हमारी कठिनाइयाँ बढ़ जाती हैं। इसी तरह प्राचीन मानव द्वारा छोड़ी हुई वस्तुओं के आधार पर उसके भाव और विचार-जगत्, उसके धार्मिक विश्वास एवं सामाजिक संगठन का पूर्ण चित्र उपस्थित कर सकना प्रायः असंभव होता है। इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी संसार के विभिन्न क्षेत्रों में प्रागैतिहासिक अनुसंधानों ने आशातीत प्रगति की है, और उनके आधार पर हम मानव के सांस्कृतिक विकास की एक क्रमबद्ध रूपरेखा सहज ही प्रस्तुत कर सकते हैं। नवीन वैज्ञानिक प्रक्रियाओं के विकास के कारण इन अध्ययनों के अनुमान और कल्पना के तत्त्व भी बहुत कम होते जा रहे हैं।

मानव के सांस्कृतिक विकास को उसकी संस्कृति तथा शिल्प-उद्योग आदि के विकास के आधार पर छः मुख्य भागों में विभाजित किया जा सकता है, जो निम्न हैं

संख्या	युग	काल	सांस्कृतिक विशेषताएँ, शिल्प-उद्योग
१.	उदयकालीन प्रस्तर युग (इयोलिथिक युग)	?	पत्थर के भद्दे औजारों का निर्माण। विद्वानों में अभी भी मतभेद है कि ये वस्तुएँ मानव ने स्वतः बनाई थीं अथवा प्राकृतिक कारणों से अपने-आप बन गई थीं।
२.	प्राचीन प्रस्तर युग (पेलियोलिथिक युग,)	१००,०००–१०,००० ईसा पूर्व	पाषाण के अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण आरंभ हुआ। आरंभ में भद्दे, किन्तु क्रमशः अधिक सुडौल तथा तीक्ष्ण शस्त्र। आभूषण तथा कला का प्रारंभ। मृत व्यक्ति के शव-संस्कार की विशिष्ट प्रथाएँ।
३.	नव प्रस्तर युग (नियोलिथिक युग)	१०,०००–६,००० ईसा पूर्व	अधिक तीक्ष्ण औजारों का निर्माण। प्राथमिक कृषि का आरंभ। कला-निर्माण तथा संस्कृति का अभूतपूर्व विकास।
४.	ताम्र युग	६,०००–३,००० ईसा पूर्व	मिस्र अथवा मिस्र के समीप तांबे को गलाने और ढालने का प्रारंभ।
५.	कांस्य-युग	३,०००–२,००० ईसा पूर्व	पहले मिस्र तथा बाद में मेसोपोटामिया और उत्तर-पश्चिमी भारत में मानव का कांसे पर अधिकार।

६.	लौह-युग	२,००० ईसा पूर्व से आधुनिक काल तक	शिल्प-उद्योग में नई दिशाएँ तथा उनका अभूतपूर्व विकास।

उपर्युक्त वर्गीकरण में केवल एक रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। यह वर्गीकरण न तो पूर्ण है और न अंतिम। संसार के प्रत्येक भौगोलिक क्षेत्र तथा प्रत्येक मानव-समूह के संबंध में भी यह नहीं कहा जा सकता कि वे क्रमशः इन सभी स्तरों से होते हुए अपनी वर्तमान स्थिति तक विकसित हुए हैं। निकट अतीत तथा वर्तमान युग में ऐसे मानव-समूह मिले हैं जिनकी संस्कृति प्राचीन-प्रस्तर-युग अथवा नव-प्रस्तर-युग के प्रारंभिक धरातल से अधिक विकसित नहीं हुई। दूसरी ओर संसार में एक भी ऐसी संस्कृति नहीं है जो तांबे या कांसे के स्तर से विकसित होकर लोहे के स्तर तक न आई हो।

सांस्कृतिक विकास की सूक्ष्मताओं को समझने के लिए विभिन्न युगों तथा उप-युगों की विशेषताओं का अधिक समीप से अध्ययन आवश्यक है।

उदयकालीन प्रस्तर युग. इस युग के जो अवशेष मिले हैं वे मानव-पूर्व अथवा मानव-निकट जातियों की संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस शाखा ने मायोसीन, प्लायोसीन तथा प्रारंभिक प्लाइस्टोसीन युगों में पृथ्वी पर वास किया होगा। इस युग के अस्त्र बहुत ही भद्दे ढंग से बनाये गए प्रतीत होते हैं। यह भी संभव है कि इनमें से अनेक का निर्माण मानव के हाथों से न हुआ हो।
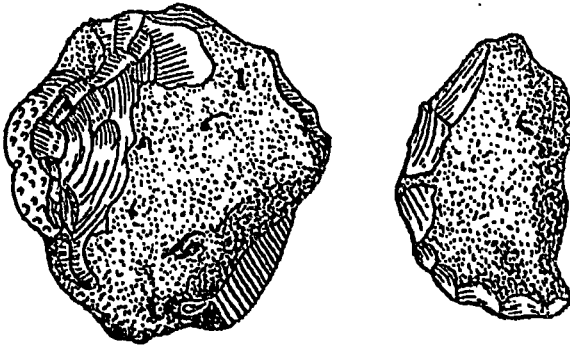
उदयकालीन प्रस्तर-उपकरण

संभव है कि वृक्षों के गिरने अथवा भागते हुए जानवरों के खुरों की चोट से वे उस विशिष्ट आकार में टूटे हों। इस तरह इस सामग्री के संबंध में अंतिम रूप से कोई निश्चयात्मक मत नहीं दिया जा सकता। अधिकांशतः इस युग में शीघ्र ही नष्ट होने वाली वस्तुओं के उपकरणों का उपयोग होता था, किन्तु पाषाण को आकार देकर उसे उपयोगी बनाने की कला से लोग परिचित होते जा रहे थे। प्रस्तर-

निर्मित उपकरणों का उपयोग आरंभिक स्थिति में ही था।

प्राचीन-प्रस्तर युग इस युग को तीन उप-युगों में विभाजित किया जा सकता है :

१. निम्न प्राचीन प्रस्तर युग
२. मध्य प्राचीन प्रस्तर युग
३. उच्च प्राचीन प्रस्तर युग

निम्न प्राचीन प्रस्तर युग के उपकरणों के अनेक नमूने इंगलैंड, फ्रांस तथा भारत और दक्षिण अफ्रीका से प्राप्त हुए हैं। इंगलैंड में 'फ्लिन्ट फ्लेक्स', फ्रांस में पत्थर की कुल्हाड़ियाँ तथा भारत और दक्षिणी अफ्रीका में कुल्हाड़ियाँ और फरसे मिले हैं। इस युग की कतिपय मुख्य सांस्कृतिक विशेषताएँ ये हैं :

१. इस युग में 'फ्लिण्ट फ्लेक्स' का उपयोग आरंभ हो गया था। काटने के औजारों के रूप में ये बहुत उपयोगी थे।

२. मानव अथवा उसके निकट-मानव पूर्वजों को अग्नि पर नियंत्रण रखना और उसका उपयोग करना भी आ गया था। स्वास्थ्य, सुख, संरक्षण तथा उष्णता के लिए यह आविष्कार अत्यंत महत्वपूर्ण था।

३. पत्थर और सीप आदि के छेद किये हुए टुकड़ों से ज्ञात होता है कि इस युग में आभूषणों का उपयोग आरंभ हो गया था, यद्यपि वे अधिक सडौल और आकर्षक नहीं थे।

४. नर-भक्षण की प्रथा-संबंधी कुछ संकेत भी हमें इस युग की सामग्री में मिलते हैं। इसके विपरीत इस युग की जीवन-शैली के संबंध में हमारा ज्ञान अत्यंत सीमित, प्रायः नहीं के बराबर, ही है।

मध्य प्राचीन प्रस्तर युग में पत्थर के काटने के औजारों के निर्माण में कई महत्वपूर्ण सुधार हुए। इनकी धार तेज करने के लिए दबाव और चोट दोनों क्रियाओं का उपयोग किया गया। इससे उनकी तीक्ष्णता बहुत अधिक बढ़ गई।

इस युग में सांस्कृतिक विकास ने

निम्न प्राचीन प्रस्तर युग की कुल्हाड़ी

अनेक नई दिशाएँ लीं :

१. अधिक उच्चकोटि के उपकरणों, वस्त्रों, निवास-स्थानों तथा नौकाओं का निर्माण आरंभ हुआ।

२. जीवन-यापन की सुविधाओं में वृद्धि हुई और मानव को प्रकृति की शीघ्र नष्ट होने वाली सामग्री का अधिक सुचारु रूप से उपयोग करने की योग्यता मिली।
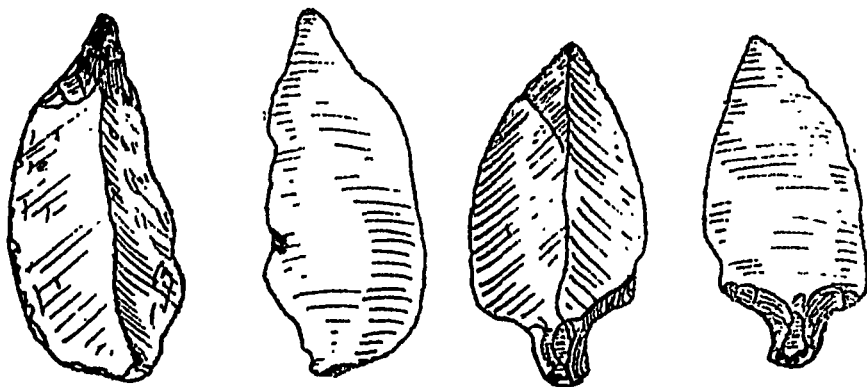
मध्य प्राचीन प्रस्तर युग के उपकरण

३. शव-संस्कार की अपेक्षाकृत विकसित प्रथाओं के जो चिह्न मिले हैं उनसे प्रतीत होता है कि अदृश्य जगत् तथा 'मृत्यु के बाद के जीवन' के संबंध में इस काल का मानव विचार करने लगा था।

४. पत्थर, हड्डियों और कच्ची धातुओं से आभूषण बनाकर मानव शरीर को अलंकृत करने लगा था।

उच्च प्राचीन प्रस्तर युग को अन्य तीन भागों में विभाजित करना आवश्यक है: 'ऑरिग्नेशियन काल,' 'सॉल्यूट्रियन काल' और 'मेगडेलेनियन काल'। ऑरिग्नेशियन काल में काटने के औजारों के निर्माण में और भी अधिक प्रगति हुई।
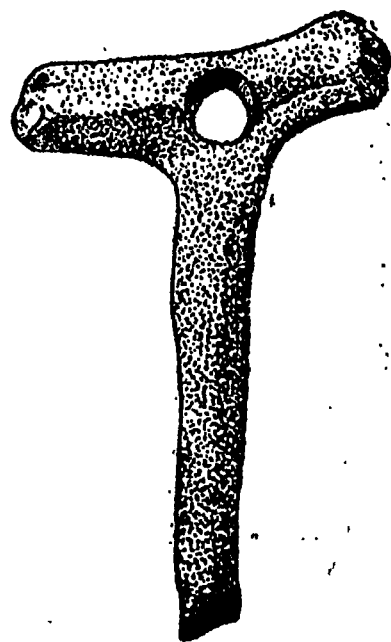
ऑरिग्नेशियन काल का तीर सीधा करने का यंत्र

इस युग में न केवल निर्माण की गति ही बढ़ी वरन् निर्मित वस्तुओं की उपयोगिता भी बहुत अधिक बढ़ गई। दबाव द्वारा फ्लेकिंग करना आरंभ हुआ। हथियारों की मूंठ, हार्पून आदि बनाने के लिए हड्डी, हाथी-दाँत आदि का उपयोग होने लगा। एक सिरे पर छिद्रित हड्डी के तीक्ष्ण टुकड़ों का उपयोग सुई की भाँति किया जाने लगा। शरीर ढकने के लिए चर्म-वस्त्रों के निर्माण की सुविधा हो गई। स्पेन के प्रागैतिहासिक क्षेत्रों से उपलब्ध सामग्री से इस धारणा को बल मिलता है कि इस युग में धनुष-बाण का उपयोग भी आरंभ हो गया था।
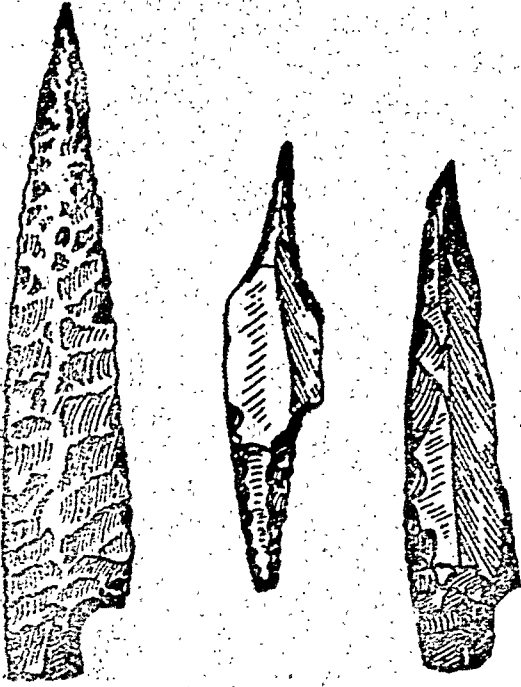
साल्यूट्रियन युग के प्रस्तर उपकरण

मानव की कलात्मक चेतना ने अपनी अभिव्यक्ति के माध्यमों को असाधारण रूप से विकसित कर लिया था। पश्चिमी यूरोप की गुफाओं में लगभग २०,००० वर्ष पुराने जो पॉलीक्रोम चित्र मिलते हैं वे उपर्युक्त कथन के प्रमाण हैं। पत्थर और हाथीदाँत की लघु प्रतिमाएँ, जिनमें नारी के नग्न रूप को अत्यंत गूढ़ एवं प्रतीकवादी ढंग से उपस्थित किया गया है, इस युग की कला की प्रौढ़ता की प्रतीक हैं।

मेगडेलेनियन काल की हड्डियों पर कला

सॉल्यूट्रियन युग में फिर निर्माण-कला में नया विकास हुआ। दबाव द्वारा फ्लेक किये गए अस्त्रों की तीक्ष्णता बढ़ गई। धनुष-बाण का उपयोग संसार के विभिन्न भागों में फैल

गया। कला में और अधिक विकास हुआ।

मेगडेलेनियन काल में पत्थर, हड्डी और हाथीदाँत के काम में और तरक्की हुई; धनुष-बाण का क्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक विकसित हो गया। चित्र-कला तथा हड्डी और हाथीदाँत पर नक्काशी की कला में भी उन्नति हुई। जंगली भेड़िया और सियार (अथवा कुत्ते के किसी अन्य पूर्वज) को मानव ने प्रायः इसी युग में पालतू बनाया। मनुष्य का सामाजिक संगठन पूर्ववत् सरल न रहकर अधिक जटिल हो गया।

संधिकालीन प्रस्तर युग : प्राचीन-प्रस्तर युग और नव-प्रस्तर युग का संधिकाल 'मेसोलिथिक' अथवा संधिकालीन प्रस्तर युग कहलाता है। इस युग में छोटे, सुडौल किन्तु असाधारण रूप से तीक्ष्ण माइक्रोलिथ्स का निर्माण आरंभ हुआ। इस युग के अवशेषों में पत्थर के रँगे हुए टुकड़े भी मिले हैं जिनके उपयोग के संबंध में अनुमानों के अतिरिक्त निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। संसार के लिए सामान्य रूप से यह युग संकलन की अर्थ-व्यवस्था का अंतिम चरण था। नव-प्रस्तर युग में कृषि का आविष्कार हुआ, जिसमें मानव की अर्थ-व्यवस्था में क्रांतिकारी तथा मूलभूत परिवर्तन हो गए।

नव-प्रस्तर युग : इस युग में पत्थर को घिसने और पॉलिश करने की क्रिया आरंभ हुई। इसके फलस्वरूप ऐसे कड़े पत्थर, जिनका उपयोग पहले नहीं हो सकता था, मनुष्य के काम में आने लगे। इनसे बने हुए औजार अधिक कठोर, उपयोगी

नव-प्रस्तर युग के उपकरण

नव-प्रस्तर युग का पात्र
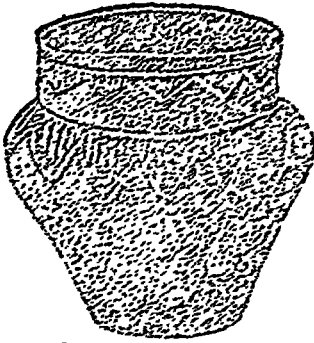
तथा स्थायी होते थे। नव-प्रस्तर युग की निर्माण-शैली आविष्कार के थोड़े ही दिनों में आश्चर्यजनक गति से तस्मानिया को छोड़कर संसार के शेष सभी भागों में फैल गई। इस तरह मानव के सांस्कृतिक जीवन में एक नई क्रांति का सूत्रपात हुआ। इन नये औज़ारों के उपयोग से बड़े और अच्छे मकान, नौकाएँ, शस्त्र आदि का निर्माण संभव हो सका। हल और चाक का आविष्कार और उपयोग भी इस युग में ही आरंभ हुआ। कुम्हार के चाक के प्राथमिक रूप से प्राथमिक वर्तनों का बनना भी संभवतः इसी युग में शुरू हुआ। कृषि, वस्त्र-निर्माण आदि के क्षेत्र में मानव ने इस युग में असंदिग्ध रूप से अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। आधुनिक वैज्ञानिक शोधों से अप्रभावित अथवा अल्प-प्रभावित देशों की कृषि-व्यवस्था आज भी नव-प्रस्तर युग की प्रणाली पर चल रही है, यद्यपि धातुओं ने अब पत्थर का स्थान ले लिया है। स्थायी गाँवों का जन्म संभवतः इसी काल में हुआ। तीक्ष्ण तथा प्रभावशाली शस्त्रों ने मानव की क्षमता में उल्लेखनीय वृद्धि की। इनके उपयोग से मानव ने अपना समय और श्रम बचाना आरंभ किया, जिनके उपयोग से उसने अपनी कला तथा धार्मिक-सामाजिक संगठन में कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये।

ताम्र युग : वैसे तो प्राचीन-प्रस्तर युग में भी यदा-कदा धातुओं का उपयोग होता था, किन्तु उस समय न तो खानों से धातु प्राप्त करने के प्रयत्न किये जाते थे और न उन्हें रासायनिक क्रियाओं द्वारा शुद्ध ही किया जाता था। ईसा के लगभग ४,००० वर्ष पूर्व कच्चे तांबे को गलाकर उसे शुद्ध रूप में प्राप्त करने का प्रयत्न मिस्र में या मिस्र के समीप किया गया। पहले पत्थर के हथौड़ों से पीटकर धातु को आकार दिया जाता था, परन्तु कुछ समय बाद ही तांबे को ढालने के लिए मिट्टी के साँचे बनाए जाने लगे। इस धातु पर मनुष्य का अधिकार होते ही नवीन शक्तिशाली तथा स्थायी शस्त्रों, और सुडौल एवं सुन्दर आभूषणों का बन सकना संभव हो गया।

कांस्य युग : ईसा के लगभग ३,००० वर्ष पूर्व मिस्र के धातु-विशेषज्ञों को तांबे और टिन को मिलाकर कांसा बनाने की क्रिया ज्ञात हो गई थी। कुछ समय बाद ही इस नई धातु का प्रचलन मेसोपोटेमिया और उत्तर-पश्चिमी भारत में भी हो गया। नौका, चाक, रथ, शस्त्र तथा आर्थिक रूप से उपयोगी अनेक उपकरणों के निर्माण में इस आविष्कार के कारण अनेक सुविधाएँ हो गईं।

लौह युग : सीरिया और मेसोपोटेमिया में कच्ची धातुओं से शुद्ध लोहा प्राप्त करना आरंभ हुआ। निकट-पूर्व में ई० पू० १४०० तक कांसे का ही अधिक प्रचलन रहा, मिस्र में ई० पू० १२०० तक; किन्तु ई० पू० ८०० तक प्राय: प्रत्येक क्षेत्र में उसके स्थान में लोहे का प्रचलन संसार की मुख्य धातु के रूप में हो गया था। सम-सामयिक मानव इसी युग की अत्यंत विकसित एवं जटिल अवस्था में है।

भारत का प्रागैतिहासिक पुरातत्त्व

अन्य देशों की तुलना में भारत में पुरातत्त्व-संबंधी गवेषणा का काम बहुत ही कम हुआ है। इस ज्ञान के विकास का इतिहास आधी शताब्दी से भी कम पुराना है। वैसे सन् १८६३ ईसवी में राबर्ट ब्रुस फूट ने एक प्राचीन-प्रस्तर-युगीन उपकरण खोज निकाला था। उपर्युक्त शोध के अतिरिक्त केवल दो ही स्थान ऐसे थे जहाँ प्रस्तर-युग के उपकरण उपलब्ध हुए थे। इनमें से एक स्थल मध्य प्रदेश में नर्मदा की घाटी में नरसिंहपुर ज़िले में है, और दूसरा दक्षिण में गोदावरी की घाटी में।

प्राग्-इतिहास-संबंधी ज्ञान की इस न्यूनता का एक कारण संभवत: इस देश की कतिपय सांस्कृतिक प्रथाएँ हैं। मृतक का दाह-संस्कार करने की परंपरा यहाँ अति प्राचीन काल से प्रचलित है, जिसके कारण हमें उन सब लाभों से वंचित रहना पड़ता है जो उन संस्कृतियों में उपलब्ध हैं जहाँ मृतक को गाड़ा जाता है। भूगर्भीय परिवर्तनों के फलस्वरूप कतिपय अंशावशेषों का क्रम और काल अव्यवस्थित-सा हो गया है। इस प्रकार अभी तक की प्रागैतिहासिक पुरातत्त्वीय शोध में हम केवल धरातली उपलब्धियों का ही समुचित उपयोग कर पाए हैं। भारत में माइक्रोलिथिक उद्योगों के प्रमाणस्वरूप उपकरण महादेव की पहाड़ियाँ, आन्ध्र प्रदेश के दक्षिण-पूर्वी भाग, मैसूर, भारत के मध्य भाग, सिंध, पंजाब और गुजरात में मिले हैं।

भारत दो विभिन्न संस्कृति-संकुलों का सम्मिलन-स्थल रहा है। पूर्व-प्रस्तर युग में इन संस्कृतियों का भौगोलिक विस्तार निम्न प्रकार से था :

१. उत्तर-पश्चिमी भारत : अफ्रीकी-पश्चिमी यूरेशियाई सह-परंपरा से संबद्ध संस्कृति-संकुल। हाथ कुल्हाड़ी—कू द पों का उपयोग।

२. पूर्वी और दक्षिणी भारत : दक्षिण-पूर्वी एशियाई सह-परंपरा से संबद्ध संस्कृति-संकुल। चॉपर और फ्लेक का उपयोग।

नव-प्रस्तर युग (निओलिथिक) में भी यही दो विभाजन चलते रहे।

उत्तर-पश्चिमी भारत में पत्थर के मेल्ट्स पाए जाते हैं। मिट्टी के बर्तनों की अधिकता असंदिग्ध रूप से पाश्चात्य संपर्क की ओर संकेत करती है। पाश्चात्य नव-प्रस्तर युग की परंपरा का कुछ विस्तार दक्षिण की ओर भी हुआ है।

दक्षिण भारत में दीर्घ पाषाणी प्रतिमाओं, कब्रों, मेनहिर, डालमेनों इत्यादि का पाया जाना मेगालिथिक परंपरा के विकास का प्रमाण है। कब्रों में मृतक के साथ धातुओं के उपकरण भी रखे जाते थे, किन्तु उनमें तांबा, कांसा, लोहा और सोना, सभी धातुओं के उपकरण एक साथ उपयोग में लाए जाने के प्रमाण मिलते हैं। दक्षिण भारत में सबसे पहले लोहे को फौलाद बनाने का काम प्रारम्भ किया गया। इस भाग में कई स्थलों में अन्य नव-प्रस्तर-युगीन वस्तुओं के साथ-ही-साथ लौह-युग के उपकरण भी पाये गए हैं। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि इन क्षेत्रों में नव-प्रस्तर युग के तुरन्त ही उपरान्त लौह-युग का आविर्भाव हो गया।

नव-प्रस्तर युग के अवशेष कई स्थलों से प्राप्त हुए हैं। उनमें से मुख्य स्थल निम्नांकित हैं :

१. मद्रास राज्य के कुछ ज़िले, जैसे बेल्लारी, अनन्तपुर, कुड्डापाह, सलेम आदि।
२. कुपगल्लू की पहाड़ी और गार्दी गानूर के निकट।
३. बड़ौदा, मैसूर और काठियावाड़ की रियासतें।
४. उत्तर-पूर्व में आसाम की पहाड़ियाँ और बंगाल।
५. उत्तरी पंजाब की सोहन घाटी।
६. ऊपरी सिन्ध।
७. बुन्देलखण्ड और राजपूताना।

अब तक नव-प्रस्तर युग की सभ्यता के लगभग ५५ केन्द्र खोजे जा चुके हैं।

सिन्धु-सभ्यता : मोहेनजोदड़ो और हड़प्पा की सभ्यता के नाम से प्रसिद्ध यह सिन्धु घाटी की सभ्यता ताम्र और कांस्य-युग से संबद्ध है। इस क्षेत्र में रेलवे लाइन के निर्माण के समय खुदाई में प्राप्त ईंटों ने यहाँ के पुरातत्त्व के संबंध में कुछ आकर्षण उत्पन्न किया। परन्तु वह उस समय अधिक पनपा नहीं। यह घटना सन् १८५६ ईसवी की है, जब जॉन और विलियम ब्रुन्टन कराची से लाहौर की रेलवे लाइन का निर्माण कर रहे थे। लाइन डालने के लिए आवश्यक पत्थरों की प्राप्ति के लिए ब्रुन्टन-बन्धु चिंतित थे। तभी उन्हें उजड़े हुए ब्राह्मणाबाद का पता चला। उन्होंने सोचा कि यदि यह नगर ढूंढ

निकाला गया तो प्राचीन काल की ईंटों का उपयोग आधुनिक काल की एक समस्या को हल करने में सहायक हो सकता है। इसी शोध में हड़प्पा का भी उन्हें पता चल गया और उन्होंने दोनों स्थानों के अवशेषों का बुरी प्रकार से उपयोग किया।

हड़प्पा का महत्त्व उस समय तक स्पष्ट नहीं हुआ था जब तक कि १९२२ में राखालदास बैनर्जी ने मोहेनजोदड़ो का पता नहीं लगा लिया। मोहेनजोदड़ो हड़प्पा से ४०० मील की दूरी पर स्थित है। सेइस और लेंग्डन के मतानुसार इन नगरों की सभ्यता मेसोपोटेमिया-सभ्यता के समकक्ष रखी जा सकती है। इस सभ्यता का कालक्रम ईसा से ३३०० वर्ष पूर्व से प्रारम्भ होकर ईसा से २५०० वर्ष पूर्व तक है। अभी तक इस सभ्यता के संपूर्ण विस्तृत क्षेत्र की शोध संभव नहीं हो सकी है, क्योंकि इसके कई भाग जलमग्न हो चुके हैं। गॉर्डन चाइल्ड के अनुसार उसका क्षेत्रफल मेसोपोटेमिया (सुमेरो-बेबीलोनियन) और मिस्र सभ्यता के क्षेत्रफल से कहीं अधिक है।

सिन्धु सभ्यता : नर्तकी

सिन्धु सभ्यता के अन्य केन्द्र निम्नांकित हैं :

१. चन्हूदड़ो, २. अमरी, ३. अली मुराद, ४. नाल, ५. काठियावाड़ की लिमड़ी रियासत में रंगपुर, ६. हड़प्पा से २२० मील दूर कोटला निहांग, और ७. बलूचिस्तान और साईस्तान।
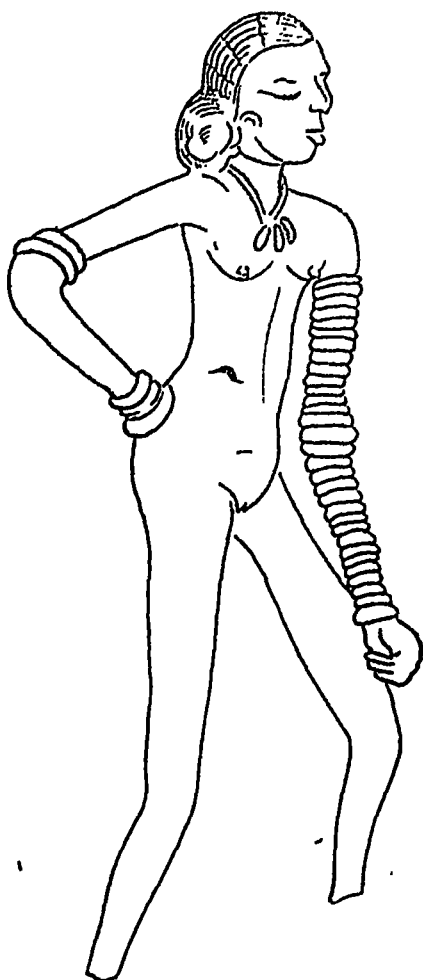
इस प्रकार मोहेनजोदड़ो और हड़प्पा में प्राप्त संस्कृति-अवशेष एक वृहत् सभ्यता के अंश-मात्र हैं। इस सभ्यता की विभिन्न स्थितियों का कालक्रम, उसके भौगोलिक विस्तार और सांस्कृतिक वैशिष्ट्य का पर्याप्त अध्ययन हुआ

है। कतिपय अध्येताओं ने इस बृहत् सभ्यता को पाँच भागों में विभाजित किया है। वे ये हैं:

१. अमरी संस्कृति।
२. हड़प्पा संस्कृति।
३. नाल-कुल्ली संस्कृति।
४. झुकर-झांगर जो बड़ी संस्कृति।
५. झांगर संस्कृति।

उपर्युक्त विभाजन को 'प्रिहिस्टॉरिक इंडिया' के लेखक स्टुअर्ट पिगॉट ने संशोधित किया है। उनके अनुसार इस बृहत् सभ्यता को इन भागों में बाँटा जा सकता है:

१. क्वेटा संस्कृति—पूर्व अमरी क्रम।
२. अमरी—प्रारम्भिक क्रम।
नुन्दारा—मध्य क्रम।
नाल—अन्तिम क्रम।
३. कुल्ली मेही क्रम।

सिन्धु सभ्यता : एक सरदार

पिगॉट, व्हीलर और मैके के अनुसार झुकर संस्कृति को आर्य सभ्यता के साथ रखा जा सकता है।

सिन्धु घाटी की सभ्यता दक्षिण-पश्चिमी एशियाई संसर्ग की सूचना देती
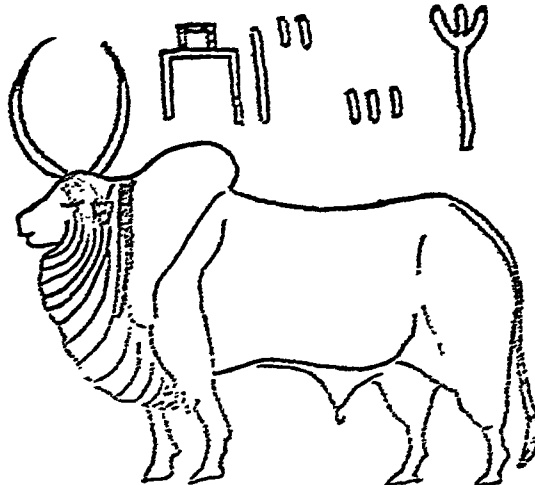
सिन्धु सभ्यता : चित्रित साँड

है। इस युग में गेहूँ और जौ का उपयोग होता था। ढोरों के चिह्न कृषि और दुग्धशालाओं के पाए जाने की सम्भावना व्यक्त करते हैं। इस युग में पहिये और चरखे का उपयोग होता था, यद्यपि हल के कोई चिह्न नहीं मिले हैं। इसी क्षेत्र से कांसे का एक चिह्नांकित स्केल और कांसे के निश्चित तौल भी प्राप्त हुए हैं। मुद्राओं पर अंकित कुछ शब्द एक मान्य लिपि के विकास का परिचय देते हैं। चाक-निर्मित और अच्छे पके हुए मिट्टी के बर्तन भी प्रचुर मात्रा में प्राप्त हुए हैं। किन्तु इस सभ्यता के शिल्प के संबंध में हमारा ज्ञान बहुत कम है। यह सम्भव है कि इस युग की अधिकांश वस्तुएँ काष्ठ-निर्मित होने के कारण अधिक स्थायी न रह पाई हों। नारी को नग्न (यद्यपि भूषण-भूषित), अडौल और भौंडी आकृतियों का प्राचुर्य प्रजनन-सम्बन्धी देवी की आराधना का प्रमाण हो सकता है। पुरातत्त्व के विद्वान् इस बात से आश्चर्यान्वित हैं कि इस सभ्यता में देवालय और प्रासादों का सर्वत्र अभाव है। प्रासादों की अप्राप्ति का एक कारण संभवतः यह भी है कि राजधानी के नगर की खोज अभी भी बाकी है। देवालयों का अभाव शायद इसलिए हो कि उस समय अरण्य-साधना और वानप्रस्थ का अधिक प्रचार एवं महत्त्व रहा हो।

कुछ भौतिक, भौगोलिक और भू-गर्भीय कारणों से इस सभ्यता का क्रीड़ा-स्थल मानव-निवास के अनुकूल न रहा। कुछ मृतक अवशेषों की अस्थि-परीक्षा से यह पता चलता है कि उनमें से कई की आक्रमण द्वारा हत्या हुई है। कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि यह आक्रमण संभवतः आर्य लोगों का रहा हो, जिन्होंने कालान्तर में संपूर्ण भारत पर आधिपत्य कर लिया था। यह भी संभव है कि बाढ़ें इस संस्कृति के नाश का कारण रही हों।

भारतीय प्राग्-इतिहास के इस संक्षिप्त प्रारूप से यह स्पष्ट है कि अभी इस दिशा में हमारा ज्ञान अत्यंत सीमित है। पुरातत्त्व की शोध के कई क्षेत्र अभी अछूते पड़े हैं, यद्यपि यह सत्य है कि वर्तमान की उपलब्धियों ने भविष्य की संभावनाओं को काफी प्रभावित किया है। इसी प्रकार मानव-पूर्वजों के शोध-सम्बन्धी यत्नों में भी भारतीय प्राग्-इतिहास का स्थान महत्त्वपूर्ण है। फाल्कॉनर और कॉटली की १८६३ में हुई शिवापिथेकस के प्रस्तरीकृत अवशेष की शोध ने कई नई संभावनाओं को जन्म दिया है। इसी जाति के अन्य प्राणियों का जावा में भी पाया जाना इस संभावना को और भी प्रबल करता है।

चार

प्रजाति : सत्य और भ्रान्तियाँ

रंग, रूप, आकार तथा अन्य शारीरिक विशेषताओं के आधार पर मानव-जाति को अनेक समूहों में विभाजित किया जा सकता है। इन समूहों को हम प्रजाति अथवा रेस कहते हैं। दुर्भाग्यवश इस प्राणी-शास्त्रीय शब्द का राजनीतिक वादविवादों तथा सामाजिक-सांस्कृतिक अंधविश्वासों एवं संघर्षों में इतने भिन्न अर्थों में उपयोग हुआ है कि नृतत्व के वैज्ञानिक अध्ययन में उसके वास्तविक अर्थ का निरूपण अत्यंत आवश्यक हो जाता है। विशिष्ट जातियों, राष्ट्रों अथवा समूहों की योग्यता प्रमाणित करने के लिए अनेक तथाकथित—विज्ञान-वेत्ताओं ने कतिपय प्रजातियों को नैसर्गिक रूप से अधिक योग्यता-सम्पन्न होने का तर्क उपस्थित किया। इस वितण्डावाद का उत्तर जिन नृतत्व-वेत्ताओं तथा प्राणी-शास्त्र के अध्येताओं ने दिया, वे दूसरी ही दिशा में औचित्य की सीमाओं का उल्लंघन कर गए। उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि कतिपय बाह्य अन्तरों के अतिरिक्त मानव की भिन्न-भिन्न प्रजातियों में कोई अन्तर ही नहीं होता। इस संबंध में नृतत्व की नवीनतम स्थिति यह है कि प्राणी-शास्त्रीय दृष्टि से प्रजातियों में अन्तर अवश्य होते हैं, किन्तु उन पर सामाजिक और सांस्कृतिक वातावरण का बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ता है, और ये अन्तर इतने प्रभावशाली नहीं होते कि केवल उनके आधार पर ही किसी जाति को अत्यन्त उच्च धरातल की अथवा निम्न धरातल की माना जा सके।

प्रजाति क्या है? वैज्ञानिक परिभाषा के अनुसार हम प्रजाति उस समूह को कहेंगे जिसमें प्राणी-शास्त्रीय दृष्टि से समूह के अन्तर्गत दीर्घ काल से विवाह-संबंध होने के कारण कतिपय शारीरिक विशेषताएँ आ गई हों, जो प्रजनन द्वारा नियमित रूप से एक के बाद दूसरी पीढ़ी में क्रमशः जाती हों। दूसरे शब्दों में,

प्रजाति हम मानव-जाति के उस विभाजन को कह सकते हैं जिसकी अपनी निजी शारीरिक विशेषताएँ होती हैं और जो एक के बाद एक हर पीढ़ी में प्रायः उसी रूप में स्थिर बनी रहती हैं। इस तरह इस व्याख्या में तीन मुख्य तथ्य निहित हैं :

१. सीमित समूह में विवाह, यौन-संबंध तथा संतानोत्पत्ति।

भौगोलिक असंबद्धता अथवा सामाजिक धरातल पर किसी समुदाय के केवल विशिष्ट समूहों से ही वैवाहिक संबंध रखने के कारण यह संभव होता है।

२. विशिष्ट शारीरिक विशेषताएँ।

भौगोलिक दृष्टि से एक-दूसरे से भिन्न मानव-समूहों में प्रत्येक समूह के विभिन्न व्यक्तियों की शारीरिक बनावट, मुखाकृति आदि में अन्तर तो अवश्य होते हैं, किन्तु प्रायः उस समूह के प्रजाति-संबंधी एक 'सामान्य' अथवा 'आदर्श' व्यक्तित्व की हम कल्पना अवश्य कर सकते हैं और उक्त समाज के अधिकांश व्यक्ति अपने बाह्य रूप में प्रायः इस कल्पित चित्र के आस-पास ही रहते हैं।

३. संतति में प्रजनन द्वारा प्राप्त शारीरिक विशेषताएँ।

यह तो नहीं कहा जा सकता कि संसार में कोई प्रजाति संपूर्णतः शुद्ध है, किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि विशिष्ट समूहों की अपनी निजी शारीरिक विशेषताएँ होती हैं। यदि उन समूहों के भीतर ही विवाह-संबंध होते रहें तो संतति में थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ समूह की प्रायः सभी शारीरिक विशेषताएँ बनी रहेंगी।

प्रजातियों का वर्गीकरण करने के लिए शारीरिक नृतत्व ने कुछ सिद्धान्त स्थिर किये हैं, जिनके अनुसार व्यक्तियों के विशिष्ट अंगों की विभिन्न प्रणालियों से परीक्षा और नाप-जोखकर उनका वर्गीकरण किया जाता है। शारीरिक नृतत्व-वेत्ता निम्नलिखित तथ्यों का संकलन अवश्य करते हैं :

१. ऊँचाई—खड़े हुए और बैठे हुए।

२. सिर का आकार।

३. मस्तिष्क का आकार और उसकी रचना।

४. आँखों का रंग।

५. त्वचा का रंग।

६. केश-रचना।

७. शरीर पर केश-वितरण।

८. आँख में 'ऐपीकेन्थिक फोल्ड' (उदाहरणार्थ मंगोल अथवा बुशमेन जाति के व्यक्तियों की आँखों में एक ओर विशेष प्रकार का खिचाव रहता है।)

९. शरीर-रचना का प्रकार (उदाहरणार्थ, कुछ समूहों में व्यक्ति ऊँचे और दुबले होते हैं, अन्य में नाटे और मोटे ।)

१०. शरीर की गंध ।

११. रक्त-समूह (अभी तक चार मुख्य रक्त-समूह माने जाते थे: ए, बी, एबी और ओ। अब कतिपय नये रक्त-वर्ग भी मिले हैं। एम-एन और आर-एच प्रणाली से भी रक्त का वर्गीकरण किया जाने लगा है।)

किसी मानव-समूह को एक या दूसरे प्रजाति-समूह में रखने के लिए इनमें से अधिकांश तथ्यों पर संतुलित रूप से एक साथ विचार करना आवश्यक होता है।

मानव-जाति को तीन मुख्य प्रजातीय समूहों में विभाजित किया जा सकता है: कॉकेसॉयड, मंगोलॉयड और नीग्रॉयड।

कॉकेसॉयड मंगोलॉयड

मानव की उपर्युक्त तीनों प्रजातियों को कतिपय उपशाखाओं में विभाजित किया जा सकता है। अन्य समूहों से भौगोलिक रूप से असंबद्ध रहने के कारण कालान्तर में ये समूह प्रजाति की दृष्टि से प्रायः स्वतंत्र दिखाई पड़ने लगे हैं। इस तरह के विश्लेषण के आधार पर हम मानव-जाति को ग्यारह समूहों में विभाजित कर सकते हैं।

१. मंगोलॉयड ।

२. कॉकेसॉयड ।

नीग्रॉयड

३. अफ्रीकी नीग्रॉयड।
४. मेलानेशियन।
५. माइक्रोनेशियन-पॉलीनेशियन।
६. मध्य-अफ्रीकी पिग्मी।
७. सुदूर-पूर्व के पिग्मी।
८. ग्रास्ट्रेलॉयड।
९. बुशमेन-हॉटेनटॉट।
१०. ऐनू।
११. वेड्डायड।

मानव का आधुनिक प्रजातियों में मंगोलॉयड प्रजाति जनसंख्या की दृष्टि से सबसे बड़ी है। आँख में 'भीतरी ऐपीकेन्थिक फोल्ड' इस प्रजाति की प्रमुख विशेषता है। साधारण शब्दों में कहा जा सकता है कि उनकी आँखें कुछ तिरछी-सी होती हैं। इस शाखा के शिशुओं की अपनी एक विशेषता होती है। रीढ़ के निचले भाग में त्वचा पर एक त्रिकोणाकार क्षेत्र होता है जिसका रंग हलकी ललाई लिये हुए कुछ नीला-सा होता है। शरीर का रंग पीला-सा या ताम्र-गेहुँआ-सा होता है। आँखों का रंग भी बादामी या गहरा बादामी होता है। बाल काले होते हैं। इस जाति के बाल रूखे और सीधे होते हैं। सिर पर वे काफी घने रहते हैं,और शरीर के शेष भागों में, विशेषकर मुँह पर उनका वितरण अत्यंत न्यून होता है। शरीर-रचना में वे सामान्यतः नाटे कद के, छोटे और कुछ मोटे होते हैं, विशेषकर उनके पैर छोटे होते हैं। यह शाखा मुख्यतः उत्तर, मध्य तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया में वास करती है। अमरीका के इंडियन लोगों को भी मूलतः इसी शाखा का मानना चाहिए, किन्तु थोड़े-से कॉकेसॉयड तथा नीग्रॉयड तत्त्व भी इन समूहों में मिलते हैं। इसी तरह 'मलाया-हिन्द-एशिया' शाखा के व्यक्तियों में मंगोल तत्त्वों की प्रधानता रहती है, किन्तु उनमें थोड़े परिमाण में भूमध्यसागरीय कॉकेशियन गुण भी मिलते हैं। हिन्द-एशिया-वासी समूहों में भूमध्यसागरीय तत्त्व अधिक हैं और यह सम्भव है कि वे दक्षिण भारत से अपने द्वीप में पहुँचे हों। मलायावासियों ने तुलनात्मक दृष्टि से आधुनिक काल में मंगोल जातीय तत्त्वों को उत्तरोत्तर अधिक परिमाण में अपनाया है।

कॉकेसॉयड-वर्ग में वे प्रजातियाँ आती हैं जिन्हें सामान्यतः गोरी या सफेद प्रजाति कहा जाता है। वस्तुतः उन्हें सफेद प्रजाति कहना उचित नहीं है, क्योंकि उनका रंग सफेद नहीं होता। यह अवश्य है कि उनका रंग संसार की दूसरी प्रजातियों की अपेक्षा अधिक हलका होता है। कॉकेसॉयड शाखा के लोगों की आँखों का रंग हलके नीले से लेकर गहरा बादामी तक होता है। बालों का रंग राख की-सी सफेदी लिये हुए से काला तक होता है, और वे सीधे, लहरदार अथवा घुँघराले तक होते हैं। वे ऊन-जैसे या 'किंकी' नहीं होते। पुरुषों के सिर के अतिरिक्त वक्ष, हाथ, पैर और मुँह पर भी केश होते हैं। नाक बहुधा सँकरी और ऊँची होती है। इस जाति में चौड़ी और चपटी नाक अधिक देखने में नहीं आती। शरीर की ऊँचाई मध्यम से पर्याप्त रूप से ऊँची तक इस शाखा में देखी जाती है। इस शाखा के तीन उप-भाग उल्लेखनीय हैं: अल्पाइन, भू-मध्यसागरीय और नॉर्डिक। अल्पाइन और भूमध्यसागरीय शाखाओं में नॉर्डिक शाखा की-सी सफेदी नहीं होती। अल्पाइन शाखा के लोग सामान्यतः भारी होते हैं, भूमध्यसागरीय अपेक्षाकृत हलके। अल्पाइन शाखा में ऊँचाई सामान्य से शायद ही कभी अधिक होती हो। उनके मुँह और वक्ष पर पर्याप्त केश उगते हैं। भूमध्यसागरीय शाखा के बारे में ऊपर कहा ही जा चुका है कि वे वजन में अल्पाइन शाखा की अपेक्षा हलके होते हैं। इस समूह की प्रवृत्ति शैशव और यौवन में हलके और वयस्क होने पर मोटे और भारी होने की रहती है। बाल काले और लहरदार, कभी-कभी सीधे होते हैं। केश सिर में विपुल, तथा चेहरे और शरीर के अन्य भागों पर बहुत कम होते हैं। आँखें बादामी होती हैं, शरीर का रंग हलका बादामी या फीका जैतूनी होता है। नॉर्डिक शाखा के त्वचा के रंग और बालों के रंग, दोनों में रंग की अतिशय कमी तथा इसके परिणाम-स्वरूप सफेदी कुछ अधिक दिखाई पड़ती है। आँखें नीली या भूरी होती हैं। नाक सँकरी और ऊँची होती है तथा चेहरे में जबड़े और ठुड्डी प्रमुख रूप से दिखाई पड़ते हैं। सिर और शरीर के अन्य भागों में केश प्रायः कम ही होते हैं, और युवावस्था के द्वितीय चरण में ही बहुतों के सिर के बालों का गिरना शुरू हो जाता है। नॉर्डिक लोगों के संबंध में यह कहा जा सकता है कि वे शरीर-रचना की दृष्टि से ऊँचे और दुबले होते हैं।

संसार के अन्य सभी मानव-समूहों की अपेक्षा नीग्रो लोगों का रंग अधिक काला होता है, यद्यपि यह कहना उचित न होगा कि वे काले होते हैं, क्योंकि उनमें से अनेक का रंग गाढ़ा बादामी या बादामी काला होता है। उनके बाल रूखे, ऊनी और कड़े घुँघराले होते हैं। उनकी नाक चौड़ी होती है और उसकी

जड़ दबी हुई रहती है। उनके सिर सामान्यतः लम्बे और संकरे होते हैं, और होठ निकले हुए और लटकते-से होते हैं। सिर के बाल घने पर छोटे होते हैं। पुरुषों की दाढ़ी-मूँछों में थोड़े ही बाल होते हैं, शेष शरीर पर और भी कम। उनकी दो अन्य शारीरिक विशेषताएँ हैं : हाथों की कुहनी से आगे के भाग का काफी लम्बा होना और पैरों का लम्बा और पतला होना। सहारा के दक्षिण में अफ्रीका का जो भू-भाग है मूलतः उसमें यह प्रजाति रहती थी, किन्तु वहाँ से जाकर यूरोप और अमरीका में भी इनकी बहुत बड़ी संख्या बस गई है। पूर्वी अफ्रीका के नाइलोटिक नीग्रो अपनी एक दूसरी ही विशेषता के कारण प्रसिद्ध हैं। इनके शरीर दुबले और बहुत ऊँचे होते हैं। पुरुषों की औसत ऊँचाई छः फुट से भी अधिक होती है। इस 'अफ्रीकी नीग्रो' समूह से भिन्न विशाल नीग्रो परिवार की दूसरी मुख्य शाखा है 'ओशियेनिक नीग्रो' समूह। ये दक्षिणी सागरों के द्वीपों, विशेषकर सॉलोमन, न्यू हेब्रिडीज़, न्यू केलेडोनिया तथा न्यू गिनी में वास करते हैं। इनकी शारीरिक विशेषताएँ प्रायः अफ्रीकी नीग्रो शाखा के समान ही होती हैं। उनके केश कुंचित अथवा 'फ़िज़ली' होते हैं। चेहरे में नाक प्रधान होती है जो अपनी जड़ के स्थान पर बहुत नीची होती है। अफ्रीकी नीग्रो समूह की अपेक्षा उनके होंठ पतले होते हैं। अफ्रीकी नीग्रो समूहों की भाँति उनके होठ बाहर की ओर निकलकर बहुत अधिक लटके हुए भी नहीं होते।

नीग्रो प्रजाति परिवार का तीसरा मुख्य उपवर्ग है 'नीग्रिटो' या पिग्मी शाखा। छोटे कद के ये नीग्रो-वंशीय मानव संसार के अनेक क्षेत्रों में बिखरे हैं। अफ्रीका के कांगो क्षेत्र के वनों में ये अनेक छोटे-छोटे समूहों में वास करते हैं। न्यू गिनी, फिलिपीन्स, मलाया तथा अंदमान में भी इसी शाखा के वासी मिलते हैं। जैसा कि उनके 'पिग्मी' नाम से ही स्पष्ट है, वे बौने और नाटे कद के होते हैं। उनकी औसत ऊँचाई चार फुट नौ इंच के लगभग होती है। उनका माथा विशेष रूप से निकला हुआ दिखाई देता है। केश 'स्पाइरल' ढंग के होते हैं जो सिर को अपने अत्यंत घने होने के कारण पूरी तरह ढक लेते हैं। इन समूहों की त्वचा के रंग में काफी अन्तर दिखाई पड़ता है। एक ओर यदि कुछ व्यक्तियों का रंग काला-सा होता है तो दूसरी ओर कुछ का ललाई लिये हुए बादामी-सा। इन दोनों सीमाओं के अन्तर्गत आ सकने वाले सभी रंगों की झलक हमें इस शाखा में देखने को मिल सकती है। उनकी नाक बहुत चौड़ी और चपटी होती है। अपने इसी छोटे आकार प्रकार के कारण वे 'नीग्रिटो' अथवा 'लघु नीग्रो' के नाम से संबोधित किये जाते हैं। अपनी शारीरिक विशेषताओं में ये पिग्मी नीग्रिटो अन्य नीग्रो लोगों से इतने अधिक भिन्न हैं कि संसार की मूल तीन

प्रजातियों का अधिक विस्तृत वर्गीकरण कर उन्हें जिन ग्यारह भागों में विभाजित किया गया है उनमें मध्य-अफ्रीकी पिग्मी और सुदूर-पूर्व के पिग्मी इन दोनों शाखाओं को दो स्वतंत्र स्थान दिये गए हैं।

मेलानेशियन लोगों में आस्ट्रेलॉयड और नीग्रॉयड तत्त्वों का समावेश दिखाई पड़ता है। अपेक्षाकृत आधुनिक काल में हिन्द-एशिया के लोग भी इसी क्षेत्र में बड़ी संख्या में आये हैं और उनके यहाँ के आदिवासियों में घुल-मिल जाने से एक मिश्रित-सी प्रजाति उत्पन्न हो गई है जिसकी अपनी कतिपय स्वतंत्र शारीरिक विशेषताएँ हैं। उनका रंग सामान्यतः गहरे जैतूनी से हलका बादामी तक होता है। उनकी ऊँचाई के बारे में यह कहा जा सकता है कि कद में वे ठिगने से लेकर साधारण ऊँचाई तक के होते हैं। उनका माथा गोलाई लिये हुए होता है और भौंहों की हड्डियाँ प्रमुख रूप से दिखाई पड़ती हैं। उनकी नाक चौड़ी होती है।

माइक्रोनेशियन-पॉलीनेशियन समूहों में भी प्रजातीय मिश्रण बहुत अधिक परिमाण में हुआ है। वे मुख्यतः भूमध्यसागरीय कॉकेसॉयड हैं, और यह अनुमान किया जाता है कि यह तत्त्व वहाँ सम्भवतः दक्षिण भारत से पहुँचा। साथ ही उनमें ओशियेनिक नीग्रो और एशियाई मंगोलों के तत्त्व भी भली प्रकार घुल-मिल गए हैं। भूमध्यसागरीय प्रजातीय तत्त्वों के कारण उनके केश लहरदार हो गए हैं, शरीर का रंग कुछ हलका हो गया है, और नाक कुछ ऊँची हो गई है। मंगोल लोगों की तरह उनका सिर गोलाई लिये हुए होता है। सिर पर बाल पर्याप्त परिमाण में निकलते हैं, किन्तु शेष शरीर और चेहरे पर नहीं।

आस्ट्रेलॉयड वर्ग का प्रजातीय दृष्टि से स्वतंत्र अस्तित्व मानना चाहिए, यद्यपि उनमें भी अल्प परिमाण में नीग्रो और प्राचीन-कॉकेसॉयड तत्त्व दिखाई पड़ते हैं। उनके केश काले और लहरदार या घुँघराले होते हैं। शरीर का रंग गाढ़ा चाकलेट-बादामी होता है। ऊँचाई सामान्य और शरीर की गठन कृश होती है। उनका सिर लम्बा होता है, भौंहों की हड्डियाँ प्रमुख रूप से दिखाई पड़ती हैं, और माथा वहाँ से ऊपर की ओर क्रमशः नीचा होता जाता है। उनका मुँह कुछ निकला हुआ-सा रहता है और नाक चौड़ी होती है।

दक्षिण अफ्रीका के बुशमेन-हॉटेनटॉट समूहों में नीग्रो और मंगोलॉयड, इन दो प्रजातीय तत्त्वों का समावेश दिखाई पड़ता है। आकार-प्रकार की दृष्टि से वे लघु-नीग्रो श्रेणी में रखे जा सकते हैं, परन्तु उनकी त्वचा का रंग मंगोलॉयड प्रजाति का-सा होता है। साथ ही उनमें उक्त प्रजाति की एक

अन्य विशेषता और भी होती है—आँख में 'ऐपीकेन्थिक फोल्ड'। इस प्रजाति सम्मिलन की समस्या पर इतिहास से तो किसी प्रकार हमारा ज्ञानवर्द्धन नहीं होता, किन्तु शारीरिक विशेषताओं के आधार पर यह निश्चयात्मक ढंग से कहा जा सकता है कि बुशमेन-हॉटेनटॉट प्रजाति की उत्पत्ति नीग्रो और मंगोलॉयड प्रजातियों के मिश्रण से ही हुई है। उन्नत-नितंबता इस प्रजाति की अपनी स्वतंत्र विशेषता है।
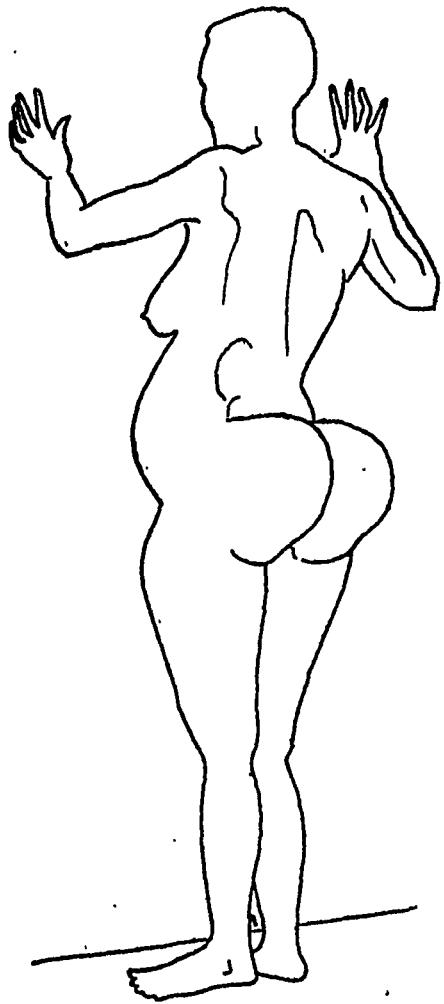
उन्नत नितम्बता का उदाहरण

जापान द्वीप-समूह के उत्तरी भाग में 'ऐनू' समूह बसता है जो मंगोलॉयड जापानियों से अनेक दृष्टियों से भिन्न प्रतीत होता है। इस समूह में त्वचा का रंग पीला न होकर बहुत-कुछ सफेद-सा होता है। शरीर, चेहरे, और सिर पर घने बाल होते हैं। भौंहों की हड्डियाँ आस्ट्रेलॉयड लोगों के समान भारी होती हैं। उनकी नाकें भी आस्ट्रेलियावासियों की-सी दिखाई पड़ती हैं। शरीर रचना की दृष्टि से वे कद में कम ऊँचे और कुछ मोटे कहे जा सकते हैं। जापानियों के सम्पर्क से उनमें कुछ मंगोलॉयड तत्त्व भी आ गए हैं।

लंका के वेड्डा बृहत्तर भारत के द्रविड़-पूर्व आदिवासियों में से हैं। उनका सिर लम्बा और सँकरा होता है। भौंहों की हड्डियाँ भारी होती हैं और माथा आस्ट्रेलॉयड लोगों की भाँति किन्तु उनसे कुछ कम, ऊपर की ओर जाते हुए क्रमशः नीचा होता जाता है। उनका चेहरा चौड़ा होता है, और नाक भी। उनके होठ पतले होते हैं और ठुड्डी नोकदार। उनके बाल काले, लम्बे और सूखे तथा लहरदार होते हैं। उनके शरीर का रंग गहरा बादामी होता है और ऊँचाई अधिक नहीं होती।

भारतीय जनसंख्या में प्रजाति-तत्त्व

संसार की प्रमुख प्रजातियों के उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण के बाद भारत की जनसंख्या के प्रजातीय तत्त्वों की ओर दृष्टिपात करना भी आवश्यक है। रिज़ले ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'पीपल्स आफ़ इण्डिया' में भारतीय समाज का प्रजातीय विश्लेषण कर उसमें प्रमुखतः सात भिन्न शरीर-वैशिष्ट्यपूर्ण समूह पाए हैं। किन्तु उन्होंने तीन प्रजातीय वर्गों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है—द्रविड़, इण्डो-आर्यन और मंगोल। रिज़ले के मतानुसार मंगोल-वंशीय प्रजातियाँ अधिकांशतः उत्तर-पूर्व में आसाम में केन्द्रित हैं। द्रविड़-वंश तथा इण्डो-आर्यन प्रजातियाँ एक-दूसरे से तथा मंगोल-प्रजातियों से विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न मात्रा में मिली हैं। इस तरह कुछ अंशों में उनमें रक्त तथा जातिगत शारीरिक गुणों का पारस्परिक आदान-प्रदान भी हुआ है। इस वर्गीकरण की अपनी सीमाएँ हैं और वह अनेक दृष्टियों से अपूर्ण तथा अवैज्ञानिक है। 'द्रविड़' तथा 'आर्य' शब्द प्रजातिसूचक न होकर केवल भाषा-समूह-सूचक मात्र हैं। बाद के अनुसंधानों से ज्ञात होता है कि रिजले ने जिस वर्ग को 'द्रविड़' कहा था, उसमें प्रायः तीन भिन्न प्रजातियाँ सम्मिलित हैं। दुर्भाग्यवश रिजले के इस वर्गीकरण में अनेक द्रविड़-पूर्व प्रजातियों की गणना द्रविड़-शाखा में ही कर ली गई है। विभिन्न प्रजाति-समूह, जिनकी लहरें समय-समय पर भारत में आईं और जिनके शरीर-वैशिष्ट्य के गुण अभी भी विश्लेषण करने पर हमें भारतीय समाज में मिलते हैं, रिजले के वर्गीकरण में उचित स्थान नहीं पा सके।

रिजले के बाद भारतीय समाज के विश्लेषण का दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रयत्न हेडन ने किया। उनके मतानुसार रिजले द्वारा किया हुआ वर्गीकरण दोषपूर्ण था। अपने विश्लेषण के परिणामस्वरूप उन्होंने भारतीय समाज में तीन महत्त्वपूर्ण प्रजातीय धाराओं की उपस्थिति बतलाई, यथा द्रविड़-पूर्व, द्रविड़ और आर्य। हेडन के मतानुसार 'द्रविड़-पूर्व' प्रजाति में द्रविड़ प्रजाति के भारत-प्रवेश के पूर्व की सब प्रजातियाँ आ जाती हैं। इस वर्ग की विभिन्न शाखाओं में स्पष्ट प्रजातीय समानताएँ थीं। सम-सामयिक भारतीय आदि-प्रजातियाँ इस युग में भी 'द्रविड़-पूर्व' प्रजाति का प्रतिनिधित्व करती हैं। हेडन के मतानुसार द्रविड़ प्रजाति सबसे पहले मूलतः पश्चिमी बंगाल में रही होगी। कालान्तर में अनेक स्थान-परिवर्तनों के पश्चात् सम्भवतः वह अन्त में छोटा नागपुर में आकर बसी। उसके बाद ईसा के लगभग दो हज़ार वर्ष पूर्व, आर्य-वर्गीय भाषाएँ बोलने वाली प्रजातियाँ भारत में आकर बसीं।

इस समय तक राष्ट्रीय धरातल पर बड़े परिमाण में भारतीय समाज के

विभिन्न अंगों का अध्ययन शारीरिक नृतत्व की दृष्टि से नहीं हुआ था। अतः यह स्वाभाविक ही था कि इस समय तक के वर्गीकरण पूर्ण तथा वैज्ञानिक न हो सके। मूल भाषा-स्रोत के आधार पर भारतीय आदि-जातियों की गणना 'द्रविड़' या 'कोलेरियन' दो मुख्य शाखाओं में से एक में करने की परम्परा अभी भारतीय जन-समाज-विषयक साहित्य में चली ही आ रही थी। हेडन ने 'द्रविड़-पूर्व' समूहों का भिन्न प्रजातीय अस्तित्व भारतीय समाज में निर्धारित कर एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इसी दिशा में इस काल में अन्य महत्त्वपूर्ण अनुसंधान भी हो रहे थे। हेडन सभ्य तथा विकसित जातियों के वर्गीकरण में प्रायः असफल ही रहे।

रमाप्रसाद चन्द, गुह, गुई फीडा, रगोरी आदि के अनुसंधानों ने भारतीय समाज के प्रजातीय वर्गीकरण को अधिक वैज्ञानिक रूप दिया। चन्द के मतानुसार भारत-भूमि के मूल निवासी वेदों में वर्णित अनार्य 'दस्यु' हैं। वेदों में इन प्रजातियों का उल्लेख 'निषाद' नाम से हुआ है। ये 'द्रविड़' तथा 'आर्य' वर्गों के भारत-आगमन के पूर्व ही यहाँ बस चुके थे। इसी समय नये अनुसंधानों से भारत में नीग्रो-प्रजाति के कुछ चिह्न भी मिले।

हटन ने भारतीय जनसंख्या का विश्लेपण कर जो वर्गीकरण किया है, वह अनेक अंशों में अपूर्ण होते हुए भी अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक है। स्वयं हटन ने स्वीकार किया है कि उनके विचार इस विषय पर अन्तिम नहीं हैं; अब तक के अनुसंधानों द्वारा ज्ञात तथ्यों पर ही उनका वर्गीकरण आश्रित है। 'नीग्रिटो-प्रजाति' उनके मतानुसार सम्भवतः भारतवर्ष में सबसे पहले आई; किन्तु अब इस जाति के थोड़े ही चिह्न अत्यन्त अल्प मात्रा में भारतीय समाज में शेप हैं। दूसरी महत्त्वपूर्ण प्रजाति 'प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड' है। आस्ट्रेलिया के आदिवासियों तथा इस प्रजाति के प्रतिनिधियों में अनेक मूलभूत समताएँ हैं। भूमध्यसागरीय प्रजातियाँ इसके बाद भारत में आईं। इस प्रजाति की प्रथम शाखा की 'आस्ट्रो-एशियाटिक' भाषा के कुछ चिह्न अभी भी भारत में अवशिष्ट हैं। यह प्रजाति अपने साथ भारत में 'मेगेलिथिक-संस्कृति'[1] तथा कृषि-विज्ञान का अल्प ज्ञान लाई। इसके पश्चात् ही भूमध्यसागरीय प्रजाति की एक और शाखा भारत में आई, जिसकी संस्कृति उपर्युक्त प्रजाति की पूर्व-शाखा की संस्कृति की अपेक्षा कहीं अधिक विकसित थी। इस प्रजाति को धातु-विज्ञान का ज्ञान था। यह अनुमान किया जाता है कि सिन्धु-उपत्यका की महान् सभ्यता

१. अन्तिम संस्कार के बाद शव जिस स्थान पर गाड़ दिया जाता है उस स्थान पर पाषाण-स्तम्भ खड़े करना इस संस्कृति की विशिष्टता है।

का विकास इसी प्रजाति ने किया। 'अल्पाइन'-प्रजाति की जो आर्मेनियन शाखा भारत में आई, उसकी संस्कृति भी अत्यन्त विकसित थी। यह द्रविड़ भाषाएँ बोलने वाला एक समूह था। पूर्व की ओर से मंगोल प्रजाति की एक शाखा दक्षिण की ओर क्रमशः बढ़ती हुई बंगाल की खाड़ी की ओर आई। इसके बाद लगभग ईसा के पूर्व १५०० में 'इण्डो-आर्यन'-प्रजाति का प्रवेश भारत में हुआ।

फ़ान इक्स्टेट ने भारतवासियों का विभाजन तीन प्रमुख वर्गों में और उनमें से प्रत्येक का दो प्रमुख उपवर्गों में किया है। उनके अनुसार भारतीय समाज का प्रजातीय वर्गीकरण इस भाँति किया जाना चाहिए :

(क) 'वेड्डिड-वर्ग'—'गोंडिड' समूह और 'मेलिड' उपसमूह।

(ख) 'मेलेनिड-वर्ग'—'मेलेनिड' और 'कोलिड' उपसमूह।

(ग) 'इंडिड-वर्ग'—'इंडिड' समूह और 'उत्तरी इंडिड' उपसमूह।

'वेड्डिड'-वर्ग में भारत के प्राचीनतम निवासी आते हैं। सिंहल की अत्यन्त प्राचीन 'वेड्डा' आदि-जाति के नाम के आधार पर इस वर्ग का नामकरण किया गया है। 'गोंडिड' शाखा में भारत की कतिपय प्रसिद्ध आदि-जातियाँ—गोंड, उराँव, खोंड इत्यादि—आती हैं। 'मेलिड' उपसमूह के चिह्न दक्षिण-भारत की आदि-जातियों में मिलते हैं। पनियन आदि आदि-जातियाँ वर्तमान भारत में इस शाखा का प्रतिनिधित्व करती हैं। 'मेलेनिड' वर्ग में काले वर्ण के अन्य अनेक समूह आते हैं। येनाडी तथा चेंचू आदि में इनके कुछ चिह्न पाए जाते हैं। 'कोलिड' उपसमूह का प्रतिनिधित्व संथाल,हो आदि महत्त्वपूर्ण आदि-जातियाँ करती हैं। 'इंडिड'-वर्ग में अपेक्षाकृत नवीन भारतीय आते हैं। यह वर्गीकरण सरल तथा आकर्षक अवश्य है, किन्तु इसे हम पूर्ण किसी भी भाँति नहीं कह सकते।

प्रजातीय दृष्टि से भारतीय समाज का अपेक्षाकृत पूर्ण वर्गीकरण गुह ने किया है। सन् १९३१ की जनगणना के अवसर पर उनके द्वारा किया गया विश्लेषण निस्संदेह इस दिशा में किये गए आज तक के प्रयत्नों में सबसे अधिक पूर्ण है। उनके मतानुसार भारत का प्रजातीय वर्गीकरण इन समूहों में किया जाना चाहिए : 'नीग्रिटो', 'प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड', 'मंगोलॉयड', 'भूमध्यसागरीय', पश्चिमी 'अल्पाइनायड', 'डिनेरिक', 'आर्मिनायड', और 'नॉर्डिक'। गुह के मतानुसार 'नीग्रिटो' प्रजाति भारतवर्ष में सबसे पहले आई। इस प्रजाति का स्वतन्त्र प्रतिनिधित्व भारत में अब कहीं नहीं है, किन्तु इसके प्रमुख चिह्न अभी भी कहीं-कहीं अवशिष्ट हैं। इस प्रजाति के बाल अन्य जातियों के बालों के समान सीधे, लहरदार अथवा घुँघराले नहीं होते। वे भिन्न-भिन्न अर्ध-गोलाकार

लटों में विभाजित और ऊनी-से होते हैं । 'नीग्रिटो' प्रजाति की यह शारीरिक विशेषता कुछ अंशों में केरल के काडट और पुलायान समूहों में तथा आसाम के अंगामी नागा लोगों में मिलती है। ये विशेषताएँ थोड़े अंशों में ईरूला तथा राजमहल पर्वत के बागड़ी समूहों में भी मिलती हैं। 'प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड' शाखा में भारत की अधिकांश आदि-जातियाँ आती हैं। इस शाखा तथा आस्ट्रेलिया-वासी मूलनिवासियों की प्रजातिगत शारीरिक विशेषताओं में अनेक समानताएँ हैं। टिनेवेली में पाये गए प्रागैतिहासिक नरमुण्डों में भी इस प्रजाति का आभास मिलता है। संस्कृत साहित्य में व्यंग्यात्मक ढंग से वर्णित नासिकाविहीन निषाद भी इसी प्रजाति के प्रतीत होते हैं। पूर्व-वर्णित 'वेड्डिड' शाखा की आदि-जातियाँ अधिकांशतः इसी वर्ग की हैं। 'मंगोलॉयड' शाखा में पूर्वी भारत की मीरी, बोंडो, नागा आदि कुछ महत्त्वपूर्ण आदि-जातियाँ आती हैं। यह शाखा मुख्यतः पूर्वी बंगाल और आसाम में ही सीमित है, किन्तु इसके कुछ चिह्न गोंड, माड़िया आदि में भी मिलते हैं।

उपर्युक्त तीन प्रजातियों में प्रायः भारत का सम्पूर्ण आदिवासी समाज आ जाता है। शेष तीन प्रजातीय धाराओं में भारत के अन्य समूह आते हैं। भूमध्य-सागरीय प्रजाति की तीन प्रमुख शाखाएँ भारत में आई हैं और मिश्रित रूप में उसके वंशज आज भी भारत में एक बहुत बड़ी संख्या में हैं। 'अल्पाइनॉयड' और 'डिनेरिक' शाखाओं के चिह्न हमें बिलोचिस्तान ब्राहुई और भावनगर के कापोलों में मिलते हैं । पारसी जाति आर्मेनॉयड शाखा से सम्बन्धित है। वेद-कालीन नॉर्डिक आर्यों का आगमन उपर्युक्त प्रजातियों के भारत में बस जाने पर हुआ। उनके अन्तिम दलों के भारत-प्रवेश के पश्चात् ही प्रायः भारत में विभिन्न प्रजातियों का बड़े दलों में आना बन्द हो गया। भारत-भूमि के प्रांगण में उपर्युक्त प्रजातियों ने अपनी-अपनी संस्कृतियों का विकास किया। पारस्परिक संबंधों तथा जीवन की आवश्यकताओं के कारण उन्हें एक-दूसरे के सम्पर्क में भी आने की आवश्यकता हुई। इस सम्पर्क तथा पारस्परिक संबंध के कारण विभिन्न प्रजातियों में विवाह-संबंध तथा सांस्कृतिक आदान-प्रदान आदि हुए। पर्वतों और वनों के वासी जहाँ इस सम्पर्क से अपेक्षाकृत कम प्रभावित हुए, मैदानों में रहने वाले समूह कालांतर में एक-दूसरे के अधिकाधिक पास आकर एक-दूसरे में मिलते गए।

नृतत्व की दृष्टि से भारत के प्रजातीय तत्त्वों पर अभी अनुसंधान हो रहे हैं। भारतीय समाज के अनेक अंगों और प्रत्यंगों का अध्ययन अभी शेष है। गुह के उपर्युक्त विभाजन को सभी विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया है। बहुतों के मत

से 'नीग्रिटो' प्रजाति की उपस्थिति के संबंध में निश्चयात्मक निष्कर्ष पर पहुँच सकने योग्य तथ्यों का अनुसन्धान अभी नहीं हुआ है। उक्त प्रजाति की स्थिति अभी यथेष्ट प्रमाणों के अभाव में संदिग्ध है। शास्त्रीय ज्ञान के आधार पर भारतीय समाज में 'प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड', 'मंगोलॉयड', 'भूमध्यसागरीय', पश्चिमी 'अल्पाइनॉयड' आदि तथा 'नॉडिक' आर्य जातियों के प्रजातीय तत्त्वों की उपस्थिति ही असंदिग्ध रूप से प्रमाणित की जा सकती है।

प्रजातिवाद

मानव के विभिन्न समूहों में रूप, रंग, आकार-प्रकार की अनेक विभिन्नताओं के होते हुए भी यह कहना आवश्यक है कि प्राणी-जगत् की एक शाखा के रूप में मानव-मात्र का वर्गीकरण 'होमोसेपियन्स' अथवा 'मेधावी मानव' के रूप में किया जाता है। सामान्य रूप से संसार की किन्हीं भी दो प्रजातियों के स्त्री-पुरुष यौन-सम्बन्ध द्वारा संतान उत्पन्न कर सकते हैं। उनकी शारीरिक विशेषताओं में जो अन्तर होते हैं वे अंतर्विवाह के कारण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में जाते हैं, और इन्हीं के आधार पर 'प्रजाति' 'उपप्रजाति' आदि का विश्लेषण एवं वर्गीकरण संभव होता है। आज का नृतत्व प्रजातियों का वर्गीकरण मात्र ही करता है, अतः यह स्पष्ट है कि उसके ये प्रयत्न **प्रजाति क्यों बनी या कैसे बनी** आदि प्रश्नों के सर्वथा समाधानकारक उत्तर नहीं दे सकते।

इन पृष्ठों में संसार की विभिन्न प्रजातियों के शारीरिक अंतर पर ही ज़ोर दिया गया है। उनके मानसिक गुणों, सृजनशीलता आदि के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, राजनीतिज्ञों और संकीर्णतापूर्ण प्रजातीय नीति में विश्वास करने वालों ने अनेक तरह इस शब्द का अर्थ और अनर्थ किया है। अमरीका में नीग्रो जाति के प्रति भेद-भाव की नीति बरती जाती है। उनके लिए स्टेशनों पर अलग वेटिंग रूम होते हैं और 'जिम क्रो' गाड़ियाँ होती हैं, जिनमें वे सफेद अमरीकियों से अलग यात्रा करते हैं। विधान ने संयुक्तराष्ट्र के नागरिकों को जो मूलभूत अधिकार दिये हैं उनका पूरी तरह उपयोग भी वहाँ के नीग्रो निवासी नहीं कर सकते, यहाँ तक कि न्याय के क्षेत्र में भी उनके विरुद्ध तीव्र भेद-भाव किया जाता है। सफेद जूरी के बहुमत वाले न्यायालय छोटे-छोटे अपराधों के लिए भी नीग्रो अपराधियों को कड़ी सज़ा देते हैं। एक संदिग्ध चरित्र वाली गोरी स्त्री पर बलात्कार करने के अपराध में सात नीग्रो लोगों को मृत्यु-दण्ड की सजा ने १९५१ में संसार की सारी रंगीन जातियों में खलबली मचा दी थी। गोरे अमरीकियों के कतिपय समूहों की

प्रजातीय अहम्मन्यता अनेक बार तो इस न्याय की भी प्रतीक्षा नहीं करती और उनकी भीड़ तथाकथित अपराधियों को 'लिंच' कर देती है । इन हत्याओं के समय शांति और सुरक्षा के लिए उत्तरदायी पुलिस और शासन-अधिकारी घटना-स्थल के समीप ही नहीं पहुँच पाते । दक्षिण अफ्रीका में प्रजातिवाद की नीति का एक दूसरा स्वरूप दिखाई पड़ता है । वहाँ के गोरे शासक अपने विशिष्ट सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन से न केवल तथाकथित 'असभ्य' मूल निवासियों को ही दूर रखना चाहते हैं वरन् राष्ट्रसंघ के दूसरे दो सदस्य भारत और पाकिस्तान को भी उसी श्रेणी में सम्मिलित करते हैं। हिटलरकालीन जर्मनी में नॉर्डिक जाति की दैवी विशेषताओं तथा उनके संसार के शेष भाग पर राज्य करने के और उन्हें सभ्यता प्रदान करने के जन्मजात अधिकार-संबंधी अवैज्ञानिक और अर्ध-वैज्ञानिक प्रलाप को अभी संसार भूला नहीं है ।

यहूदियों के प्रति तो संसार के अनेक क्षेत्रों में प्रजातीय विद्वेष पाया जाता था, और नाज़ी जर्मनी में उनके विरुद्ध जो दृष्टिकोण अपनाया गया था उसका स्थान संसार के 'वैज्ञानिक' अंध-विश्वासों के इतिहास में महत्त्वपूर्ण रहेगा । यहूदियों के प्रति अभी भी संसार के अनेक भागों में भेद-भाव की नीति वरती जाती है ।

इस प्रजातीय विद्वेष का आधार क्या है ? स्वयं अपनी प्रथाओं और व्यवहार-प्रकारों को उचित तथा आदर्श मानकर अन्य समूहों की प्रथाओं को कुतूहल से देखने की प्रवृत्ति थोड़े-बहुत परिमाण में प्रायः मानव के प्रत्येक समूह में पाई जाती है । दूसरों की 'विचित्र' प्रथाओं पर आलोचनात्मक टिप्पणियाँ कर अपना मनोरंजन कर लेने के उदाहरण मानव-मात्र के किसी भी समूह से एकत्रित किये जा सकते हैं । जब हम ऐसा करते हैं तो यह भूल जाते हैं कि स्वयं हमारी प्रथाओं में अनेक ऐसी हैं जो दूसरों की दृष्टि में विचित्र प्रतीत हो सकती हैं । जब आर्थिक हितों का प्रश्न आता है तब यह सरल कुतूहल अपना स्वरूप बदल लेता है । आर्थिक संघर्ष की स्थिति में जातीयतावाद तीव्र विद्वेष के रूप में प्रकट होता है । एक ओर तो गोरी जातियों ने यह दावा किया है कि उनके द्वारा ही संसार की काली और अन्य जातियों तक सभ्यता का प्रकाश पहुँच सकता है, दूसरी ओर उनके पश्चिमी संस्कृति के अनेक तत्त्वों के अपना लेने पर भी गोरी जातियों ने उन्हें सामाजिक समता नहीं दी । साम्राज्यवादियों ने कई दशकों तक इस भ्रामक मत का प्रचार किया कि संसार की रंगीन जातियाँ सामाजिक और मानसिक दृष्टि से स्वशासन और प्रजातन्त्र के लिए अनुपयुक्त हैं । इस सिद्धांत से प्रभावित होकर अनेक क्षेत्रों में उन्हें इन ध्येयों की प्राप्ति के लिए

तैयार करने के भी कोई प्रयत्न नहीं किये गए।

संसार की कतिपय प्रजातियों के सम्बन्ध में यह दावा किया जाता है कि वे अन्य प्रजातियों की अपेक्षा अधिक विकसित हैं तथा उनकी प्राकृतिक योग्यताएँ तुलनात्मक दृष्टि से अधिक हैं। इसी आधार पर गोरी जातियों को नीग्रो, मंगोल तथा अन्य रंगीन जातियों से अधिक योग्य सिद्ध करने के अनेक प्रयत्न किये गए हैं। एक प्रजाति को दूसरी से अधिक योग्य प्रमाणित करने के लिए बहुधा जो तर्क उपस्थित किये जाते हैं वे इस प्रकार के होते हैं :

१. प्राणी-शास्त्रीय दृष्टि से शरीर-रचना में कुछ प्रजातियाँ दूसरी प्रजातियों से अधिक विकसित होती हैं।

२. कुछ प्रजातियों के मस्तिष्क का आकार अन्य प्रजातियों के मस्तिष्कों की अपेक्षा बड़ा होता है। यह उनकी विकसित मानसिक योग्यता का प्रमाण है।

३. कतिपय प्रजातियों में शरीर की विशिष्ट गंध की उपस्थिति। यह गंध गोरी प्रजातियों को अरुचिकर प्रतीत होती है, और इस तरह प्रजातीय हीनता का लक्षण मान ली जाती है।

४. कतिपय मनोवैज्ञानिक परीक्षाओं में गोरी जातियों की मानसिक योग्यताएँ उच्च एवं विकसित प्रमाणित हुई हैं।

५. मानवीय सभ्यता के विकास में गोरी जातियों का योगदान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रहा है।

उपर्युक्त तर्कों में प्रथम तीन का विश्लेषण एक साथ किया जा सकता है, क्योंकि उनका संबंध मानव की शरीर-रचना तथा अन्य शारीरिक विशेषताओं से है। यह सच है कि आधुनिक मानव—होमोसेपियन्स—शरीर-रचना में जावा-मानव तथा निएण्डर्थल-मानव की अपेक्षा अधिक विकसित हैं, किन्तु संसार की आधुनिक जातियों में आस्ट्रेलिया के आदिवासियों को छोड़कर शेष सभी जातियाँ प्राणी-शास्त्रीय दृष्टि से कम विकसित नहीं मानी जा सकतीं। निश्चयात्मक ढंग से आस्ट्रेलिया के आदिवासी भी मानसिक योग्यता में किसी अन्य प्रजाति से कम नहीं कहे जा सकते। यदि आज उनकी संस्कृति विकास की अत्यन्त प्राथमिक स्थिति में है तो इसका कारण उनके निवास-क्षेत्र की भौगोलिक दूरी तथा शेष संसार से असंबद्धता भी हो सकते हैं। यूरोपीय लोग रूप-रंग को देखकर जापानियों और नीग्रो लोगों को भले ही 'बंदर' आदि नामों से सम्बोधित करें, किन्तु उन्हें यह जानकर आश्चर्य न होना चाहिए कि दूसरी जातियाँ उनके लिए कुछ ऐसे ही विशेषणों का प्रयोग करती हैं। नीग्रो तथा अन्य रंगीन जातियों की अपेक्षा गोरी जातियों के मस्तिष्क का बड़ा होना गोरी

जातियों की अधिक मानसिक योग्यता का प्रमाण माना गया है। यह एक बहु-विज्ञापित किन्तु निस्सार तर्क है, क्योंकि वैज्ञानिक रूप में अभी तक यह प्रमाणित नहीं किया जा सका कि केवल मस्तिष्क के आकार पर किसी की योग्यता कम या अधिक कही जा सकती है। यदि हम इस तर्क को सच मानें तो हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि निएण्डर्थल मानव मानसिक योग्यता में आधुनिक मानव के समकक्ष था। इसी तर्क के आधार पर मानसिक योग्यता में एस्किमो जाति को गोरी जातियों से अधिक मानना चाहिए, क्योंकि उनके मस्तिष्क का आकार गोरी जातियों के मस्तिष्क से कहीं बड़ा होता है। शरीर की गंध-सबंधी तर्क भी निरर्थक है। गोरी जातियों को नीग्रो के पसीने की गंध भले ही अरुचिकर हो, किन्तु गोरी जातियों के शरीर की गंध पूर्व के लोगों को भी अच्छी नहीं लगती। शरीर की गंध के कारण ही किसी जाति को निम्न-स्तर की मान लेना कदापि वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता।

मानसिक योग्यताओं-संबंधी मनोवैज्ञानिक परीक्षण की अपनी सीमाएँ हैं। विनेट के प्रयोगों के आधार पर तुलनात्मक रूप से जातियों की मानसिक योग्यताओं का यह अनुपात स्थिर किया गया था—नीग्रो ९९, अमरीका के इंडियन ७५·३, चीनी-जापानी ९९, गौरी कॉकेशियन जातियाँ १००। कुछ दिन तक ये प्रमाण अकाट्य माने गए, किन्तु धीरे-धीरे इन परीक्षाओं की सीमाएँ स्पष्ट होने लगीं। अमरीका की सेना में भिन्न-भिन्न भागों से भरती किये गए सैनिकों की मनोवैज्ञानिक परीक्षा से ज्ञात हुआ कि उत्तरी अमरीका के नीग्रो सैनिक देश के दक्षिण भाग के नीग्रो सैनिकों की अपेक्षा बुद्धि में अधिक योग्य थे। उत्तर अमरीका के गोरे सैनिक भी बुद्धि में दक्षिण के गोरों से अधिक योग्य थे, यहाँ तक कि उत्तर के कुछ नीग्रो दक्षिण के कुछ गोरों से कहीं अधिक योग्य प्रमाणित हुए। अतः इन परीक्षाओं से और इनके आधार पर बाद में किये गए विश्लेषण से प्रमाणित हुआ कि आर्थिक स्तर, शिक्षा, स्वास्थ्य इत्यादि की दृष्टि से अधिक विकसित उत्तरी भौगोलिक क्षेत्र में मानसिक विकास की अधिक सुविधा होने के कारण वहाँ गोरी और काली दोनों प्रजातियों का मानसिक विकास अधिक हुआ। संक्षेप में, इन मनोवैज्ञानिक परीक्षाओं के संबंध में कहा जा सकता है कि वे प्रकृतिदत्त योग्यताओं मात्र की जाँच नहीं करती हैं। यूरोपीय-अमरीकी संस्कृति की पृष्ठभूमि में जो परीक्षाएँ निर्धारित की जाती हैं उनमें यह स्वाभाविक ही है कि रंगीन जातियों को भिन्न सांस्कृतिक वातावरण के कारण निम्न स्तर प्राप्त हो। यदि ऐसी ही परीक्षाएँ काली जातियों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में विकसित की जायें तो उनमें गोरी जातियों की स्थिति

नीची रहेंगी। मनोवृत्ति-परीक्षा का भी अभी तक ऐसा कोई तरीका नहीं निकला जिसमें ये सांस्कृतिक तत्त्व दूर रखे जा सकें। अतः इन मनोवैज्ञानिक परीक्षाओं के आधार पर किसी जाति को अधिक या कम विकसित कहना उचित न होगा।

यह सच है कि अपेक्षाकृत आधुनिक काल में गोरे राष्ट्रों ने सभ्यता के विकास में बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, किन्तु पिछले पाँच सौ वर्षों में उन्होंने जो कुछ किया है केवल उसके आधार पर उन्हें संसार में सर्वोच्च स्थान नहीं दिया जा सकता। चीन, मिस्र और भारत में उनसे बहुत पहले महत्त्वपूर्ण सभ्यताएँ विकसित और पुष्पित हो चुकी थीं।

ब्रिटेन-वासियों के संबंध में सिसरो का मत था कि वे अपनी जन्मजात मूर्खता के कारण दास बनाने योग्य भी नहीं थे। रोमन लोगों की दृष्टि में जर्मन इतने बर्बर थे कि वे किसी भी प्रकार की उच्च स्तर की सभ्यता विकसित नहीं कर सकते थे। जब आज की विकसित जातियों की यह स्थिति थी तब मध्य-अमरीका के इंडियन अपनी सुविख्यात माया सभ्यता विकसित कर चुके थे। गोरी जातियों ने सभ्यता के जिन रूपों का विकास किया है, वे संसार की अन्य सभ्यताओं की देन से संपूर्णतः अप्रभावित नहीं हैं। केवल इसी आधार पर किसी प्रजाति-विशेष की उच्चता प्रमाणित नहीं की जा सकती।

संसार की भिन्न-भिन्न प्रजातियों में शारीरिक अंतर तो होते ही हैं। यह भी हो सकता है कि उनमें कतिपय बौद्धिक एवं मानसिक अंतर भी हों, किन्तु ये अंतर इतने कम होते हैं कि वातावरण और संस्कृति का प्रभाव उन्हें निर्मूल-प्राय कर सकता है। इसी कारण यूनेस्को के तत्त्वावधान में प्रजाति-संबंधी प्रश्नों पर विचार करने के लिए बुलाये गए विशेषज्ञ-सम्मेलन ने प्रजातिवाद के विषाक्त प्रभावों को दूर करने के लिए उसके वैज्ञानिक सत्य पर निर्णयात्मक ढंग से प्रकाश डाला है, और इसके संबंध में प्रचलित अंध-विश्वासों और भ्रांतियों को दूर करने का यत्न किया है।

पाँच

मानव : संस्कृति-निर्माता

नृतत्व की शास्त्रीय दृष्टि से संस्कृति की परिभाषा करते हुए यह कहा जा चुका है कि वह परिसर का मानव-निर्मित भाग है। संस्कृति-निर्माण की क्षमताएँ मानव को प्रकृति से मिली हैं, परन्तु संस्कृति स्वयं संपूर्णतः मानव की रचना है। इस नैसर्गिक क्षमता के उपयोग से मानव ने अपने जीवनयापन की प्रणाली को अन्य जीवधारियों की जीवन-प्रणाली से भिन्न रूप में विकसित किया है। संस्कृति-निर्माता होने का गौरव जीव-जगत् में केवल मानव को ही प्राप्त है।

मानव संस्कृति का विकास कैसे कर सका ? संस्कृति-निर्माण की मानवीय क्षमता का रहस्य संभवतः उन पाँच प्राकृतिक वरदानों में निहित है जिनके सम्मिलित उपयोग से मानव ने अपनी वैशिष्ट्यपूर्ण जटिल संस्कृतियाँ विकसित की हैं।

प्रकृति के वे पाँच वरदान निम्न हैं:

१. मानव की सीधे खड़े हो सकने की क्षमता।

२. मानव के हाथों की रचना, विशेषकर उनका स्वतंत्रतापूर्वक घुमाया जा सकना और उनसे वस्तुओं को पकड़ सकने की योग्यता।

३. मानव की तीक्ष्ण एवं केन्द्रित की जा सकने वाली दृष्टि।

४. मानव का तार्किक तथा कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित कर सकने में सक्षम मस्तिष्क।

५. मानव की भाषा के माध्यम से विचारों के आदान-प्रदान की शक्ति।

सीमित परिमाण में पैरों के बल खड़े हो सकने की क्षमता कतिपय विशाल वानरों में भी दीख पड़ती है, परन्तु उसका पूर्ण विकास केवल मानव

में हुआ है। इस क्षमता के उपयोग के सांस्कृतिक परिणाम अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। सीधे खड़े होने तथा इसी स्थिति में चलने-फिरने के कारण मानव की शरीर-रचना में कतिपय उल्लेखनीय परिवर्तन हुए। इसके कारण मानव की आत्म-रक्षा करने की योग्यता बहुत बढ़ गई। शत्रुओं से बचने के लिए वह केवल पैरों के बल भाग सकता था, और उसके हाथ रक्षा के अन्य उपायों के लिए स्वतंत्र रहते थे। इस क्षमता के उपयोग से एक ओर तो मानव ने अपनी रक्षा की और दूसरी ओर प्रकृति पर अपने नियंत्रण और अधिकार में वृद्धि भी की। आवागमन के उत्तरदायित्व से मुक्त मानव के हाथ एक विशेष दिशा में विकसित हुए। साथ ही सीधे खड़े होने वाले मानव की मस्तिष्क-रचना में भी कतिपय महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। संभवतः यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि अपने मस्तिष्क और हाथों के सम्मिलित उपयोग से मानव ने अपनी संस्कृति का विकास किया है।

इसी भाँति मनुष्य के स्वतंत्रतापूर्वक घुमाए जा सकने वाले हाथ भी उसके लिए बहुत उपयोगी थे। वे सुरक्षा के साधन होने के अतिरिक्त प्रकृति-विजय के अभियान में मानव के सबसे अधिक शक्तिशाली शस्त्र थे। मानव के हाथों में स्वतंत्रतापूर्वक घुमाए जा सकने की क्षमता और अच्छी पकड़ यदि न होती तो यह कह सकना कठिन है कि उसने अपने मेधावी मस्तिष्क के रहते हुए भी अपनी संस्कृति, विशेषकर उसके भौतिक पक्षों का विकास करने में कितनी सफलता पाई होती।

मनुष्य अपने हाथों से जो कर सका उसमें उसकी तीक्ष्ण तथा केन्द्रित की जा सकने वाली दृष्टि का योग भी उल्लेखनीय रहा है। दृष्टि और हाथ के कार्य में तारतम्य स्थापित करने की क्षमता यदि मानव में न होती तो संभवतः उसकी सांस्कृतिक सृष्टि के अनेक सूक्ष्म उपादान विकसित ही न हो सकते।

संस्कृति-निर्माण के क्षेत्र में संभवतः मानव का सबसे प्रमुख बल रहा है उसका मेधावी मस्तिष्क। मानवीय मस्तिष्क की दो उल्लेखनीय क्षमताएँ हैं—तर्क द्वारा कार्य-कारण संबंध स्थापित करने की शक्ति और अपनी ग्राह्य शक्ति द्वारा विचारों तथा क्रियाओं को स्थायित्व दे सकने की योग्यता। दूसरे शब्दों में, मनुष्य के मस्तिष्क ने न केवल उसे आविष्कार-शक्ति दी है, वरन् उसे आविष्कृत विचारों और क्रियाओं को स्थायित्व दे सकने की क्षमता भी प्रदान की है।

यदि मानव के पास वाणी अथवा भाषा की शक्ति न होती तो उसके आविष्कारों का विस्तार एवं प्रसार अत्यन्त सीमित हो जाता। जिस आश्चर्य-

जनक गति से उसके आविष्कारों का प्रसार मानवीय धरातल पर हुआ है उसका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कारण मनुष्य की भाषा-शक्ति है। भाषा के माध्यम से मानवीय विचार और क्रियाएँ विस्तार पाने के अतिरिक्त मौखिक परम्परा का रूप ग्रहण कर स्थायित्व भी पाती हैं।

यदि मनुष्य मेधावी मस्तिष्क का स्वामी न होता और उसे वाणी की शक्ति प्राप्त न होती तो वह अपनी वे दो विशेषताएँ विकसित न कर सकता जिनका उसकी संस्कृति के निर्माण, विकास, परिमार्जन तथा विस्तार में बड़ा योग रहा है। उसकी ये शक्तियाँ हैं :

१. बोधगम्य प्रतीकों का निर्माण।
२. शब्द-शक्ति द्वारा इन प्रतीकों का प्रसार।

मानव-संस्कृति के प्रत्येक पक्ष में प्रतीकों का व्यवहार होता है। बीजगणित में व्यवहृत प्रतीकों और संस्कृति के विभिन्न पक्षों में उपयोग में आने वाले प्रतीकों में कोई गुणात्मक अन्तर नहीं है। यह निश्चित है कि यदि मनुष्य के मस्तिष्क में प्रतीक निर्माण कर सकने तथा उनके अर्थों को ग्रहण करने की शक्ति न होती, और वह उन्हें भाषा के माध्यम से बोधगम्य न बना सकता, तो उसकी संस्कृति अपेक्षाकृत अविकसित ही रह जाती।

मानव ने अपनी इन क्षमताओं का उपयोग किन दिशाओं में किया है? संस्कृति के उपादान मानवीय जीवन के किन पक्षों की प्रक्रियाओं को संयोजित करते हैं?

संस्कृति की संयोजना एक त्रिकोण के रूप में प्रस्तुत की जा सकती है :
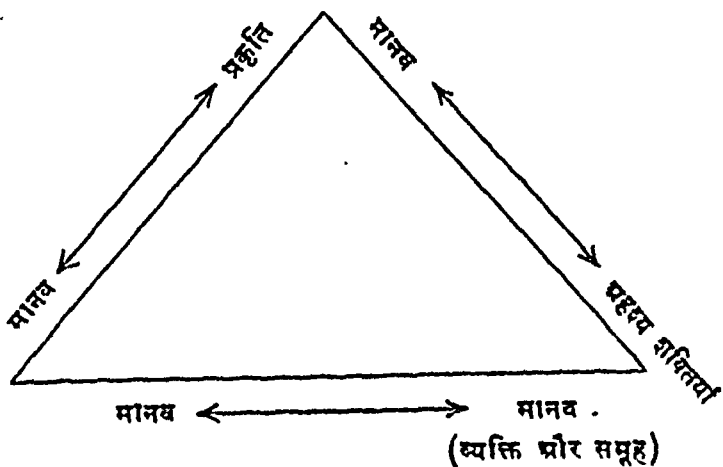
संस्कृति के अन्तर्गत तीन भिन्न धरातलों के मानवीय व्यवहार-प्रकारों

की समग्रताएँ आती हैं। एक ओर मानव और प्रकृति के पारस्परिक सम्बन्ध हैं। मानव को प्रकृति के उपादानों से न केवल अपनी रक्षा करनी पड़ती है, वरन् उनसे जीवनोपयोगी तत्त्वों की उपलब्धि का संगठन भी करना पड़ता है। सुरक्षा के लिए वह ग्रीष्म, शीत, वर्षा आदि से बचाव के उपाय सोचता है। भोजन और जल, जो उसके जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएँ हैं, उसे प्रकृति से ही मिलते हैं। दैनिक जीवन की अनेक प्राथमिक और गौण आवश्यकताओं की पूर्ति भी वह प्रकृति के उपादानों से करता है। आर्थिक संगठन तथा भौतिक संस्कृति बहुत बड़े अंश में 'मानव←→प्रकृति' संबंधों की संघटना पर आधारित रहते हैं।

दूसरी ओर मानवीय धरातल पर संबंधों का संघटन आवश्यक होता है। ये संगठन व्यक्तिगत होते हैं और सामूहिक भी। 'मानव←→मानव' संबंधों की सुनिश्चित आयोजना के बिना सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में अराजकता आने का भय रहेगा। इस प्रकार के संबंधों की योजना से ही समाज-व्यवस्था विकसित होती है, जिसका प्रत्येक संस्कृति में होना अनिवार्य है।

तीसरी ओर मानव को अदृश्य जगत् की उन शक्तियों से भी समझौता करना पड़ता है, जिनके संबंध में उसकी कार्य-कारण बुद्धि उसकी बहुत अधिक सहायता नहीं करती। कल्पना और विश्वास से वह इन शक्तियों की स्थापना करता है, और उन्हें यथार्थ के रूप में स्वीकार कर लेता है। 'मानव←→अदृश्य शक्तियाँ' धरातल के संबंध धर्म, जादू, आदि के रूप में संस्कृति के आवश्यक अंग बन जाते हैं।

अपनी आयोजना और आविष्कार-शक्ति से मानव जीवन के इन पक्षों के संबंध में मान्यताएँ, संबोध और व्यवहार-प्रकार विकसित करता है। इनकी समग्रता को ही संस्कृति की संज्ञा दी जाती है।

छः

संस्कृति : शास्त्रीय परिभाषा

संस्कृति शब्द का प्रयोग, उसके पर्यायवाची अंग्रेजी शब्द 'कल्चर' की भांति, अनेक अर्थों में होता है। सामान्यतः सुसंस्कारों की योजना को संस्कृति मान लिया जाता है, और इस अर्थ में ऐसे व्यक्ति अथवा समूह, जिनकी जीवन-विधि में सुसंस्कारों का अभाव होता है, संस्कृतिविहीन समझे जाते हैं। नृतत्व की शास्त्रीय दृष्टि जीवन-विधियों का तुलनात्मक दृष्टि से गुणात्मक मूल्यांकन नहीं करती। वह अधिकांशतः जीवन के तथ्यों को मूल्यविहीन संदर्भ में ग्रहण करती है। अतः किसी व्यक्ति अथवा समूह की संस्कृति का मापदंड उसका ज्ञान, साहित्य, संगीत अथवा कला से प्रेम, या व्यवहार के सुसंस्कारों को नहीं माना जा सकता। इतिहासकारों ने संस्कृति को किसी समूह या देश के विशेष कलात्मक अथवा बौद्धिक विकास के रूप में ग्रहण किया है। जीवन के ये पक्ष निःसंदेह संस्कृति के अंग हैं, परन्तु नृतत्व की वैज्ञानिक दृष्टि विशेष विकासों के अतिरिक्त सामान्य व्यवहार-प्रकारों को भी संस्कृति का अविभाज्य अंग मानती है। संसार की विकसित और महान् सभ्यताएँ संस्कृति के एक रूप का प्रतिनिधित्व करती हैं, परन्तु आस्ट्रेलिया के आदिवासी, जिनकी भौतिक संस्कृति अत्यधिक अल्प-विकसित है, किसी प्रकार भी संस्कृतिविहीन नहीं माने जा सकते।

संस्कृति नृतत्व का एक मूलभूत संबोध है। उसका उपयोग इस विज्ञान में एक विशिष्ट अर्थ में होता है। सीखे हुए व्यवहार-प्रकारों की उस समग्रता को, जो किसी समूह को वैशिष्ट्य प्रदान करती है, संस्कृति की संज्ञा दी जा सकती है। दूसरे शब्दों में, किसी समूह के ऐतिहासिक विकास में जीवनयापन के जो विशिष्ट प्रकार विकसित हो जाते हैं, वे ही उस समूह की संस्कृति हैं।

संस्कृति के कुछ पक्ष अभिव्यक्त और कुछ पक्ष अनभिव्यक्त होते हैं, और उनमें बौद्धिक और अबौद्धिक दोनों प्रकार के तत्त्वों का समावेश रहता है। संस्कृति सम्पूर्ण समूह तथा उसके विशिष्ट अंगों के व्यवहार-प्रकारों की योजना निश्चित करती है। उसके माध्यम से व्यक्ति तथा विशिष्ट समूह यह जान सकते हैं कि उनके कौनसे व्यवहार और कार्य समाज को मान्य और स्वीकार्य हैं, कौनसे नहीं। यद्यपि संस्कृति के रूप—अंतरंग और वहिरंग—में अनिवार्यतः परिवर्तन होते रहते हैं, समय की सीमित अवधि में उसके रूप में इतनी स्थिरता अवश्य होती है कि उसके गठन का वर्णन और विश्लेषण किया जा सके।

निम्नलिखित मान्यताएँ संस्कृति के वास्तविक अर्थ को स्पष्ट करने में सहायक होंगी :

१. संस्कृति मानव-निर्मित है। मनुष्य संस्कृति के निर्माण और उसे ग्रहण कर सकने की योग्यता के साथ उत्पन्न होता है, संस्कृति के साथ नहीं।

२. मनुष्य संस्कृति को सीखकर अपनाता है। उसमें ऐसी योग्यता होती है कि वह इन सीखे हुए संस्कृति-तत्त्वों में से अधिकांश को स्थायित्व दे सकता है। परम्परा उन्हें भूतकाल से वर्तमान में लाती है और भविष्य तक ले जाती है।

३. संस्कृति व्यक्ति-मात्र अथवा थोड़े-से ही व्यक्तियों की वस्तु नहीं होती, उसका विस्तार व्यापक और सामाजिक होता है। संगठित समूह में रहने वाले मानव उसे अपनाते हैं। सामाजिक दबावों के कारण उसके रूप में एक प्रकार की स्थिरता बनी रहती है। अनेक संस्कृतिजनित व्यवहार-प्रकार समूह की जीवन-विधियों की छाया-मात्र होते हैं।

४. वर्णित रूप में संस्कृति सामाजिक यथार्थ पर आश्रित एक आदर्श चित्र होती है। समाज के जीवन में जो विचार और व्यवहार-प्रकार लक्षित होते हैं, उनके आधार पर हम उन नियमों और सिद्धान्तों को शाब्दिक रूप देने का यत्न करते हैं जिन पर वह विशिष्ट संस्कृति आश्रित रहती है।

५. संस्कृति तुष्टिदायिनी होती है। उसके संगठन का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य मानव की प्राणी-शास्त्रीय प्रेरणाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन उपलब्ध करना होता है। भूख-प्यास, यौन-इच्छा तथा आत्म-महत्ता की अभिव्यक्ति और स्वीकृति, मानव की इन तीन महत्त्वपूर्ण शारीरिक-मानसिक आवश्यकताओं की नियमित पूर्ति की योजना प्रत्येक संस्कृति में पाई जाती है।

६. मानव और समाज की प्राणी-शास्त्रीय, परिसरीय और ऐतिहासिक

आवश्यकताओं से संस्कृति का रूप प्रभावित होता है और इनमें होने वाले प्रत्येक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के साथ ही संस्कृति के गठन में भी परिवर्तन होता है। वातावरण के प्रति मानव के बदलते हुए दृष्टिकोण तथा परिवर्तित होती शारीरिक और मानसिक माँगों के परिणामस्वरूप संस्कृति के रूप में भी परिवर्तन होता है। संस्कृति में, नई आवश्यकताओं के अनुकूल, अपने-आप के ढाँचे में परिवर्तन कर सकने का गुण होता है।

७. संस्कृति में संतुलन और संगठन होता है। उसके विभिन्न पक्षों और तत्त्वों के अंतरावलंबन के कारण ही उसके गठन में यह संतुलन आता है। संस्कृति की रचना में पाई जाने वाली इसी विशेषता के कारण यह देखा जाता है कि संस्कृति के एक पक्ष में होने वाले परिवर्तनों का अल्पाधिक प्रभाव उसके दूसरे पक्षों पर भी होता है।

८. संस्कृति की रचना-शैली ऐसी होती है कि उसके विभिन्न पक्षों का वर्गीकरण सरलतापूर्वक किया जा सकता है। आविष्कार और निर्माण-क्रियाएँ, आर्थिक संगठन, समाज-योजना, धर्म आदि संस्कृति के प्रमुख अंग हैं, जो परस्पर अंतरावलंबी होते हुए भी, कतिपय अंशों में अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं।

९. संस्कृति जड़ और स्थिर नहीं होती, गतिशीलता उसकी एक उल्लेखनीय विशेषता है। उसके स्वरूप, प्रक्रियाओं तथा उसके गठन में होने वाले परिवर्तनों में एक नियम-बद्धता दिखाई पड़ती है, जिसके कारण समाज-विज्ञान की अध्ययन-प्रणाली द्वारा उसका विवेचन और विश्लेषण संभव होता है।

१०. संस्कृति के माध्यम से व्यक्ति अपने जीवन की पूर्ण पृष्ठभूमि में अपना स्थान पाता है, और संस्कृति के द्वारा उसे जीवन में रचनात्मक संतोष के साधन उपलब्ध होते हैं।

संस्कृति-तत्त्वों तथा संस्कृति तत्त्व-समूहों की वैशिष्ट्यपूर्ण योजना से संस्कृति का निर्माण होता है। इस संस्कृति का प्रसार जिस क्षेत्र में पाया जाता है, उसे संस्कृति-क्षेत्र कहते हैं। एक संस्कृति में कई उप-संस्कृतियाँ और इन उप-संस्कृतियों में भी कई स्थानीय संस्कृतियाँ हो सकती हैं। संस्कृति के भौगोलिक विस्तार तथा उसके बाह्य आवरण से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है उसके आंतरिक संगठन तथा उसकी प्रेरक शक्तियों का अध्ययन, क्योंकि निर्जीव संस्कृति-तत्त्व-समूह इन्हीं प्रेरणाओं से अनुप्राणित होते हैं। प्रत्येक संस्कृति के अपने मूल्य और आदर्श होते हैं। अनेक संस्कृतियों में एक या अधिक प्रेरक सिद्धांत होते हैं, जो संस्कृति के प्रत्येक पक्ष के गठन तथा उनके अन्तरावलंबन की योजना निश्चित करते हैं। इन प्रेरक सिद्धांतों का प्रभाव

ऐसे समाजों के जीवन और संस्कृति के प्रत्येक अंग-प्रत्यंग पर देखा जा सकता है। प्रत्येक संस्कृति में सशक्त प्रेरक सिद्धांतों का पाया जाना अनिवार्य नहीं है, परन्तु प्रेरक मान्यताएँ हमें संसार की प्रायः हर संस्कृति में मिलेंगी। ये मान्यताएँ अनेक प्रकार की होती हैं। उनमें से कुछ अनिवार्य होती हैं। समाज का प्रत्येक भाग उनसे प्रभावित होता है तथा उनके अनुकूल अपने जीवन की योजना बनाने को बाध्य होता है। वैकल्पिक प्रेरक मान्यताओं में कुछ अनिवार्य न होते हुए भी बहुमान्य होती हैं, और बहुमान्य होने के कारण अधिक सम्मानित होती हैं। कुछ मान्यताएँ सम-मान्य होती हैं और उनमें से किसी भी एक का निर्वाचन व्यक्ति कर सकता है। अन्त में एक श्रेणी ऐसी प्रेरक मान्यताओं की भी होती है जो 'सीमित' होती हैं और जिनका प्रसार और प्रभाव समाज के खंड या अंशमात्र तक सीमित रहता है। कुछ प्रेरक मान्यताएँ समाज-घोषित होती हैं और कुछ समाज की प्रक्रियाओं में लुप्त। उनके रूप में भिन्नता होती है, उद्देश्य में नहीं। उनका पहला उद्देश्य होता है कुछ विशेष प्रकार के व्यवहारों पर नियंत्रण; दूसरा, समाज में विशेष श्रेणियों के ऐसे कार्यों को समर्थन देना, जो या तो स्पष्ट रूप से समाज-स्वीकृत हैं या जिनको समाज की मौन स्वीकृति प्राप्त है। ये आदर्श मूल्य, प्रेरक सिद्धांत और प्रेरक मान्यताएँ संस्कृति के जीवन-तत्त्व की भाँति रहती हैं और उनके बाह्य उपकरणों को सम्बद्ध कर उन्हें अनुप्राणित करती हैं।

२

मानव और प्रकृति

एक

मानव और परिसर

मानव के जीवन और संस्कृति के प्राय: प्रत्येक पक्ष में प्रकृति और परिसर का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। समाज-विज्ञान, समाज-दर्शन तथा प्रकृति-विज्ञान के कुछ विद्वानों का तो यह निश्चित मत रहा है कि परिसर का सार्वभौम प्रभाव मनुष्य के जीवन की पूर्ण रूपरेखा ही निश्चित कर देता है, और विभिन्न मानव-समुदायों में पाई जाने वाली सांस्कृतिक तथा मानसिक भिन्नताएँ उनकी भौगोलिक तथा प्राकृतिक स्थिति के अंतर के अध्ययन से भली भाँति समझी जा सकती हैं। संभवतः यह सिद्धान्त वास्तविकता से उतनी ही दूर है जितना कि जन-साधारण का यह सामान्य अंध-विश्वास कि 'रक्त' में अपने कुछ विशेष गुण होते हैं जो क्रमशः भूत और वर्तमान की शारीरिक तथा बौद्धिक परंपरा को भविष्य में भी बनाए रखते हैं। आधुनिक काल में मानव और प्रकृति के पारस्परिक संबंधों के जो नृतत्व-शास्त्रीय तथा समाज-शास्त्रीय अध्ययन हुए हैं उनसे यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित हो चुका है कि समान प्राकृतिक परिस्थितियों और वातावरण में रहने वाले मानव-समुदायों में भी अनेक मूलभूत सांस्कृतिक भिन्नताएँ संभव हैं। आस्ट्रेलिया के दक्षिण-पूर्वी भाग में पहले शिकार और खाद्य-संकलन करने वाली जातियाँ ही रहती थीं, किन्तु अब उसी क्षेत्र में सफलतापूर्वक कृषि तथा पशु-पालन करने वाले यूरोपीय समुदाय बस गए हैं। एरीज़ोना में पहले खाद्य-संकलन तथा अब प्रमुख रूप से पशु-पालन करने वाले नवाहो, नदियों की बाढ़ के पानी से खेती करने वाली होपी जाति के सदा से समवर्ती रहे हैं।

पशु-पक्षी तथा वृक्ष आदि प्रायः पूर्ण रूप से अपने जीवन के लिए प्रकृति तथा वातावरण पर अवलंबित रहते हैं, किन्तु मनुष्य अपनी आविष्कार-प्रतिभा, संचित अनुभव, अन्य समुदायों के ज्ञान से लाभ उठा सकने की क्षमता तथा

सुगमतापूर्वक स्थान-परिवर्तन कर सकने की योग्यता के कारण अपने जीवन की परिस्थितियों को अपने प्रयासों द्वारा परिवर्तित कर सकता है । इसी कारण अपने जीवन में वह पूर्ण रूप से प्रकृति का दास नहीं होता । किन्तु मनुष्य के साधनों और प्रयासों की अपनी सीमाएँ होती हैं, और विज्ञान के आधुनिक तंत्रों से अपरिचित प्राथमिक मानव प्रकृति की सवल शक्तियों से प्रत्येक क्षेत्र में युद्ध नहीं कर सकता। संसार के कुछ क्षेत्रों की भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि वहाँ सामान्य सामाजिक जीवन प्राय: असंभव होता है। हिम प्रदेशों में रहने वाले एस्किमो, मध्य आस्ट्रेलिया के जलहीन मरुस्थलों के वासी अथवा कल्हारी के रेगिस्तान में वसने वाले वुशमेन, ये सब भौगोलिक साधनों की सीमाओं तथा जलवायु के कठोर रूप को अपने प्रयत्नों से पराजित नहीं कर सकते । परिस्थितियाँ इन्हें एक विशिष्ट ढंग का जीवन-यापन करने के लिए विवश कर देती हैं, और इस तरह इनकी जीवन-दृष्टि और संस्कृति का निर्माण मुख्य रूप से प्रकृति ही करती है। जीवन का भौतिक आधार प्रकृति ही निश्चित करती है, यद्यपि मानव के प्रयत्न उसमें महत्त्वपूर्ण परिवर्तन कर सकने में समर्थ होते हैं। हिम प्रदेश में रहने वाले समूहों को कठिन शीत से वचने के लिए विशेष प्रकार के स्थायी घर वनाने पड़ते हैं। इसके विपरीत जलहीन अनुर्वर मरु-प्रदेशों में रहने वाले समुदायों को अपने अस्थिर जीवन के कारण अस्थायी कुटियों में ही अपना पूरा जीवन बिताना पड़ता है। जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन मनुष्य को प्रकृति से ही प्राप्त होते हैं और उसके भोजन, वेश-भूषा तथा जीवन की अन्य भौतिक आवश्यकताओं का वहुत वड़ा अंश उसे अपने क्षेत्र में सुगमतापूर्वक मिल सकने वाली वस्तुओं से प्राप्त करना पड़ता है। हिम-प्रदेश के एस्किमो वस्त्रों के स्थान पर चमड़े का उपयोग करते हैं, टाहिटियन लोग वल्कल वस्त्रों का प्रयोग करते हैं और कुछ अन्य क्षेत्रों में घास से वने हुए परिधानों का उपयोग होता है ।

अपने दैनिक जीवन में मनुष्य साधारणत: उन्हीं खाद्य-पदार्थों का उपयोग करता है जो उसके क्षेत्र की भूमि और जलवायु में पैदा होते हैं या सरलतापूर्वक उत्पन्न किये जा सकते हैं। इन भौगोलिक तथा प्राकृतिक परिस्थितियों का प्रभाव मनुष्य के सांस्कृतिक जीवन पर भी पड़ता है। ऐसे क्षेत्रों में जहाँ वर्षा अनिश्चित होती है और जहाँ के निवासी सामान्यत: कृषि पर अपनी जीविका के लिए अवलंवित रहते हैं, समय पर तथा उचित मात्रा में वृष्टि के लिए धार्मिक कृत्य करना वहाँ के सांस्कृतिक जीवन का एक अंग वन जाता है। आधुनिक सभ्यता के अस्त्रों से सुसज्जित अपेक्षाकृत विकसित मानव-समुदाय प्रकृति पर अनेक रूप से अपना अधिकार करते जा रहे हैं, किन्तु अनेक नैसर्गिक सीमाओं से वद्ध प्राथमिक मानव

को परिस्थितियों से विवश होकर प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से अनेक क्षेत्रों में प्रकृति का दासत्व स्वीकार करना पड़ता है। प्राथमिक मानव ने भी अपने संस्कृति के संकुचित दायरे में अपना सीमित विज्ञान, यंत्र कला तथा जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति को एक विशिष्ट ढंग से विकसित करने का प्रयत्न किया है। अपने इसी ज्ञान तथा कौशल से वह प्रकृति से जीवन की आवश्यकताएँ—खाद्य, वस्त्र, आश्रय आदि—प्राप्त करने का प्रयास करता है और यदि संभव होता है तो इन आवश्यकताओं से कुछ अधिक अर्जित कर जीवन के आमोद-प्रमोद के साधनों में वृद्धि करना चाहता है।

किसी भी अर्थ-व्यवस्था का उद्देश्य होता है समुदाय की आवश्यकताओं तथा परिसर की प्राकृतिक सम्पत्ति में संतुलन बनाए रखना। सामान्यतः ये आर्थिक संगठन तीन पूरक सिद्धान्तों पर आश्रित रहते हैं जिन्हें हम 'भौतिक', 'औपचारिक' तथा 'मनोवैज्ञानिक' सिद्धान्त कह सकते हैं।

इनमें से प्रथम सिद्धान्त मानव और वातावरण के संबंधों तथा मानवीय संस्कृति के भौतिक आधार—भौतिक संस्कृति—से संबंधित है। परिसर से क्या मिल सकता है? किन साधनों और क्रियाओं से मानव इन उपयोगी वस्तुओं को प्राप्त करता है? किन क्रियाओं से उनके स्वरूप को बदलता है? इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर इस सिद्धान्त के अंतर्गत हैं।

समूह का संगठन, आर्थिक प्रक्रियाओं का संचालन, श्रम-विभाजन, सामूहिक जीवन में व्यक्ति के आर्थिक उत्तरदायित्व तथा कर्तव्य आदि समस्याओं का समाधान औपचारिक सिद्धान्त की परिधि में आता है।

मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त आदि-संस्कृतियों के आर्थिक मूल्य निर्धारित करता है तथा आर्थिक संस्थाओं के प्रति जन-साधारण का मूलभूत दृष्टिकोण निश्चित करता है।

इन तीन सिद्धान्तों के अतिरिक्त ऐतिहासिक सम्पर्क तथा संयोग का उल्लेख भी आवश्यक है। अनेक बार संयोगवश भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के लोग एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं और संस्कृति-तत्त्वों का आदान-प्रदान करते हैं।

जीवन-यापन के साधनों के आधार पर प्राथमिक संस्कृतियों के अनेक वर्गीकरण किये गए हैं। परिसर में उपलब्ध खाद्य-सामग्री तथा समाज के ढांचे और आर्थिक आदर्शों में जो पारस्परिक संबंध हैं उनके आधार पर सर्वदेशीय-सर्वकालीन सिद्धान्त निश्चित करना कठिन है। यह सच है कि शिकार करने वाले समुदाय सघन वनों में छोटे-छोटे दलों में एक-दूसरे से काफी दूरी पर रहते हैं और बड़ी तेजी से स्थान परिवर्तन कर सकते हैं। इनके विपरीत कृषि करने वाले

समुदाय बड़े और स्थायी गाँवों में रहते हैं और चल और अचल सम्पत्ति के कारण उनके सामाजिक संबंधों में भी स्थायित्व रहता है। सामान्य रूप से उनके संबंध में इतना तो कहा जा सकता है, परन्तु परिसर और जीविका-साधन के आधार-मात्र पर उनकी संस्कृति के संबंध में अधिक कुछ कहना अनुचित होगा, क्योंकि संस्कृतियों का विशिष्ट स्वरूप अनेक जटिल कारकों तथा ऐतिहासिक संयोगों से निश्चित होता है।

आदि-संस्कृतियों में आर्थिक मूल्य भिन्न प्रकार के होते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि जो सिद्धान्त तथा प्रक्रियाएँ विकसित संस्कृतियों के लिए आदर्श हैं वे आदि-संस्कृतियों को भी उसी रूप में स्वीकार हों। उदाहरणार्थ, ट्रोब्राइण्ड द्वीपों के निवासी अभी भी परंपरागत ढंग से छोटी-छोटी नौकाओं में समूह बनाकर मछली मारने जाते हैं, यद्यपि यूरोपीय जातियों से सम्पर्क की आज की नई स्थिति में उतने ही या उससे भी कम परिश्रम से मोती की सीपें निकालकर वे अपनी आय में बीस गुनी वृद्धि तक कर सकते हैं। न्यू गिनी के वासी कई माह के परिश्रम से अर्जित धन को एक-दो दिन में ही अपने संबंधियों को भेंट-उपहार आदि देकर या सस्ते चमकदार गहने खरीदकर समाप्त कर देते हैं। उत्तर अमरीका के उत्तर-पश्चिम तट के कई इंडियन समूहों में, विशेषकर हैदा समूह में, 'पॉटलैश' नामक प्रथा का प्रचलन है, जिसके अनुसार वे वर्षों के परिश्रम से प्राप्त अत्यंत मूल्यवान सम्पत्ति को जान-बूझकर केवल इसलिए नष्ट कर देते हैं कि जन-साधारण की दृष्टि में उनके विरोधियों की अपेक्षा उनका सम्मान अधिक बढ़ जाय।

अनेक संस्कृतियाँ ऐसी भी हैं जिनमें मनुष्य परिश्रमपूर्वक खाद्य का संकलन तो करता है, किन्तु उसका उपभोग स्वयं न कर उसे अपने सम्बन्धियों अथवा समूह के प्रधानों में बाँट देता है। अन्य कुछ संस्कृतियों में व्यक्ति अपने उत्पादित खाद्य का सर्वोत्कृष्ट अंश सर्व-साधारण को दिखाने के लिए घरों के विशेष भाग में अनिश्चित काल के लिए रख देते हैं और उसके सड़ने या नष्ट होने तक उसे वहाँ से नहीं उठाते। यह निश्चित है कि इस प्रदर्शन के लिए उन्हें अपनी दैनिक आवश्यकताएँ सीमित करनी पड़ती हैं, और इस विनाशकारी प्रदर्शन में उनके श्रम द्वारा प्राप्त फल का पर्याप्त अंश व्यर्थ ही नष्ट हो जाता है। इसी तरह कई प्रारंभिक संस्कृतियों में परिवार वर्षों तक परिश्रम कर और प्रयत्नपूर्वक अपनी आवश्यकताओं को कम करके धन का संचय करते हैं, और अंत में विशाल जातीय भोजों में दो-चार दिन में ही इस संचित धन का व्यय कर देते हैं। इन भोजों से उन्हें किसी भी प्रकार के आर्थिक लाभ की आशा नहीं रहती। इनके द्वारा वे केवल सामाजिक सम्मान, गुप्त समिति की

सदस्यता, विशेष मंत्र या औषधि का नुस्खा, विशेष वेश-भूषा, आभूषण या शस्त्र धारण करने का अधिकार आदि ही प्राप्त कर सकते हैं। आधुनिक सभ्यता के आर्थिक मूल्यों की दृष्टि से यह संचित धन का अपव्यय ही माना जायगा। यह भी कहना आवश्यक है कि अनेक आदि-संस्कृतियों में जन्म, विवाह, मरण आदि के अवसरों पर आवश्यकता से अधिक व्यय किया जाता है।

आदि-संस्कृतियों में जीवन के विभिन्न पक्ष एक-दूसरे से अविभाज्य रूप से संबंधित रहते हैं। इसीलिए हम ऐसी संस्कृतियों में जीवन के आर्थिक पक्ष को सामाजिक अथवा धार्मिक पक्षों से सुगमतापूर्वक अलग नहीं कर सकते। आर्थिक क्रियाएँ धार्मिक विश्वासों, सामाजिक लोकाचार तथा अन्य रीति-रिवाजों में इस तरह घुल-मिल जाती हैं कि उनके वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए हमें आदिवासियों के पूर्ण जीवन और संस्कृति को एक इकाई मानकर ही उस पर विचार करना चाहिए।

दो
आर्थिक संगठन

मानव और परिवार के पारस्परिक संबंधों की सामान्य विवेचना करने के बाद, आदि-संस्कृतियों में आर्थिक संगठन के प्रमुख स्वरूपों का संक्षिप्त विश्लेषण करना आवश्यक है।

भोजन प्राप्त करने अथवा उत्पन्न करने के ढंगों के आधार पर आर्थिक संगठन के चार मुख्य स्तर हमें इन संस्कृतियों में मिलते हैं। वे स्तर निम्न हैं :

१. संकलन-आखेटक स्तर।
२. पशु-पालन स्तर।
३. कृषि-स्तर।
४. शिल्प-उद्योग स्तर।

इनमें से प्रथम स्तर में मानव भोजन का उत्पादन नहीं, संकलन करता है। यह सच है कि उसे भोजन—कंद, मूल, फल, वनों में उत्पन्न अन्न, शिकार, मछली आदि—की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना पड़ता है, किन्तु उसके प्रयत्न संकलन के होते हैं, उत्पादन के नहीं। पशु-पालन स्तर संकलन और उत्पादन के स्तरों में मध्यवर्ती माना जा सकता है। जब मनुष्य पशुओं और उनसे प्राप्य भोजन की वृद्धि के लिए विशेष प्रयत्न करता है, तभी उसे उत्पादन-स्तर की अर्ध-अवस्था माना जा सकता है। कृषि और शिल्प-उद्योग निश्चित रूप से उत्पादन-स्तर में आते हैं। कृषि से प्रत्यक्ष रूप से भोजन की प्राप्ति होती है। शिल्प-उद्योगों के उत्पादन के विक्रय अथवा परिवर्तन से खाद्य-सामग्री प्राप्त की जाती है।

उपर्युक्त स्तरों की सांस्कृतिक विशेषताओं का विश्लेषण करने के पूर्व यह कहना अत्यंत आवश्यक है, कि संसार की किसी भी आदि-संस्कृति को पूर्ण रूप से किसी एक ही वर्ग में रख सकना प्रायः असंभव है। मुख्यतः खाद्य-संकलन पर

अवलंबित रहने वाली संस्कृतियों में थोड़े-बहुत परिमाण में पशु-पालन, प्राथमिक कृषि अथवा किसी शिल्प-उद्योग का विकास प्रायः देखा जाता है। इसी तरह मूलतः प्राथमिक कृषि पर अवलंबित रहने वाली जातियाँ भी अल्प परिमाण में खाद्य-संकलन करती हैं या कभी-कभी किसी विशिष्ट उद्योग अथवा व्यवसाय से उनकी आजीविका का एक अंश प्राप्त होता है। इस वर्गीकरण का आधार हमें उनके आर्थिक संगठन की मुख्य धारा को ही मानना चाहिए।

संकलन-आखेटक स्तर : इस स्तर को दो प्रमुख उपभागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम उपभाग में सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद संकलित खाद्य का कोई भी भाग विनिमय के लिए शेष नहीं रहता। दूसरे उपभाग में संकलन की मात्रा इतनी रहती है कि उसका एक अंश सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद भी विनिमय के लिए शेष रह जाता है।

इस स्तर के प्रथम उपभाग में भारत के काडर और चेंचू, लंका के वेड्डा, आस्ट्रेलिया के अधिकांश मूलनिवासी, फिलिपीन और मलय प्रायद्वीपों के पिग्मी समूह, अंदमान द्वीप के आदिवासी तथा अफ्रीका के बुशमेन आदि समूह आते हैं। इन समूहों के जीवन-यापन के साधन प्रायः संपूर्ण रूप से भौगोलिक तथा प्राकृतिक साधनों पर अवलंबित रहते हैं। इनकी जीविका के मुख्य साधन होते हैं शिकार, मछली मारना तथा वन पर्वत आदि से कंद, मूल, फल, शाक-पात, मधु इत्यादि एकत्रित करना। भौगोलिक परिस्थितियों के अनुकूल होने पर वे उपर्युक्त विधियों में से प्रायः प्रत्येक विधि से खाद्य संकलित करते हैं, किन्तु परिस्थितियों के विपरीत होने पर जो साधन सहज ही उपलब्ध होते हैं उनका आश्रय ही उन्हें लेना पड़ता है। जिन क्षेत्रों में इस प्रकार के आर्थिक संगठन मिलते हैं उनमें आबादी घनी नहीं होती। ऐसी संस्कृतियों में आर्थिक जीवन की स्वयं-पूर्ण इकाई का आकार अत्यंत सीमित होता है और उनकी सदस्य-संख्या प्रायः ४० से ७० तक रहती है। ये जातियाँ संगठित रूप से विधिपूर्वक खाद्य-संकलन करती हैं; तरुणों और वयस्क पुरुषों के दल शिकार करने या मछली मारने जाते हैं; स्त्रियों के दल वनों से खाद्य-पदार्थ संकलित करते हैं। ऋतु के अनुसार खाद्य-संकलन की दृष्टि से ये समुदाय स्थान-परिवर्तन करते रहते हैं। यद्यपि दैनिक जीवन में पूर्णतः व्यक्तिगत प्रयत्नों से संकलित खाद्य का वितरण समूह में नहीं किया जाता, समूह द्वारा संगठित रूप से संकलित किये गए पदार्थों का श्रम-विभाजन प्रायः समानता के आधार पर ही किया जाता है। इन संस्कृतियों में श्रम-विभाजन आयु-भेद तथा यौन-भेद के आधार पर किया जाता है। विशिष्ट आर्थिक क्रियाओं की व्यक्तिगत अथवा स्थानीय विशेषज्ञता इन जातियों में प्रायः

देखने में नहीं आती। खाद्य-संकलन, आखेट और मछली मारने के क्षेत्र व्यक्ति अथवा परिवार की संपत्ति न होकर सामूहिक संपत्ति होते हैं। इस आर्थिक स्तर के समूहों में धन और सम्पत्ति के आधार पर वर्ग-विभाजन देखने में नहीं आता। सम्पत्ति की दृष्टि से समाज में समता की भावना ही अधिक दृष्टिगत होती है।

इस स्तर का द्वितीय उपभाग, जिसमें संकलित खाद्य का एक अंश विनिमय के लिए शेष रहता है, संसार के थोड़े ही भागों में मिलता है। उत्तर-पश्चिम केलिफोर्निया के तटीय इंडियन समूहों से अलास्का तक के कतिपय समूहों में इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था मिलती है। विनिमयहीन संकलन-स्तर की संस्कृतियों की तुलना में इन समूहों की आबादी कुछ घनी होती है। यद्यपि इनमें भी समूह की स्थानीय इकाई का आकार लघु होता है, उनका विनिमय-क्षेत्र अपेक्षाकृत व्यापक होता है। उनके ग्राम व्यापार-केन्द्रों से संबद्ध रहते हैं। खाद्य संकलन करने वाले दलों में समूहों के प्रधानों का नेतृत्व इस स्तर की कार्य-प्रणाली की विशेषता है। कार्य-संचालन के पारिश्रमिकस्वरूप प्रधान को संकलित खाद्य का विशेष भाग मिलता है। इस तरह इस उपभाग की व्यवस्था उतनी प्रजातन्त्रात्मक नहीं है जितनी प्रथम उपभाग की। यौन आधार पर श्रम-विभाजन के अतिरिक्त, विशिष्ट क्षेत्रों में विशेषज्ञता भी इस स्तर पर पाई जाती है। संकलन के क्षेत्रों पर सामूहिक अधिकार न होकर व्यक्तियों, विशेषकर प्रधानों, का अधिकार होता है। व्यय के बाद बचे अंशों का विनिमय होता है। यह स्वाभाविक ही है कि इन समूहों में सम्पत्ति की विशेषताएँ पाई जायँ।

इस स्तर की संस्कृतियाँ उनके खाद्य-प्राप्ति के साधनों के आधार पर 'वनस्पति संकलनकर्त्ता', 'आखेटक' और 'मछली मारने वाले समूह', इन तीन भागों में भी विभाजित की जा सकती हैं, यद्यपि अनेक संस्कृतियों में, प्राकृतिक साधनों और आवश्यक अस्त्र-शस्त्र और अन्य उपकरणों के उपलब्ध होने पर, जीवन-यापन के इन तीनों साधनों का मिला हुआ रूप हमें दीख पड़ता है। वन से खाद्य-संकलन के लिए संभवत सबसे कम उपकरणों की आवश्यकता पड़ती है। कुदाल, टोकरों और थोड़े से मिट्टी के बर्तनों से ही उनका काम चल जाता है। इन समूहों में पर्याप्त स्थानीय ज्ञान पाया जाता है। किस ऋतु में संकलन क्षेत्र के कौनसे भाग में भोजन का कौनसा पदार्थ उन्हें मिल सकता है; यह ज्ञान इन समूहों के लिए अनिवार्य होता है। भोजन-प्राप्ति के ढंग तथा संग्रहीत सामग्री को भोज्य बनाने की विधियाँ भी उन्हें सीखनी पड़ती हैं। आखेटक समूहों को शस्त्रों, यंत्रों और उपकरणों की आवश्यकता अधिक पड़ती है। शिकार में वे भाले, धनुष-बाण, फंदों आदि का उपयोग करते हैं। ये उपकरण अनेक प्रकार के होते हैं। संसार के विभिन्न

भागों में पाए जाने वाले अस्त्र-शस्त्रों में बड़ी विविधता दीख पड़ती है। शिकार व्यक्तियों द्वारा स्वतंत्र रूप से किया जा सकता है और सुसंगठित दलों द्वारा सामूहिक रूप से भी। मछली मारने के संबंध में भी यही कहा जा सकता है। मछलियाँ भाले या तीर से मारी जा सकती हैं, जाल और फंदों से पकड़ी जा सकती हैं, और हलके विषों के प्रभाव से उन्हें अर्ध-चेतन अथवा अचेतन अवस्था में भी पकड़ा जा सकता है। शिकार और मछली मारना दोनों के लिए पर्याप्त स्थानीय ज्ञान आवश्यक होता है।

पशु-पालन स्तर : निश्चित रूप से यह कह सकना कठिन है कि मनुष्य ने पशु-पालन कब आरंभ किया। कुत्ता मनुष्य का बहुत पुराना साथी है, यद्यपि संसार के अधिकांश भागों में उसका उपयोग प्रहरी के रूप में अधिक और भोजन के रूप में कम किया जाता है। कृषि के लिए और भोजन के रूप में उनका उपयोग करने के अतिरिक्त पालतू प्राणियों के धार्मिक उपयोग भी महत्त्वपूर्ण हैं। पशु-पालन थोड़े-बहुत परिमाण में प्रायः संसार की सभी संस्कृतियों में होता है, परन्तु ऐसे समूहों की संख्या बहुत अधिक नहीं है जो अपनी जीविका के लिए संपूर्णतः पशु-पालन पर अवलंबित हों।

चरागाहों में अपने पशुओं के साथ घूम-फिरकर जीवन बिताने वाले समूह हमें स्टेपी और अधिक घास उत्पन्न होने वाले क्षेत्रों में मिलते हैं। मरुस्थलों में भी ऐसे कुछ समूह पाए जाते हैं। एस्किमो समूह रेंडियर का पालन करते हैं। इस स्तर के समूह या तो प्रत्यक्ष रूप से पशुओं के माँस और दूध पर जीवित रहते हैं, या वे माँस, दूध और दूध से बने भिन्न-भिन्न पदार्थों के विक्रय से जीवन की अन्य आवश्यकताएँ उपलब्ध करते हैं। गाय-बैल, घोड़े, भेड़, बकरी और ऊँट सामान्यतः अधिक पाले जाते हैं। इन समूहों को चरागाहों की खोज में विभिन्न ऋतुओं में जगह-जगह जाना पड़ता है, यद्यपि अधिकांश समूहों के विभिन्न दल वर्ष के किसी निश्चित भाग में अपने-अपने निश्चित स्थानों पर एकत्रित होते हैं। इन समूहों को चारे-पानी के स्थानों का ज्ञान, तथा माँस और दूध के विविध उपयोगों की क्रियाओं से परिचित होना अनिवार्य होता है।

कृषि-स्तर : इस स्तर के अंतर्गत फलोद्यान-आश्रित अर्थ-व्यवस्था और कृषि-आश्रित अर्थ-व्यवस्था, दोनों पर विचार किया जा सकता है।

भोजन देने वाले वृक्षों का आरोपण मानव ने संभवतः सबसे पहले इथियोपिया से उत्तर भारत तक की पर्वतीय घाटियों में, दक्षिण-पूर्व एशिया में और मेक्सिको से चिली तक की उच्च भूमि में किया। कुदाल (डिगिंग स्टिक) की सहायता से ही संभवतः मनुष्य ने वृक्षारोपण किया, क्योंकि कालान्तर में आविष्कृत

हो और फावड़ा इस कार्य के लिए अधिक उपयोगी प्रमाणित नहीं हुए। इंडोनेशिया, पेरू और इस तरह के अन्य दो-चार क्षेत्रों के अतिरिक्त, जहाँ भूमि की उर्वरता के कारण स्थायी फलोद्यान लगाए जा सके, संसार के अधिकांश भागों में उनका कालांतर में स्थानान्तरित होना आवश्यक हुआ। औज़ारों की कमी के कारण ये उद्यान घास के मैदानों और उर्वर भूमि में न लगाए जाकर अधिकांशतः वन-भूमि और रेतीली ज़मीन पर लगाये गए। खाद की कमी और लगाए जाने वाले पेड़ों में परिवर्तन न होने के कारण, भूमि की उर्वरता कुछ वर्ष में नष्ट हो गई और इस तरह नये स्थानों पर वृक्षारोपण अनिवार्य हो गया। केला, नारियल, ब्रेड-फ्रूट, और विविध प्रकार के कंद-मूल आदि का लगाना मनुष्य ने पहले आरंभ किया। इन वृक्षों की सूची क्रमशः बढ़ती गई।

अन्नों की खेती की तीन भिन्न प्रणालियाँ हैं जो अन्न के तीन महत्त्वपूर्ण प्रकारों पर अवलंबित हैं। दक्षिण-पूर्व एशिया में चावल की खेती आरंभ हुई। गेहूँ शेष एशिया, यूरोप और उत्तर अफ्रीका में विकसित-प्रसारित हुआ। मक्का अमरीकी महाद्वीपों की उपज है। कृषि ने, जो मानव को नव-प्रस्तर युग की सांस्कृतिक क्रान्ति की देन है, मानव की अर्थ-व्यवस्था और उसके साथ उसकी सामाजिक-धार्मिक व्यवस्था का रूप ही बदल दिया। 'डिगिंग-स्टिक' से प्रारंभ होकर कालांतर में खेती के लिए 'हो' का उपयोग किया गया। क्रमशः कृषि-स्तर के समूहों की भौतिक संस्कृति विकसित होती गई। पशु-शक्ति के प्रयोग के साथ ही नये, अधिक सशक्त औज़ारों का आविष्कार और विकास होता गया।

कृषि-स्तर की संस्कृतियों को भी दो प्रमुख उपभागों में विभाजित किया जा सकता है: सरल कृषि-व्यवस्था, और विकसित कृषि-व्यवस्था।

सरल कृषि-व्यवस्था पॉलीनेशिया, मेलानेशिया, मलय-एशिया, भारत के कई आदिवासी समूहों में तथा अन्यत्र भी मिलती है। इस स्तर की संस्कृतियों में जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद उत्पादित खाद्य का बहुत थोड़ा भाग विनिमय के लिए शेष रहता है। इन संस्कृतियों की स्वयं-पूर्ण आर्थिक इकाइयाँ स्थानीय समूह अथवा ग्राम रहते हैं। उनकी जनसंख्या २००० से अधिक नहीं होती। खेती का काम अधिकांशतः व्यक्ति और उनके परिवार स्वतंत्र रूप से करते हैं। उत्पादन पर अधिकार भी उनका ही होता है। फसल काटने या एकत्रित करने के लिए कभी-कभी संगठित दल सामूहिक रूप से भी काम करते हैं। यौन आधार पर श्रम-विभाजन के अतिरिक्त, कई उद्योगों में, जैसे मिट्टी के बर्तन बनाना, टोकरे बनाना, कपड़ा बुनना आदि, विशेषज्ञता का विकास भी इस स्तर पर दीख

पड़ता है। कृषि तथा इस प्रकार की विशेषज्ञता के कारण अपेक्षाकृत अल्प परिश्रम से ही इन संस्कृतियों मे जीवन की आवश्यकताएँ उपलब्ध हो जाती हैं और इस तरह समूह के अनेक व्यक्तियों को पर्याप्त अवकाश मिल सकना इस स्तर पर संभव होता है। इस अवकाश के कारण कला-कौशल तथा हस्त-उद्योग में विकास के साथ सामाजिक-धार्मिक संगठन के क्षेत्रों में विशेषज्ञता की वृद्धि की संभावनाएँ भी बढ़ जाती हैं। खेत, आखेट-क्षेत्र आदि पर सामूहिक अधिकार होता है, परन्तु उन पर कार्य व्यक्तिगत-पारिवारिक आधार पर किया जाता है। धन-संपत्ति-संबंधी भेद अधिक न होने के कारण इन समूहों में वर्ग-भेद विकसित अवस्था में नहीं दीख पड़ता। इस स्तर की संस्कृतियों में प्रधानों के शासक-वंश प्रायः नहीं होते, जन-साधारण को शासकों को कर अथवा भेंट देने की आवश्यकता भी नहीं पड़ती।

विकसित कृषि-स्तर की संस्कृतियों का वर्णन संक्षेप में कर सकना कठिन है। पिछले तीन-चार हजार वर्षों में संकलन-स्तर और सरल कृषि के स्तर के अनेक समूह विकसित होकर इस स्तर पर आ पहुँचे हैं। ये संस्कृतियाँ अनेक जटिल रूपों में विकसित हुई हैं। इस प्रकार की संस्कृतियों में बड़े-बड़े ग्राम और उनके बीच-बीच में नगर भी पाए जाते हैं। उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत अधिकार होता है, जो कई समूहों में थोड़े से व्यक्तियों तक ही सीमित रहता है। अतः थोड़े-से व्यक्तियों की सम्पत्ति पर बहुतों को काम करना पड़ता है। सम्पत्ति और सत्ता के आधार पर समाज में वर्ग-भेद विकसित हो जाता है। साधनों की प्रचुरता के कारण समाज के एक अंश को पर्याप्त अवकाश रहता है। वे दूसरों का श्रम और विशेष ज्ञान अपनी सम्पत्ति के बल पर खरीद सकते हैं। विशेष श्रेणी के श्रमिक अपने शिल्प और कौशल के आधार पर जीवन व्यतीत कर सकते हैं, क्योंकि खाद्य-उत्पादन में प्रत्यक्ष रूप से लगे समूह उनका लाभ उठाते हैं।

शिल्प-उद्योग स्तर : पूर्ण रूप से शिल्प-उद्योग पर आश्रित संस्कृतियाँ अधिक नहीं पाई जातीं। वैसे तो संकलन-आखेटक स्तर की संस्कृतियों में भी शिल्प-उद्योग के कुछ-न-कुछ रूप विकसित हो ही जाते हैं, किन्तु इन पर आर्थिक रूप से आश्रित रहने वाली श्रेणी उसी समय समाज का अंग बनती है जब समाज के खाद्योत्पादक अंगों के पास दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद विनिमय के लिए पर्याप्त धन बचने लगता है। कृषि के क्रमिक विकास के साथ शिल्प-उद्योगों का स्तर भी विकसित होता है। अवकाश और साधनों की बहुलता उपयोगिता-वादी शिल्पों को उनके कलात्मक विकास की ओर उन्मुख करती है।

उपहार, व्यापार और विनिमय

आदि-जगत् की अर्थ-व्यवस्थाओं में उपहार और व्यापार-विनिमय दोनों का अलग महत्त्व है। उपहारों का उद्देश्य उत्पादन के वितरण द्वारा व्यक्तिगत एवं सामूहिक संबंधों को स्थायित्व देना होता है। इसके विपरीत, व्यापार और विनिमय में उत्पादन के वितरण और पुर्नवितरण का ही महत्त्व अधिक रहता है।

उपहार देने की प्रथा संसार के प्रायः सभी समाजों में पाई जाती है। मूलतः सामाजिक उद्देश्य से प्रेरित इस प्रथा का आर्थिक पक्ष भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। अंदमान द्वीप के अत्यंत प्राथमिक आदि-समाजों से लेकर अत्यंत विकसित समाजों तक में हम इस प्रथा को उसके अनेक रूपों में देख सकते हैं। आर्थिक दृष्टि से मूल्यवान और उपयोगी वस्तुओं के अतिरिक्त, प्रतिष्ठा की दृष्टि से मूल्यवान किन्तु आर्थिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से मूल्यहीन और निरुपयोगी वस्तुएँ तक उपहार में दी जाती हैं। जन्म, विवाह, मृत्यु आदि के अवसरों पर इनका विशेष प्रचलन पाया जाता है। कई प्रकार के उपहारों का लेना या देना अनिवार्य होता है, अन्य का वैकल्पिक। अनेक आदि-समाजों में उपहार देना अधिकार और कर्तव्य की शृंखला से जुड़ा रहता है, और उनका अभाव अन्तर-सामूहिक संबंधों को विशृंखलित कर सकता है।

व्यापार और विनिमय के अनेक सरल और जटिल रूप हमें आदि-संसार में दीख पड़ते हैं। लंका के वेड्डा, उत्तर प्रदेश के राजी, और संसार के अन्य कई समूहों में 'मूक-वस्तु-विनिमय' का प्रचलन है, जिसके द्वारा दो समूह अपने उत्पादन का विनिमय कर एक-दूसरे से अपनी दैनिक आवश्यकता की वस्तुएँ प्राप्त करते हैं। मूक-वस्तु-विनिमय में वस्तुओं का मोल-भाव नहीं किया जाता। एक समूह रात्रि के अंधकार में अपने उत्पादन का एक अंश अपनी आवश्यकताओं के संकेत के साथ छोड़ देता है, और कुछ समय बाद उसी स्थान से अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ ले जाता है। अधिक विकसित प्रकार के वस्तु-विनिमय में आर्थिक लाभ की दृष्टि से मोल-भाव करने की कुशलता का उपयोग पूरी तरह किया जाता है। इन क्रियाओं में मुद्राओं अथवा विनिमय के अन्य माध्यमों का उपयोग नहीं किया जाता।

व्यापार क्रय-विक्रय द्वारा भी किया जाता है, और इसमें अनेक प्रकार के विनिमय के माध्यमों का उपयोग होता है। संसार के अनेक भागों में पशु, तरह-तरह के शंख और कौड़ियाँ, चटाइयाँ आदि विनिमय के माध्यम के रूप में प्रचलित हैं। भारत के उत्तर-पूर्वी सीमान्त प्रदेश में तिब्बती घंटियों के माध्यम से व्यापार होता है। वैसे मुद्राओं का प्रचार भी अब अधिक होता जा रहा है।

व्यापार के अनेक प्रकार आदि-संसार में पाए जाते हैं। उत्तर-पश्चिमी मेलानेशिया के 'कूला' का उदाहरण आदि-संसार की एक अत्यंत जटिल एवं औपचारिक व्यापार-प्रथा का प्रतिनिधित्व करता है। 'कूला' एक आर्थिक क्रिया-मात्र नहीं है; उसे व्यापार, जादू, धार्मिक विनिमय, यात्रा और मनोरंजन का संकुल मानना अधिक उपयुक्त होगा। इस व्यापार-चक्र में म्वाली नामक सफेद सीप के कंगन और सौलह्वा नामक लाल सीप के बने हार का विनिमय एक विशेष दिशा-क्रम से किया जाता है। यह विनिमय अन्तर-आदिजातीय और अन्तर-द्वीपीय होता है। आदि-जातीय समूहों की और उनके द्वीपों की भौगोलिक स्थिति विनिमय-क्रम का आधार होती है। म्वाली के विनिमय की दिशा कुछ ऐसी होती है।

इसके विपरीत सौलह्वा का विनिमय सामने दिये हुए दिशा-क्रम में किया जाता है।

इस नियम का कोई अपवाद नहीं है। इस प्रथा का स्पष्टीकरण नीचे दिये ढंग से किया जा सकता है:
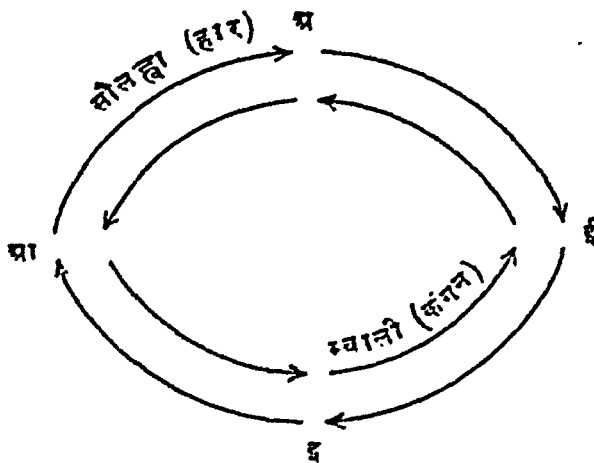
यहां 'अ', 'आ', 'इ', 'ई' भिन्न आदि-जातियों और द्वीपों के ऐसे समूहों का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनमें कूला संबंध हैं। सौलह्वा 'अ' से 'ई' को, 'ई' से 'इ' को, 'इ' से 'आ' को और 'आ' से 'अ' को जायगा। म्वाली इसके विपरीत दिशा में 'अ' से 'आ' को, 'आ' से 'इ' को, 'इ' से 'ई' को, और 'ई' से 'अ' को जायगा।

'अ' से आ' को कंगन की भेंट मिलने पर यह आवश्यक होता है कि वह उसी समय अथवा जितना शीघ्र हो सके उपहारस्वरूप प्रायः उसी मूल्य का हार 'अ' को दे। 'अ' से प्राप्त हार को, आ' अब 'इ' को दे सकता है। उसके बदले

में उसे 'ढ' से, उसी मूल्य के कंगन की प्राप्ति होगी। इन आभूषणों का मूल्य उनके प्रचलन की आयु के आधार पर निर्धारित किया जाता है। अपने-आप में यह विनिमय अर्थहीन-सा प्रतीत होता है, किन्तु उसके अन्य संबद्ध पक्ष उसे सार्थकता प्रदान करते हैं। विनिमय की प्रत्येक स्थिति धार्मिक क्रियाओं, उत्सवों, और आर्थिक दृष्टि से उपयोगी एवं लाभप्रद विनिमय का कारण होती है।

आधुनिक युग की विकसित और प्रतियोगितापूर्ण अर्थ-व्यवस्थाओं के संदर्भ में आदि-संसार की अर्थ-व्यवस्था भले ही कुछ विचित्र-सी लगे, परन्तु उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में उसके हर एक तत्त्व को समझा जा सकता है।

३

मानव और समाज

एक

परिवार और विवाह

समाज के विभिन्न व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों को शासित करने वाले सामाजिक संबंध-सूत्र अत्यंत जटिल होते हैं। प्रत्येक मानव-समाज अनेक सामाजिक समूहों में विभक्त होता है। इन समूहों में विभाजित व्यक्तियों के पारस्परिक सामाजिक संबंध सुनिश्चित श्रेणियों में बँटे और परम्पराओं से नियंत्रित होते हैं। प्रत्येक सामाजिक ढाँचा अनेक संस्थाओं और समितियों से गुँथा रहता है। ऐसी प्रत्येक संस्था या समिति अपने व्यवहार-प्रकारों और विचार तथा मनोवृत्तियों के संबंधित मंडलों से आवृत्त रहती है। कुछ संस्थाओं और समितियों की सदस्यता ऐच्छिक होती है, अन्य की अनिवार्य।

समस्त संसार के विभिन्न सामाजिक ढाँचों की रचना का विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि सामाजिक संगठन कतिपय आधारभूत कारकों पर निर्मित होता है। इनमें से अधिक महत्त्वपूर्ण कारक हैं आयु, यौन-भेद, संबंध, स्थान, सामाजिक स्थिति, राजनीतिक स्थिति, व्यवसाय, और ऐच्छिक समितियाँ। आदि-संस्कृतियों के संदर्भ में हमें दो और कारक जोड़ने पड़ेंगे, यथा जादू-धर्म की क्रियाएँ और टोटमवाद।

मानव की समस्त सामाजिक संस्थाओं में परिवार एक आधारभूत और सर्वव्यापी सामाजिक संस्था है। संस्कृति के सभी स्तरों में, चाहे उन्हें उन्नत कहा जाय या निम्न, किसी-न-किसी प्रकार का पारिवारिक संगठन अनिवार्यतः पाया जाता है। इसके अतिरिक्त उनके सामाजिक संगठन विभिन्न प्रकार से विभिन्न दिशाओं में विकसित होते हैं। नीचे दी गई तालिका में ऐसी कुछ विकास की दिशाएँ उपस्थित की गई हैं :

व्यक्ति

परिवार

(१) स्थानीय समूह	(१) संबंध (क) रक्त-संबंधी (ख) विवाह-संबंधी	(१) गोत्र और/या टोटम	(१) वर्ग
(२) प्रादेशिक समुदाय	(२) विस्तारित संबंध	(२) गोत्र-समूह (भ्रातृदल)	(२) स्थिति, राजनीतिक और सामाजिक। कुछ स्थानों पर जादू-धर्म की स्थिति
(३) राष्ट्रीयता	(३) आदिजाति या जाति	(३) द्विदल-संगठन	
(४) राष्ट्र			
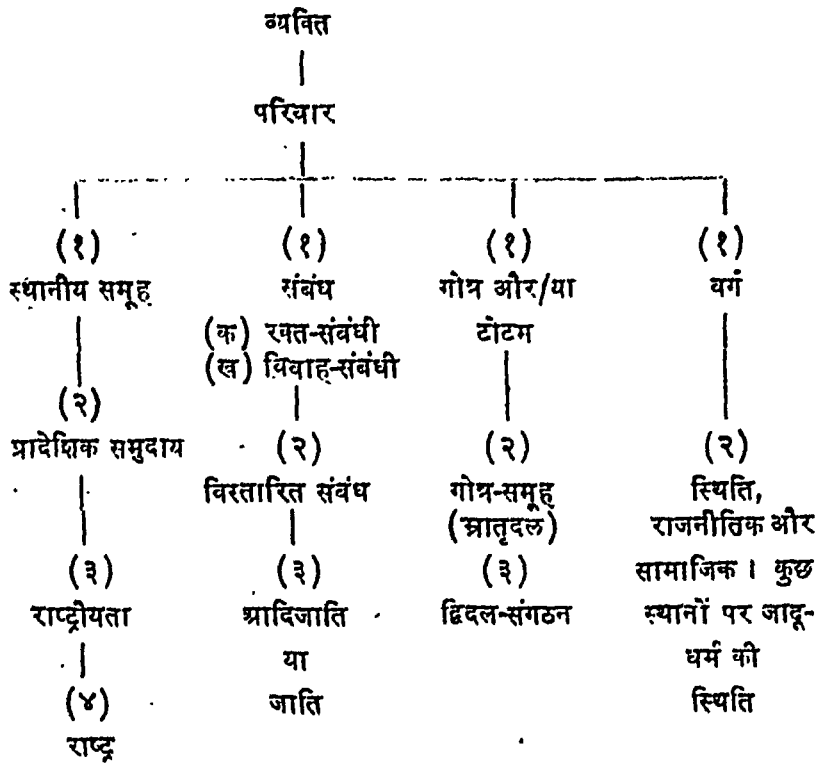
ऊपर की तालिका में आये हुए सामाजिक समूहों में न केवल व्यक्ति, किन्तु उसका परिवार भी एक इकाई के रूप में कई मान्य संबंध-प्रकारों में निश्चित अधिकार-कर्तव्यों के साथ बँधा रहता है। कई परिस्थितियों में ये संबंध अनिवार्य हैं। एक व्यक्ति यदि चाहे तो कई ऐच्छिक समूहों का भी सदस्य बन सकता है—
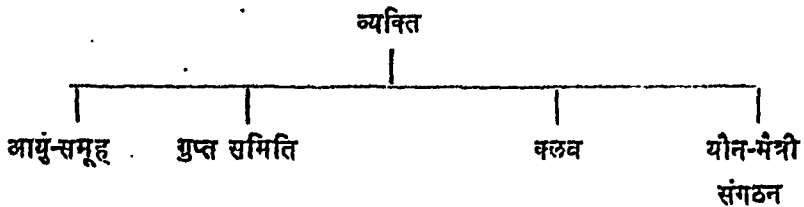
कुछ समाजों में इन समितियों की सदस्यता प्रायः अनिवार्य रहती है। कई समाजों में कुछ वर्गों के लोग स्वतः ही इनके सदस्य हो जाते हैं। अन्य समाजों में लोगों को इनके सदस्य बनने के लिए कुछ योग्यता-परीक्षण देने होते हैं।

परिवार

परिवार एक आधारभूत सामाजिक समूह है। इस संस्था के कार्यों का विस्तृत स्वरूप विभिन्न समाजों में विभिन्न होता है, फिर भी इसके मूलभूत कार्य सभी जगह समान ही हैं। काम की स्वाभाविक वृत्ति को लक्ष्य में रखकर यह यौन-संबंध और संतानोत्पत्ति की क्रियाओं को नियमित करता है। यह भावनात्मक घनिष्ठता का वातावरण तैयार करता है, तथा बालक के समुचित पोषण और सामाजिक विकास के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि देता है। इस प्रकार एक व्यक्ति के समाजीकरण व संस्कृतिकरण की प्रक्रिया में परिवार का महत्त्वपूर्ण भाग होता है। इन आधारभूत कार्यों के अतिरिक्त इसका निश्चित आर्थिक, सामाजिक-धार्मिक और सांस्कृतिक महत्त्व भी है, किन्तु इन क्षेत्रों में इसका कार्य विभिन्न समाजों में बहुत भारी अंतर रखता है। सभी स्थानों पर ये समान महत्त्व के नहीं होते। पैतृक समाजों में शिशु के भरण-पोषण और अनुशासन का उत्तरदायित्व उसके पिता पर रहता है, किन्तु मातृक समाजों में पिता के कार्य वैसे ही नहीं होते। मातृस्थानीय निवास होने के कारण बालक अपने मामा के अभिभावकत्व में पलता है और इसलिए पैतृक समाज में पिता द्वारा किया जाने वाला अनुशासन-संबंधी कार्य मातृक परिवारों में मामा को करना पड़ता है।

नृतत्व में 'परिवार' शब्द का उपयोग एक विशिष्ट अर्थ में किया जाता है। साधारणतः प्रत्येक विवाहित दम्पति को परिवार (या फेमिली) की संज्ञा दी जाती है, किन्तु नृतत्व की शास्त्रीय दृष्टि से यह परिवार शब्द का सही उपयोग नहीं है। परिवार में स्त्री और पुरुष दोनों को सदस्यता प्राप्त रहती है; उनमें से कम-से-कम दो विपरीत-यौन व्यक्तियों को यौन-संबंधों की सामाजिक स्वीकृति रहती है, और उनके संसर्ग से उत्पन्न संतान मिलकर परिवार का निर्माण करते हैं। इस प्रकार प्राथमिक या मूल परिवार के लिए माता-पिता और उनकी संतति का होना आवश्यक है। परिवार को इस अर्थ में समझने के बाद एक बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रत्येक व्यक्ति दो मूल परिवारों का वर्तमान या भावी सदस्य होता है—एक तो वह जिसमें उसका जन्म हुआ, दूसरा वह जहाँ वह जनक (या जननी) का कार्य करता है, या भविष्य में करने वाला है।
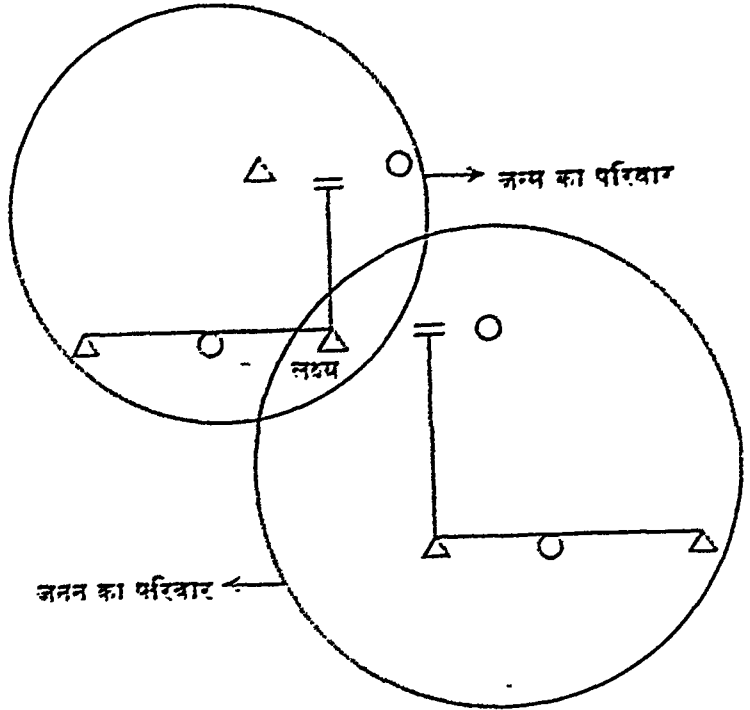
रचना और संगठन की दृष्टि से परिवार का विश्लेषण वर्गीकरण की कई कसौटियाँ प्रदान करता है। परिवार कई प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है—

(१) निवास	(क)	पितृस्थानीय परिवार
	(ख)	मातृस्थानीय परिवार
	(ग)	नवस्थानीय परिवार
(२) अधिकार	(क)	पैतृक परिवार
	(ख)	मातृक परिवार
(३) उत्तराधिकार	(क)	पितृमार्गी परिवार
	(ख)	मातृमार्गी परिवार
(४) वंश-नाम	(क)	पितृनामी परिवार
	(ख)	मातृनामी परिवार
	(ग)	उभयवाही परिवार
	(घ)	द्विनामी परिवार

२. वैवाहिक रचना और गठन
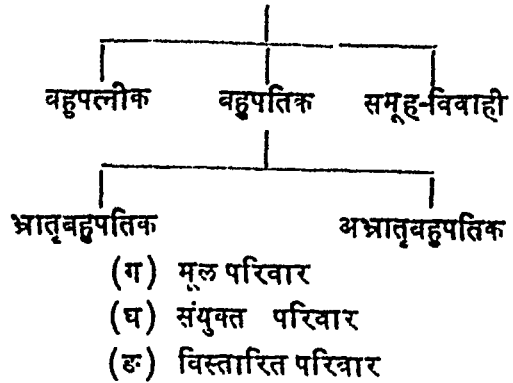
विवाह के उपरान्त दम्पति कहाँ निवास करते हैं, इस तथ्य पर प्रथम श्रेणी का वर्गीकरण किया जाता है। यदि विवाह के बाद पत्नी अपने पति के परिवार में रहने लगे तो उसे हम पितृस्थानीय परिवार कहेंगे। इसके विपरीत यदि समाज के नियमानुसार पति को अपने माता-पिता का घर त्यागकर पत्नी के संबंधियों के साथ रहना पड़े तो वह मातृस्थानीय परिवार का उदाहरण होगा। नवस्थानीय परिवार की स्थिति तब उत्पन्न होती है जब विवाहित दम्पति न पति के यहाँ रहे, न पत्नी के परिवार में, वरन् नया ही निवास बनाकर रहे।

पैतृक परिवारों में अधिकार और नियंत्रण पुरुषों में निहित रहते हैं। मातृक परिवारों में ये शक्तियाँ स्त्रीवर्ग में केन्द्रित रहती हैं। यह संभव है कि इस सत्ता का उपयोग पुरुष स्त्रियों की ओर से करे। ये अधिकार वास्तविक होते हैं, अथवा वे नाम मात्र के भी हो सकते हैं।

अधिकारों की भाँति ही उत्तराधिकार के नियम भी पैतृक समाजों में पिता द्वारा और मातृक समाजों में माता द्वारा प्राप्त किये जाते हैं। वंश-नाम के नियम एक व्यक्ति को जन्म से ही किसी विशिष्ट संबंधी-समूह से संबद्ध कर देते हैं। पितनामी परिवार में व्यक्ति अपने पितृकुल से संबद्ध हो जाता है, और मातृनामी परिवार में मातृकुल से। इन्हें एकवाही वंश के परिवार कहा जाता है। कुछ समुदायों में वंशानुगत संबंध को अलक्षित कर सभी निकट के संबंधियों पर वह समान रूप से आश्रित रहता है। इस दृष्टि से ऐसे परिवारों को उभयवाही वंश के परिवार कहा जा सकता है। यहाँ एक चौथे प्रकार के परिवार-वर्ग का परिचय भी आवश्यक है। कुछ समाजों में व्यक्ति को दोनों प्रकार के परिवार (पैतृक व मातृक) के सदस्यों के कतिपय विशिष्ट समूहों से संबद्ध कर दिया जाता है। ऐसे

समाज में पैतृक और मातृक दोनों ही वंश-नाम परंपराएँ साथ-साथ चलती रहती हैं। पैतृक समाज में कोई भी व्यक्ति केवल अपने पिता और दादा से संबद्ध रहता है, तो मातृक समाज में अपनी नानी से। उभयवाही वंश के परिवार में एक व्यक्ति अपने दादा-दादी और नाना-नानी, चारों संबंधियों से समान रूप से संबद्ध रहता है, किन्तु द्विनामी वंश के परिवार में वह एक ही समय में अपने दादा और अपनी नानी से संबद्ध रहता है, अन्य दो संबंधी (दादी और नाना) छोड़ दिये जाते हैं। नीचे यही विभेद चित्रित किया गया है:
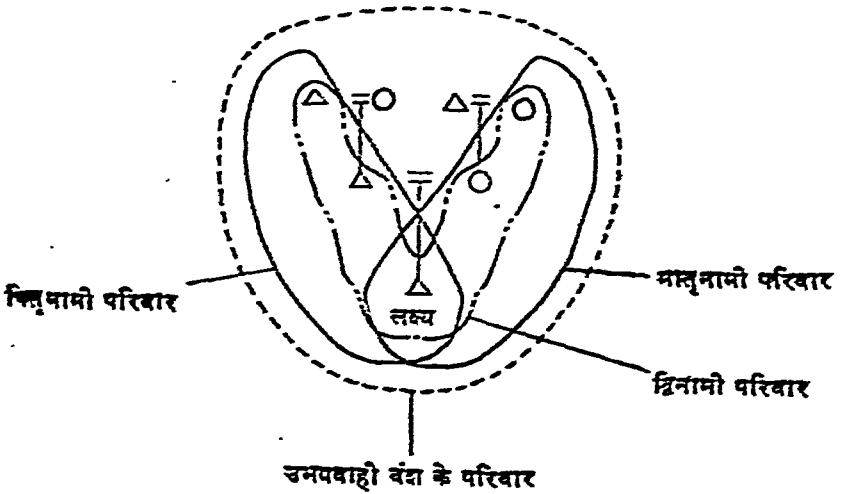
एक-विवाही परिवार एक स्त्री और एक पुरुष के सम्मिलन से बनता है। एक पति, उसकी पत्नी और उनके बच्चे मिलकर इस प्रकार के परिवार का निर्माण करते हैं। बहु-विवाही परिवारों में एक से अधिक यौन-साथी स्वीकृत हैं। ये दो प्रकार के हो सकते हैं। बहुपत्नीक परिवार में एक पुरुष एक ही समय में एक से अधिक पत्नियाँ रख सकता है। ऐसे परिवार मुसलिम जगत्, भारत और साधारणतया पूर्वी देशों में पाए जाते हैं। किन्तु बहुविवाह का दूसरा प्रकार बहुपतिक प्रथा कुछ कम प्रचलित है। इस प्रथा में एक स्त्री एक ही समय में एक से अधिक पति रख सकती है। कुछ समाजों में ये पति भाई ही हुआ करते हैं और इसलिए ऐसे परिवारों को जहाँ कई भाई मिलकर एक पत्नी रखें, हम भ्रातृ-बहुपतिक परिवार कहेंगे। अभ्रातृबहुपतिक परिवार में पति के भ्राताओं के अतिरिक्त अन्य भी पति हो सकते हैं। जहाँ कई भाई या कई लोग मिलकर कई स्त्रियों से एक साथ विवाह करें, और सब पुरुष सब स्त्रियों के समान रूप से पति हों तो वह समूह-विवाही परिवार कहलाएगा। बहुपतिक परिवार तिब्बत, उत्तर प्रदेश

स्थित देहरादून के समीप जौनसार-बावर के लोगों और नीलगिरि (मैसूर) की रोडा आदि-जाति में पाया जाता है।

पहले हम जिसे मूल-परिवार कह आए हैं वही एक-परिवार भी कहा जा सकता है। किन्तु यदि कई मूल-परिवार एक साथ रहते हों, और इनमें निकट का नाता हो, एक ही स्थान पर भोजन करते हों, और एक आर्थिक इकाई के रूप में कार्य करते हों, तो उन्हें उनके सम्मिलित रूप में संयुक्त-परिवार कहा जा सकता है। विस्तारित परिवार की संज्ञा उस परिवार संकुल को दी जाती है जो वंशानुक्रम से संबद्ध होते हुए भी अपनी भिन्न-भिन्न इकाइयों के रूप में परिवारों में बँटा हो।
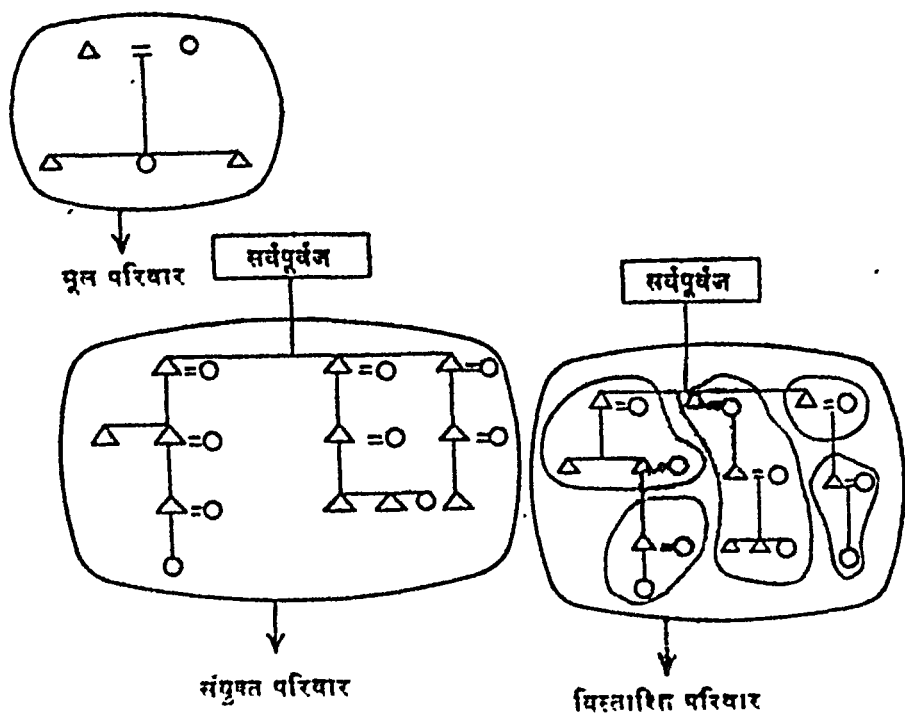
भारत के अधिकांश आदिवासी समूह और जातियाँ पितृमार्गी और पितृ-स्थानीय हैं। उनमें वंश पिता के द्वारा ज्ञापित होता है। वधू विवाह के बाद पति के साथ रहने के लिए जाती है। उत्तराधिकार पुरुषों को प्राप्त होता है। सिद्धान्ततः परिवार का अधिशासन पुरुषों में ही निहित होता है, और पिता (या परिवार का सबसे बड़ा पुरुष सदस्य) ही परिवार का मुखिया होता है। अतिविस्तृत संयुक्त परिवार, जहाँ कई पीढ़ियाँ एक ही छत के नीचे रहती हों, कम होते जा रहे हैं। तब भी कई भाई अपने पत्नी-बच्चों के साथ एक ही जगह रहते हैं।

मातृसत्ताक और मातृस्थानीय परिवार भारत में खासी, गारो, नायर आदि समाजों में पाए जाते हैं। इन समाजों में बच्चे अपने परिवार का नाम माता से ग्रहण करते हैं, न कि पिता से। विवाहोपरान्त वर या तो अपनी पत्नी के परिवार में रहने के लिए जाता है या स्वयं नया घर बसाता है। सामाजिक-विधिक दृष्टिकोण से इन समाजों में एक व्यक्ति पर अपनी बहन के बच्चों के कल्याण व प्रगति का उत्तरदायित्व होता है। ठीक इसी प्रकार उसके बच्चों का उत्तरदायित्व उसकी पत्नी के भाई पर रहता है। इन समाजों में कन्या के प्रथम मासिक-धर्म के समय विस्तृत जादू-धर्म की क्रियाएँ संपन्न करनी पड़ती हैं। इनके तुरंत पश्चात् ही यौन-शिक्षा भी दी जा सकती है। विवाह के क्षेत्र में महिलाओं को पर्याप्त स्वतंत्रता रहती है। ऐसे कई समुदायों के पुरावृत्त और विश्वासों में देवी ही प्रमुख व सर्वोच्च स्थान पाती है। इनमें स्त्री की उर्वरा-शक्ति भी यथेष्ट सम्मान पाती है। गारो समाज में पिता अपनी किसी भी कन्या को उत्तराधिकारिणी बना सकता है, किन्तु व्यवहारतः सबसे छोटी कन्या ही इसके लिए चुनी जाती है। यह आवश्यक है कि इस कन्या का विवाह पिता की बहन के लड़के से या उसके अभाव में पिता के ही मातृकुल के किसी अन्य अविवाहित सदस्य से किया जाय। उत्तराधिकार के नियम पर आवृत, कन्याओं के पति दो विशिष्ट संबोधन-संज्ञाओं से पुकारे जाते हैं। उत्तराधिकारिणी के पति को नोक्रोम कहा जाता है, और अन्य सभी चोवारी कहलाते हैं। पति का कार्य अधिशासन न होकर पत्नी की इच्छानुसार गृह-व्यवस्था करना है। पत्नी के पिता की मृत्यु होने पर यह आवश्यक है कि पत्नी की माता का पुनर्विवाह नोक्रोम के साथ किया जाय। वैसे अधिक संदर्भों में यह विवाह औपचारिक-मात्र ही होता है, क्योंकि सास और नोक्रोम की आयु में पर्याप्त अंतर रहता है। जहाँ यह अन्तर क्षीण है और उनके बीच वास्तविक यौन-संबंध होते हैं, वहाँ माता और पुत्री में कलह उपस्थित हो जाता है। किसी भी स्थिति में यह सास-विवाह आवश्यक है, अन्यथा सास किसी अन्य व्यक्ति से विवाह कर सकती है, और तब नोक्रोम दम्पति के उत्तराधिकार छिन जाते हैं। नोक्रोम साधारणतः एक से अधिक विवाह नहीं कर सकता। यदि वह किन्हीं कारणों से दूसरा विवाह करता है, तो अन्य पत्नियों की स्थिति प्रथम पत्नी की अपेक्षा निम्न होगी। चोवारी लोगों को पत्नी के ही गाँव में कुछ भूमि दे दी जाती है, जहाँ वे अपना मकान बनाकर अलग से रहते हैं। नोक्रोम की मृत्यु पर पत्नी का दूसरा विवाह हो सकता है, पर उसमें कुछ प्रतिबंध हैं—

१. वह अपने पति के ही किसी अविवाहित भाई से विवाह करे।

२. यदि सभी भाई विवाहित हैं तो वह पति की महारी के ही किसी अन्य सदस्य से विवाह करे।

३. कुछ अपवाद-स्थितियों में नोक्रोम के विवाहित भाई से भी विवाह कर सकती है।

आधुनिक समाज में एक-विवाह सर्वस्वीकृत प्रतिमान के रूप में प्रतिष्ठित होता जा रहा है। किन्तु अभी भी कई मानव-समूह बहुपत्नीक प्रथा को स्वीकार और क्रियान्वित करते हैं। कई स्थलों पर ये जनसंख्या के तथ्यों के प्रतिफल के कारण होते हैं। जब स्त्रियों की संख्या पुरुषों से बढ़ गई, तब इस विशेष संख्या को बहुपत्नीक विवाह द्वारा समवस्थित कर लिया गया। कुछ समाजों में यह केवल पारस्परिक समझौते की बात है। कुछ समाजों में एक व्यक्ति की सभी पत्नियाँ एक ही छत के नीचे रहती हैं, और कुछ में एक ही मकान में अलग-अलग झोंपड़ियाँ बनाकर। अतिरिक्त पत्नियाँ आर्थिक दृष्टि से उपयोगी भी हो सकती हैं। मध्य प्रदेश के गोंडों में यह असामान्य नहीं कि एक धनी किसान की पत्नी अपने पति को दूसरे विवाह के लिए बाध्य करे। अतिरिक्त पत्नियाँ प्रथम पत्नी के बाँझ होने की स्थिति में भी लाई जा सकती हैं।

बहुपतिक परिवार भी कतिपय समूहों में पाए जाते हैं। सामूहिक विवाह इसी का एक वैविध्य माना जा सकता है, जो बहुत ही कम पाया जाता है। बहुपतिक परिवार में बालक के जैविकीय और सामाजिकीय पितृत्व के तथ्य सदैव मेल नहीं खाते। भ्रातृ बहुपतिक परिवारों में प्रथम शिशु सबसे बड़े भाई का माना जाता है, यद्यपि विशुद्ध जैविकीय दृष्टि से उसका पिता कोई अन्य भी हो सकता है। उस क्रम से दूसरे बच्चे दूसरे भाइयों की संतान माने जाते हैं। जौनसार बावर क्षेत्र में स्त्रियाँ किसी धनवान पिता के एक-मात्र पुत्र से विवाह करने की अपेक्षा गरीब परिवार के तीन-चार भाइयों से विवाह करना पसंद करती हैं। स्पष्टतः इसी में उनकी सुरक्षा भी है। नीलगिरि के बहुपतिक टोडा पितृमार्गी हैं। सामाजिक पितृत्व एक विशेष संस्कार पुरसुतपिमी द्वारा निश्चित किया जाता है। जो व्यक्ति सगर्भ स्त्री को उसके गर्भ के पांचवें मास में धनुष-बाण भेंट करता है वही उस स्त्री की होने वाली सभी संतानों का पिता कहलाता है, चाहे वह उन सभी का जैविकीय पिता न हो। किसी अन्य द्वारा बाद के प्रसव में यही संस्कार पूरा कर लेने पर, प्रथम व्यक्ति का पितृत्व उन संतानों पर नहीं रहता जो द्वितीय संस्कार के बाद उत्पन्न होती हैं।

विवाह

परिवार के कई कार्यों में से एक महत्त्वपूर्ण कार्य यौन-संबंधों को नियमित कर सन्तानोत्पत्ति में योग देना है। परिवार-निर्माण के लिए दो आवश्यक सदस्य पति-पत्नी होते हैं। यौन-संबंधों को स्थिर करने और परिवार को स्थायी रूप देने के लिए विवाह की संस्था का जन्म हुआ है। यौन-संबंध मात्र ही को विवाह का उद्देश्य मानना गलत होगा, क्योंकि कई यौन-संबंध विवाह में परिणत नहीं होते। विवाह द्वारा आर्थिक सहकार, सामाजिक दायित्व और आत्मीय-भावनात्मक संबंध की शृंखला भी जुड़ने लगती है।

विवाह-पूर्व यौन-संबंध : कुछ समाजों में विवाह-पूर्व यौन-संबंध स्थापित करने की स्वतंत्रता रहती है। इसका प्रयोजन विभिन्न समाजों के लिए एक-सा नहीं रहता। कुछ समाज इसे विवाह के लिए युवक-युवतियों की आवश्यक तैयारी के रूप में स्वीकार करते हैं। कुछ में यह इसलिए प्रचलित है कि यौन-संबंधी एक दूसरे की दैहिक योग्यताओं और व्यक्तित्व की विशेषताओं को निकट से जान सकें। कुछ समाज मात्र उदासीनता के कारण इस दिशा में होने वाली गतिविधियों पर कोई नियंत्रण नहीं रखते। मुड़िया गोंडों में प्रचलित घोटुल-प्रथा, जहाँ गाँव के सभी अविवाहित युवक-युवतियाँ संध्या समय एकत्र होते हैं, इसीलिए प्रचलन में है कि पारस्परिक सहयोग और आर्थिक सहकार के साथ-ही-साथ उन्हें अपने वैवाहिक जीवन को आरंभ करने के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि मिले। बोंडो आदि-जाति की अविवाहिता किशोरियाँ रात्रि को मिलकर अन्य गाँवों से आए युवक अतिथियों का सेलानी डिंगों में स्वागत करती हैं। इस समाज में विवाह-साथी चुनने की स्वतंत्रता है और सेलानी डिंगों इसी चुनाव का एक माध्यम बनता है। इसके अतिरिक्त अधिकांश समाजों में आर्थिक कारक और धार्मिक मान्यताएँ इस प्रकार के संबंधों को निषिद्ध ठहराती हैं।

निषिद्ध निकटाभिगमन (इनसेस्ट टैबू) : प्रत्येक समाज में अति-निकट के संबंधियों के साथ यौन-संबंध और विवाह निषिद्ध रहते हैं। एक परिवार (मूल परिवार) में यौन-संबंध केवल पिता-माता (पति-पत्नी) के मध्य ही रह सकते हैं। अन्य किसी सदस्य के साथ इस प्रकार के संबंध धार्मिक रूप से वर्जित होते हैं। संसार के समस्त समाजों की सामाजिक परम्पराओं के अनुसार माता-पिता और बच्चों के बीच किसी भी प्रकार का वैवाहिक संबंध सर्वथा असंभव है। कुछ अपवादों को छोड़कर भाई-बहन के बीच भी ये संबंध स्थापित नहीं किये जा सकते। प्राचीन मिस्र में, हवाई, इनका, और कुछ कांगो समूहों के सामन्ती घरानों में विशुद्ध सामन्ती रक्त बनाए रखने

के लिए भाई-बहन में विवाह अनिवार्य थे। इसके अतिरिक्त अन्य संबंधियों के बीच निषिद्ध निकटाभिगमन के नियम सभी समाजों में एक-से नहीं होते। नृतत्व-वेत्ता इस बात पर अब एकमत हैं कि इस प्रकार के निषेध किन्हीं जैविकीय कारणों से प्रभावित न होकर सांस्कृतिक मान्यताओं पर आधृत होते हैं।

बहिर्विवाह और अन्तर्विवाह : बहिर्विवाह के नियम भी वैवाहिक संबंधों को कुछ विशेष प्रकार के समूहों में स्थापित होने की अनुज्ञा नहीं देते। उदाहरण के लिए एक ही परिवार या वंश या गोत्र के सदस्यों के बीच विवाह वर्जित हैं; अतः ये समूह बहिर्विवाही समूह कहलाएँगे। इसके विपरीत अन्तर्विवाह में एक समूह के सदस्यों के लिए यह अनिवार्य-सा है कि वे उसी समूह में विवाह-संबंध स्थापित करें। इस समूह के बाहर विवाह करने पर उस सदस्य को बहिष्कृत किया जा सकता है। एक ही समाज में दोनों प्रकार के नियम साथ-साथ भी चल सकते हैं। भारतीय हिन्दू-समाज का उदाहरण इस स्थिति को स्पष्ट करता है। किसी भी व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी ही जाति में विवाह करे (अंतर्विवाह), किन्तु वह अपने ही गोत्र में विवाह नहीं कर सकता (बहिर्विवाह)। इस प्रकार एक व्यक्ति अपनी ही जाति के अपने गोत्र के अतिरिक्त अन्य गोत्र में विवाह कर सकता है।

कतिपय संबंधियों की संतति में विवाह : मुसलिम धर्म के आधार पर यह संभव है कि दो भाई या दो बहनों की संतान आपस में विवाह कर ले, किन्तु हिन्दू-धर्म के अनुसार यह अमान्य होगा। कई आदिवासी समाजों में, और भारत के दक्षिणी तथा पश्चिमी भागों में रहने वाले अन्य कई समूहों में, भाई और बहन के बच्चों के बीच विवाह पसंद किया जाता है। पहली प्रकार की प्रथा को चचेरों और मौसेरों में विवाह (पेरेलल कज़िन मैरेज) कहा जाता है, जबकि दूसरी प्रकार की प्रथा को फुफेरों-ममेरों में विवाह (क्रॉस-कज़िन मैरेज) कहा जाता है। कर्नाटक और तेलंगाना में मामा-भानजी के बीच भी विवाह संभव होता है।

पति-भ्राता विवाह; पत्नी-भगिनी विवाह : जब एक स्त्री अपने पति के भाई से विवाह करती है तब उस विवाह को पति-भ्राता विवाह अथवा लेवाइरेट कहा जाता है। पति की मृत्यु के बाद पत्नी का विवाह यदि मृत पति के छोटे भाई से होता है तो वह देवर-विवाह (जूनियर लेवाइरेट) कहलाता है; किन्तु यदि वह पति के बड़े भाई से हो तो उसे ज्येष्ठ-विवाह (सीनियर लेवाइरेट) कहा जाता है। देवर का अपनी भाभी का संसर्ग पसंद करना अथवा न करना उन दोनों के व्यक्तित्व पर तथा उनके समाज की सांस्कृतिक मान्यताओं पर बहुत अंशों में निर्भर

रहता है। इस प्रथा के पक्ष में कोई एक कारण नहीं दिया जा सकता। कुछ आवश्यक तत्त्व जो इसके क्रियमाण होने में योग देते हैं, निम्न हैं :

१. स्त्री का पराश्रित होना।

२. संतानहीन पति की मृत्यु पर वंश चलाने के निमित्त देवर से विवाह करना।

३. पति-भ्राता के रंग-रूप का पति से मिलता-जुलता होना।

४. अधिक साथ रहने से प्रेम का स्वाभाविक उदय।

५. परिवार-विभाजन और वैमनस्य की स्थिति को बचाना।

पत्नी-भगिनी विवाह (सोरोरेट) का कोई एक निश्चित अर्थ नहीं है। यह शब्द प्रायः तीन अर्थों में प्रयुक्त होता आया है :

१. एक व्यक्ति का अपनी युवा होने वाली सालियों से विवाह करने का प्राथमिक अधिकार;

२. व्यक्ति का अपनी पत्नी से संतुष्ट न होने पर पत्नी की बहन से विवाह का अधिकार; और

३. प्रथम पत्नी की मृत्यु पर उसकी बहन से विवाह करने का अधिकार।

आरंभ के दो प्रकार बहुपत्नीक प्रथा का ही परिचय देते हैं। पत्नियों में परस्पर बहन का संबंध इस बात में सहायक होता है कि तनाव और झगड़ों की स्थितियाँ अधिक न पनपने पाएँ। तीसरे प्रकार के विवाह उन समाजों में अधिक प्रचलन में होते हैं जहाँ वधू-मूल्य की प्रथा है। ऐसे समाजों में मृत पत्नी के पिता का यह कर्तव्य हो जाता है कि या तो वह उस व्यक्ति को दूसरी पत्नी देने का प्रबन्ध करे या वधू-मूल्य लौटा दे। वधू-मूल्य का प्रभाव तब भी पड़ता है जब प्रथम पत्नी जीवित होती है किन्तु यथेष्ट समय बीत जाने पर भी वह माता बनने में असमर्थ प्रमाणित हो। ऐसी स्थिति में भी पत्नी के पिता का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह या तो पत्नी की छोटी बहन अथवा उसके अभाव में पुत्र-वधू को उसे सौंप दे।

वर-वधू प्राप्ति के माध्यम : विवाह-संबंध तीन श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं :

१. आदर्श (सामान्य)।

२. आदर्शेतर, किन्तु समाज-स्वीकृत।

३. अनुचित।

सामान्यतः विवाह-संबंध उस समूह के भीतर ही होना चाहिए जो समाज-स्वीकृत है। आदर्श विवाहों में माता-पिता की अनुमति से, परम्परानुसार विवाह निश्चित किया जाता है। उनका पूरी रस्मों से किया जाना आवश्यक

होता है। कुछ समाजों में प्रेमवश युवक-युवतियाँ भागकर पति-पत्नी के रूप में रहने लग जाते हैं। यह विवाह किसी रूप में आदर्श तो नहीं माना जा सकता, किन्तु यदि वे विवाह-विषयक किसी निषेध का उल्लंघन नहीं करते हैं तो उनके इस नियम-विरोधी विवाह को शीघ्र ही समाज की स्वीकृति मिल जाती है। शक्ति-पूर्वक कन्या का अपहरण कर उससे विवाह करना कुछ समाजों में आदर्श माना जाता है, कुछ में वह केवल समाज-स्वीकृत है, और अन्य में उसे अनुचित समझा जाता है।

जिन माध्यमों से विवाह-साथी प्राप्त किया जाता है, उनका उल्लेख यहाँ आवश्यक है। यह अनिवार्य नहीं है कि सभी प्रकार के माध्यम सभी समाजों में उपलब्ध हों, किन्तु सामान्यतः इनमें से एक से अधिक माध्यम प्रत्येक समाज में प्रचलित होते हैं।

१. क्रीत-विवाह (वधू-मूल्य) : इस प्रकार के विवाहों में वधू-प्राप्ति के लिए कुछ मूल्य चुकाना पड़ता है। अतः इन विवाहों में वधू-मूल्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। विवाह की इस प्रथा का कई स्थानों पर प्रचलन है। क्रय द्वारा किये गए विवाह का अर्थ सदैव यही नहीं होता कि वधू कोई व्यापार की वस्तु है। कई समाजों में यह मूल्य दिखावे-भर का होता है, क्योंकि इसकी एवज में इससे कहीं अधिक दहेज रूप में पुनः लौटा दिया जाता है।

दक्षिण-पश्चिमी साइबेरिया की किरगीज़ आदि-जाति में वधू-मूल्य इतना अधिक होता है कि एक से अधिक पत्नी का विचार प्रश्रय नहीं पाता। संबंध-विच्छेद भी अत्यल्प होते हैं। न्यू गिनी की काई आदि-जाति में वधू-मूल्य के चुकाने पर पति को केवल यौन-संबंध के विशेषाधिकार प्राप्त हो जाते हैं, अन्यथा एक महिला अपने परिवार का ही अंग बनी रहती है। वधू-मूल्य की प्रथा से केवल वैवाहिक संबंधों का स्थापन ही नहीं होता वरन् भावी आशंकाओं के प्रति भी सुरक्षा की भावना उत्पन्न हो जाती है। लोबोला की प्रथा इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। दक्षिण अफ्रीकी घोंगा आदि-जाति में वधू-मूल्य के रूप में ढोर देने पड़ते हैं। इसे ही लोबोला कहा जाता है। वर के परिवार के अतिरिक्त उसके सगे संबंधियों से भी यह अपेक्षा की जाती है कि वे लोबोला देने के लिए ढोर एकत्र करने में सहायता दें। यही लोबोला पत्नी के भाई के विवाह के लिए या पत्नी के सगे-संबंधियों के विवाह में सहायतास्वरूप दे दिया जाता है। इस प्रकार लोबोला एक जोड़ने वाली कड़ी है। इसके द्वारा न केवल दम्पति का संबंध स्थापित होता है, वरन् समूचे परिवार और संबंधी समाज के सम्पर्क-क्षेत्र में आ जाते हैं।

वधू-मूल्य के प्रचलन के कई संभावित कारण हो सकते हैं :

(क) जिस श्रम से कन्या का पालन-पोषण किया जाता है, पिता उसके पारिश्रमिकस्वरूप कुछ प्राप्त करना चाहता है। कन्या का गृह की सदस्यता को त्यागकर दूसरे गृह में प्रवेश करना पिता के परिवार के लिए हानि ही माना जायगा और इसलिए इस हानि-पूर्ति के रूप में उसे कुछ हर्जाना मिलना चाहिए।

(ख) माँग और पूर्ति का साधारण नियम भी इसके लिए उत्तरदायी हो सकता है। वर को अपने लिए वधू चाहिए। यह वधू जिस किसी के पास भी कन्या रूप में है, वह इस बढ़ती हुई माँग की तीव्रता को लक्षित कर पूर्ति पर नियंत्रण कर सकता है। कन्या को वधू-रूप में सौंप देने के लिए वह कुछ मूल्य प्राप्त करने का अधिकारी है।

(ग) विवाह के पश्चात् पैतृक समाजों में न केवल कन्या की ही हानि होती है, वरन् उससे उत्पन्न सभी संतानें भी उसके पति के ही वंश-गोत्र की सदस्य होंगी। इतनी भारी होने वाली हानि को पूरा करने के लिए भी कुछ मूल्य चुकाना परमावश्यक है।

(घ) वधू-मूल्य चुका देने पर वधू के पूर्व-पारिवारिक देवताओं का संरक्षण उस पर से हट जाता है और उसके साथ ही उसे अपने पति के पारिवारिक देवताओं का संरक्षण प्राप्त हो जाता है।

(ङ) विवाह का प्रमुख उद्देश्य प्रजनन है। यदि विवाहोपरान्त संतान न हो तो पति को अधिकार है कि वह दूसरा विवाह करे। इसके लिए वधू-धूल्य चाहिए। यदि प्रथम पत्नी संतान का सुख न दे सकी तो उसके पिता का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह या तो लोबोला लौटा दे अथवा दूसरी कन्या का विवाह भी उसी व्यक्ति के साथ कर दे। अन्य कन्या के अभाव में पुत्र-वधू को सौंपना प्राय: अनिवार्य हो जाता है। यही विधि तब भी अपनाई जाती है जब कि प्रथम पत्नी संबंध-विच्छेद कर लेती है अथवा उसका देहान्त हो जाता है। बाँटू समाज में यह कहावत भी प्रचलित है—'ढोर दो तो संतान हो।'

२. **सेवा-विवाह** : वधू-मूल्य की परम्परा को प्रतिस्थापित करने के लिए यह प्रथा भी अपनाई जाती है। इस प्रथा के अधीन वर को विवाह से पूर्व अपने भावी ससुर के घर में कुछ कार्य करने पड़ते हैं। ऐसी स्थिति में वर द्वारा किया गया श्रम ही वधू-मूल्य मान लिया जाता है।

३. **परीक्षा-विवाह** : विवाह के पूर्व वर की योग्यता का परीक्षण भी कतिपय समाजों में किया जाता है। भील लोगों (गुजरात) में पाई जाने वाली गोल-गधेड़ो रस्म भी इसी का एक उदाहरण है। होली के अवसर पर एक

खंभे के चारों ओर गोल घेरा बनाकर महिलाएँ नाचती हैं। कोई भी नवयुवक इस घेरे को तोड़कर खंभे पर चढ़कर उस पर बँधा नारियल लेना चाहे तो ये स्त्रियाँ उसे रोकती हैं। यदि वह नवयुवक अपने अभियान में सफल हो जाता है तो वह किसी भी युवती को अपनी पत्नी बनाने का प्रस्ताव कर सकता है। इसी प्रकार कुछ समाजों में चतुर व निपुण आखेटक को आदर्श जमाई माना जाता है। कोमांचे समाज में यदि कोई पुरुष अपनी भावी सास को नित्य शिकार भेजता रहे तो विवाह की संभावनाएँ बढ़ जाती हैं। यदि उसे पहली पत्नी की बहन को भी पत्नी बनाना हो तो उसे शिकार भेजकर अपनी सास को प्रसन्न रखना पड़ता है।

४. **बहन-विनिमय :** वधू-मूल्य का एक और प्रतिस्थापन इस प्रथा में प्राप्य है। इस प्रथा द्वारा दो व्यक्ति अपनी बहनों को एक-दूसरे की पत्नी बनाकर वधू-मूल्य के बंधनों से मुक्ति पाते हैं। इस प्रकार एक ही व्यक्ति साला और बहनोई साथ-ही-साथ हो जाता है, यथा :
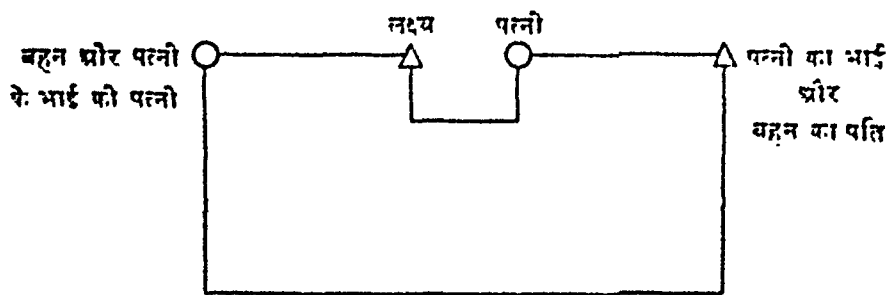
५. **अपहरण-विवाह :** विजेताओं द्वारा विजितों की स्त्रियों का अपहरण करने की प्रथा कई समाजों में प्राचीन काल से प्रचलित है। अपहरण-विवाह का अर्थ ही बलपूर्वक वधू को भगा ले जाना है, किन्तु आजकल अनेक समाजों में यह वास्तविक अपहरण न रहकर अभिनयात्मक अपहरण-मात्र ही रह गया है। अपहरण-विवाहों के अनेक प्रकार प्रचलित हैं। कहीं-कहीं एक ही स्त्री के प्रेमी-प्रतिद्वन्द्वियों के मध्य मल्ल-युद्ध होते हैं और जो भी जीत जाता है वही उसे ले जा सकता है, चाहे वह विवाहिता ही क्यों न हो। बुशमेन समाज में विवाह के प्रीति-भोज के समय वर अपनी वधू का हाथ पकड़ लेता है। तब सभी संबंधी वर को पीटने दौड़ते हैं। यदि मार खाते हुए भी वह अपनी वधू को न छोड़े तो विवाह के लिए वह उपयुक्त पात्र माना जाता है, और दोनों ब्याह दिये जाते हैं।

६. **दासक-विवाह :** जापान में दास-प्रथा है। यहाँ दास का अर्थ उतना हीन नहीं जितना साधारणतया हम लोग समझते हैं। परिवार के किसी

भी दूरागत संबंधी को या अन्य किसी को भी दास बनाकर रख लिया जाता है, और बाद में उसके साथ परिवार की कन्या का विवाह कर दिया जाता है। इसी का एक दूसरा स्वरूप कल्पित विवाह है। नुअर लोगों में यदि किसी व्यक्ति की हत्या कर दी जाती है तो हत्यारे को कुछ मूल्य मृतक के परिवार को चुकाना पड़ता है। उस मूल्य को देकर मृतक की पत्नी का यौन संबंध किसी अन्य व्यक्ति से कराया जाता है, और उनके संसर्ग से उत्पन्न संतति मृतक की ही संतति मानी जाती है।

७. **भागकर किया हुआ विवाह (इलोपमेंट)** : युवक-युवती पारस्परिक सहमति से विवाह-बंधन में बँधने के लिए समाज की मान्यताओं तथा बड़ों की आज्ञा और इच्छा का उल्लंघन कर डालते हैं। प्रणय-संबंध प्रत्येक समाज में हीन दृष्टि से नहीं देखे जाते। कहीं ये प्रतिष्ठा की वस्तु होते हैं, तो कहीं लोग इस ओर से सर्वथा उदासीन रहते हैं। अन्य समाजों में यही संबंध पुरुष के लिए उतने हीन नहीं समझे जाते जितने स्त्री के लिए।

८. **परिवीक्षाधीन (प्रोबेशनरी) विवाह** : विवाह के पूर्व स्त्री-पुरुष की प्रकृति और यौन-संबंधी अनुभवों की प्राप्ति के लिए कई समाजों में ऐसे विवाह किये जाते हैं। यदि इस काल में युग्म का ठीक संबंध रहा तो उसे पूर्ण वैवाहिक क्रियाओं द्वारा दम्पति-युग्म बना दिया जाता है। दारलुंग और कूकी समाजों में एक प्रेमी अपनी प्रेमिका के यहाँ कुछ काल तक रह सकता है। वह उस समय सभी प्रकार के वैवाहिक सुख प्राप्त करने का अधिकारी है, किन्तु यदि वह इन सुविधाओं के उपरान्त विवाह नहीं करना चाहता है तो थोड़ा-सा हानि-मूल्य देकर संबंध-विच्छेद कर सकता है।

९. **बलपूर्वक गृह-प्रवेश द्वारा विवाह (इन्ट्रूजन)** : इस विवाह में स्त्री स्वयं अपने प्रेमी के घर में बलपूर्वक घुस जाती है और वहाँ कार्य करने लगती है। प्रारंभ में लड़के के माता-पिता उसके इस प्रवेश का बहुत विरोध करते हैं, किन्तु यदि फिर भी लड़की अपने हठ पर अड़ी रहती है तो उसे स्वीकार कर लिया जाता है। इस प्रकार के विवाह कमारों और मुंडा लोगों में प्रचलित हैं। कमार इन्हें पैठू विवाह कहते हैं।

दो

संबंध-प्रथा और संबंध-विस्तार

मानव-समाज में जन्म अथवा विवाह के आधार पर कई परिवारों के सदस्य संबंध और व्यवहार की दृष्टि से एक दूसरे के बहुत समीप आ जाते हैं। इस अंतः-प्रक्रिया के कारण कुछ विशेष प्रकार के सामाजिक संबंधों की सृष्टि होती है। इस विशिष्ट, सुव्यवस्थित संबंध-शृंखला को नियोजित करने वाली प्रथा को हम संबंध-प्रथा कहते हैं। संबंधियों की शृंखला का यह सूत्र अत्यंत विस्तृत होता है, इसलिए संपर्क और सामीप्य की तथा आत्मीयता और घनिष्ठता की दृष्टि से विविध संबंधियों को कतिपय श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है।

संबंधी मूलतः दो प्रकार के हो सकते हैं : रक्त-संबंधी, और विवाह-संबंधी। परिवार के संदर्भ में हम यह देख आए हैं कि एक ही व्यक्ति एक साथ दो मूल परिवारों का सदस्य हो सकता है। जन्म के परिवार में सभी सदस्य उसके रक्त-संबंधी होते हैं, किन्तु जनन के परिवार के निर्माण के लिए रक्त-संबंधी से भिन्न किसी व्यक्ति से विवाह द्वारा यौन-संबंध स्थापित किये जाते हैं। अतः उस परिवार में उस व्यक्ति को लक्ष्य मानकर देखने पर दोनों प्रकार के संबंधियों की उपस्थिति उसमें उपलब्ध होती है। उस व्यक्ति की पत्नी या पति उसके लिए विवाह-संबंधी है, किन्तु उनकी संतति उनके लिए समान रूप से रक्त-संबंधी है। इस प्रकार किसी भी मूल परिवार में आठ प्रकार के संबंध प्राप्त हो सकते हैं। वे निम्न हैं :

१. पति-पत्नी, २. पिता-पुत्र ३. माता-पुत्री, ४. पिता-पुत्री. ५. माता-पुत्र, ६. ज्येष्ठ-लघु भ्राता ७. ज्येष्ठ-लघु बहन, और ८. भ्राता-बहन। आठवें प्रकार में भी ज्येष्ठ व लघुभ्राता-बहन के संदर्भ से विभेद किये जा सकते हैं। इन आठों प्रकार की संबंध-शृंखला में गुँथे हुए लोगों को प्राथमिक संबंधी कहा जाता है। द्वितीय श्रेणी के संबंधियों में वे संबंधीगण आएँगे जो इन प्राथमिक संबंधियों के प्राथमिक

संबंधी हैं। उदाहरण के लिए, बहन का पति, बहन के लिए प्राथमिक संबंधी है पर भाई के लिए वह द्वितीयक संबंधी हो जायगा। इसी प्रकार तृतीयक, चातुर्थिक पांचमिक"' संबंध-सूत्रों की विस्तृति संभव है। मर्डाक की खोज के आधार पर एक व्यक्ति के लगभग ३३ द्वितीयक और १५१ तृतीयक संबंध-प्रकार हो सकते हैं।

संबंध-संज्ञाएँ

विभिन्न संबंधों या विभिन्न श्रेणी के संबंधों को ज्ञापित करने के लिए भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग किया जाता है। किन्तु संभवतः संसार में कोई भी ऐसी संबंध-प्रथा नहीं है जिसमें प्रत्येक प्रकार के संबंध के लिए भिन्न-भिन्न संज्ञाएँ हों। प्रत्येक प्रकार और प्रत्येक स्थिति के संबंध को विशेष संज्ञाएँ देना अत्यंत कठिन है। बहुधा हमें एक ही संज्ञा को विभिन्न प्रकार के संबंधी-वर्गों के लिए प्रयुक्त करना पड़ता है। संबंध-संज्ञाओं की दो प्रमुख व्यवस्थाएँ हैं: वर्गीकृत संज्ञा-व्यवस्था, और विशिष्ट संज्ञा-व्यवस्था। प्रथम प्रकार की व्यवस्था के अनुसार अनेक संबंधियों को एक ही वर्ग या श्रेणी में रख दिया जाता है और उन्हें एक ही संज्ञा से संबोधित किया जाता है। इसके विपरीत विशिष्ट संज्ञा-व्यवस्था में एक प्रकार के संबंधियों के लिए एक विशिष्ट संज्ञा का उपयोग किया जाता है। कोमांचे समाज में वर्गीकृत संज्ञा-व्यवस्था के अनुसार एक ही संज्ञा पिता, पिता के भ्राता और माता की बहन के पति के लिए प्रयुक्त की जाती है। विशिष्ट संज्ञा-व्यवस्था के उदाहरणार्थ हम 'पिता' या 'माता' को ले सकते हैं। ये संज्ञाएँ व्यक्ति के वास्तविक जनक और जननी के लिए ही व्यवहृत होती हैं। फिर भी यह स्पष्ट किया जा चुका है कि विशिष्टीकरण की अपनी सीमाएँ हैं। अंग्रेजी में 'अंकल', 'नेफ्यू', 'कज़िन', 'ग्रैंड-फादर', इत्यादि संज्ञाएँ वर्गीकृत ही हैं।

शास्त्रीय दृष्टि से इन संज्ञाओं का व्यापक वर्गीकरण संभव है। नीचे दी हुई तालिका उसे स्पष्ट करती है:
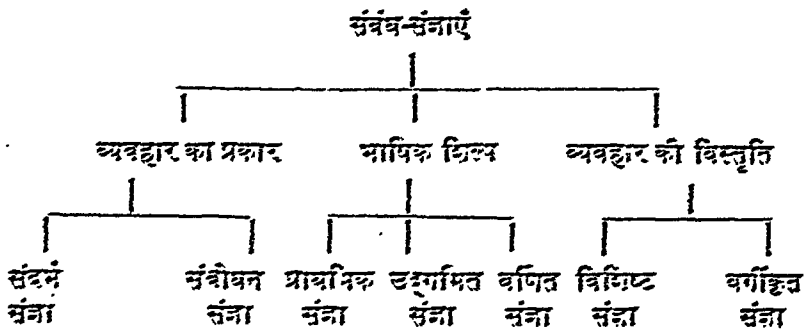
संदर्भ-संज्ञा हम उसे कहेंगे जो संबंध का संपर्क देने में प्रयुक्त होती है, किन्तु संबोधन के लिए प्रयोग में नहीं लाई जाती। किन्हीं-किन्हीं स्थितियों में संदर्भ और संबोधन-संज्ञा एक भी हो सकती है। उदाहरण के लिए 'पिताजी' एक संदर्भ संज्ञा हो सकती है जब कि व्यवहार में लोग 'बापू', 'दादा', 'डैडी' या ऐसे ही अन्य शब्दों का उपयोग करें। किन्तु 'चाचा' शब्द कहीं-कहीं संदर्भ और संबोधन दोनों के लिए ही प्रयुक्त होता है।

भाषिक शिल्प की दृष्टि से प्राथमिक संज्ञा हम उसे कहेंगे जिसे और अधिक छोटा न किया जा सके। पिता, माता, भ्राता आदि ऐसी ही संज्ञाएँ हैं। किन्तु उद्गमित संज्ञा में प्राथमिक के साथ किसी विशेषण का प्रयोग कर लिया जाता है। उदाहरणार्थ अंग्रेजी में फ़ादर (प्राथमिक संज्ञा) के पहले उपसर्ग रूप में 'ग्रेंड' शब्द का प्रयोग कर नई संबंध-संज्ञा बना दी जाती है। वर्णित संज्ञा में अविभाज्य प्राथमिक संज्ञा के अभाव में संबंध का वर्णन ही कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ स्वीडिश भाषा की 'फार्वोर' संज्ञा का अर्थ 'फादर्स-ब्रदर' (पिता का भाई) है।

व्यवहार की विस्तृति और सीमाओं का उल्लेख हम ऊपर कर आए हैं, अतः पुनरावृत्ति अनावश्यक है।

वास्तविक और मौलिक संबंध-वैशिष्ट्य को अलक्षित करने पर वर्गीकृत संज्ञा का उद्भव होता है। क्रोबर और लॉर्क ने अपनी शोध के आधार पर यह निर्णय दिया कि छः ऐसी प्रयुक्त कसौटियाँ हैं, जिनको यदि भाषिक दृष्टि से सांज्ञिक वैभिन्न्य का आधार मान लिया जाय तो प्रत्येक संबंध की विशिष्ट संज्ञा मिल सकती है। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से वह संभव नहीं है और इसलिए इन छः प्रमुख और तीन गौण कसौटियों में से किसी एक को भी अलक्षित करने की स्थिति में संज्ञाएँ वर्गीकृत होने लगती हैं। इन कसौटियों पर विचार यहाँ आवश्यक है।

१. पीढ़ी: जहाँ संबंध-संज्ञा देते समय पीढ़ी का विचार गौण मान लिया जाता है वहाँ वर्गीकृत संज्ञा का उद्भव होता है। ओमाहा समाज में एक ही पीढ़ी के दो प्रकार के संबंधियों को अलग-अलग पीढ़ी के नामों से पुकारा जाता है। वहाँ माता के भाई के बच्चों को भी माँ और माता का भाई कहा जाता है, किन्तु पिता की बहन के बच्चों को बहन की लड़की और बहन का लड़का (भानजा-भानजी) कहा जाता है।

ओमाहा की वर्गीकृत संबंध-संज्ञा प्रथा के निम्न चित्र में आए १, २, ३, ४, ५, सभी व्यक्ति एक ही पीढ़ी के हैं किन्तु लक्ष्य (ईगो) एक दिशा के लोगों को अपने से निम्न पीढ़ी के स्तर का समझता है तो दूसरी दिशा के लोगों को अपने से ऊँची पीढ़ी के स्तर का।
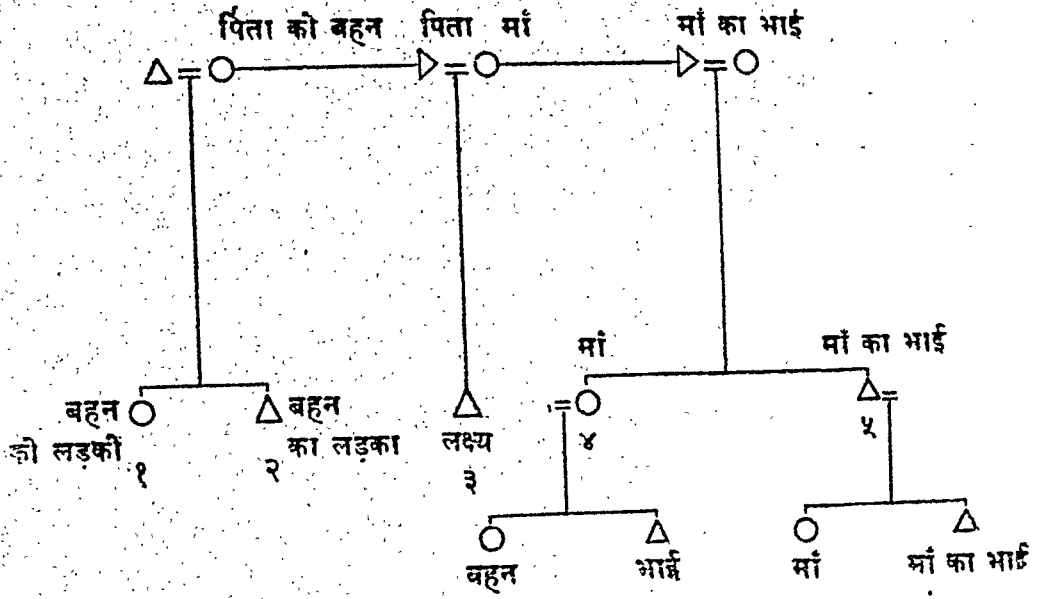
२. **यौन-भेद** : माता-पिता, भाई-बहन के विभेद यौन-भेद पर ही आधृत हैं। किन्तु नागा समाज में इस नियम का उल्लंघन किया जाता है। वहाँ 'शि' शब्द का प्रयोग ज्येष्ठ भ्राता, पत्नी की ज्येष्ठा बहन, पति के ज्येष्ठ भ्राता, ज्येष्ठ बहन के पति, ज्येष्ठ भ्राता की पत्नी, माता के भ्राता की पत्नी, पिता के भ्राता की पत्नी के लिए किया जाता है। इसी प्रकार 'कज़िन' शब्द का अंग्रेजी में व्यवहार चचेरे, ममेरे, मौसेरे, फुफेरे भाई और बहन दोनों के लिए होता है।

३. **वैवाहिकता** : संबंध-निर्धारण रक्त और विवाह पर आधृत रहता है। जहाँ रक्त-संबंधी और विवाह-संबंधी के विभेद को अलक्षित कर दिया जाता है वहाँ भी वर्गीकृत संज्ञाएँ प्रयुक्त होने लगती हैं। जहाँ फुफेरों-ममेरों में विवाह पुरस्कृत समझा जाता है वहाँ यह संभव है कि पिता की बहन की लड़की को उसी नाम से पुकारा जाय जिससे कि पत्नी को पुकारा जाता है। और उस दृष्टि से पिता की बहन और पत्नी की माता के लिए भी एक ही संज्ञा पर्याप्त होगी। यथा :
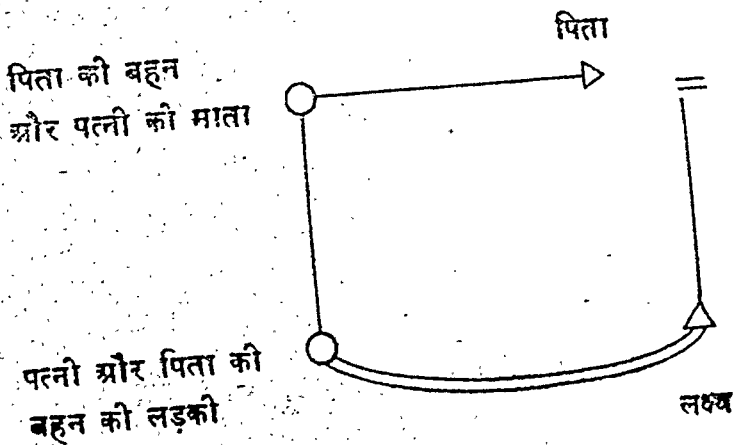
४. **समवाहिता** : एक ही पीढ़ी के समसामयिक होते हुए भी संबंधियों की घनिष्ठता में अन्तर होता है। हम प्राथमिक, द्वितीयक, तृतीयक आदि संबंधियों के प्रकार का उल्लेख ऊपर कर आए हैं। कभी-कभी सामीप्य और घनिष्ठता के संबंधों को, दूर के संबंधों के साथ एक ही संबंध-संज्ञा के प्रयोग से जोड़ दिया जाता है। आसाम के सेमा नागा लोग 'अजा' संज्ञा का व्यवहार माता, पिता के भ्राता की पत्नी, और माता की बहन के लिए करते हैं। स्पष्ट है कि माता प्राथमिक संबंधी है, जब कि अन्य दो संबंधी द्वितीयक हैं।

५. **सीमा-विभाजन** : द्वितीयक, तृतीयक अथवा अन्य दूरागत संबंधी या तो पुरुष प्राथमिक संबंधी अथवा स्त्री प्राथमिक संबंधी के द्वारा संबंधी बन जाते हैं। यदि समाज में विशिष्ट-संज्ञा-व्यवस्था प्रचलित है तो इन दोनों प्रकार से संबंधित व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न संज्ञाएँ होनी चाहिएँ। भारतीय समाज से उदाहरण लेने पर स्पष्ट है कि हम यहाँ माता के पिता के लिए 'नाना' का प्रयोग करते हैं, किन्तु वही शब्द पिता के पिता के लिए प्रयोग में नहीं लाते। उन्हें 'दादा' कहा जाता है। पर अंग्रेजी में 'ग्रैंड-फादर' 'नाना' और 'दादा' दोनों के लिए प्रयुक्त होता है। सीमा-विभाजन के नियम को अलक्षित करने से अंग्रेजी में 'ग्रैंड-फादर' शब्द वर्गीकृत संज्ञा हो गया है।

६. **ध्रुवता** : सामाजिक संबंधों के समाज-शास्त्रीय तथ्य पर यह नियम आधृत है। दो व्यक्ति जो सामाजिक संबंध स्थापित करते हैं, वे एक दूसरे को संबोधित करने के लिए भिन्न-भिन्न संज्ञाओं का प्रयोग करें, इस नियम का पालन बहुधा किया जाता है। पिता-पुत्र एक दूसरे को भिन्न संज्ञाओं से संबोधित करते हैं, पर मातुल संबंधों में कहीं-कहीं मामा और उसकी बहन के बच्चे एक-दूसरे को एक ही संज्ञा से संबोधित करते हैं।

इन छः प्रमुख कसौटियों के अतिरिक्त तीन गौण कसौटियाँ भी हैं :

१. **सापेक्षिक आयु** : एक ही प्रकार के संबंधी भी आयु-भेद के कारण अलग-अलग संज्ञाओं से पुकारे जा सकते हैं। 'बड़ा भाई', 'छोटा भाई' आदि इसी के उदाहरण हैं।

२. **वक्ता का लिंग** : एक ही संबंधी के लिए दो संज्ञाओं का प्रयोग उन समाजों में किया जाता है जहाँ वक्ता के लिंग को अलक्षित नहीं किया जाता। हैदा-समाज में पिता को ज्ञापित करने वाली दो संज्ञाएँ हैं—एक पुत्रों द्वारा व्यवहृत होती है, दूसरी पुत्रियों द्वारा। कहीं-कहीं एक ही संज्ञा दो समान लिंग के संबंधी परस्पर व्यवहार में लाते हैं, पर विपरीत यौन, किन्तु वही सांबंधिक सामीप्य होने पर दूसरी संज्ञा का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। यथा संज्ञा 'क' दो भाई आपस में

व्यवहार में ला सकते हैं, दो बहनें भी। पर भाई बहन को संबोधित करते समय (या बहन भाई को संबोधित करते समय) इसी संज्ञा 'क' का उपयोग नहीं करेंगे।

३. मृत्यु का तथ्य : कुछ समाजों में द्वितीयक संबंधियों के लिए अपने प्राथमिक संबंधी, जिसके द्वारा वे संबंधित हैं, की जीवितावस्था में एक प्रकार की संज्ञा प्रयुक्त होती है, किन्तु उस संबंधी की मृत्यु पर द्वितीयक संबंधी किसी अन्य संज्ञा से संबोधित किया जाने लगता है।

सांबंधिक व्यवहार

जब किसी संबंध की सृष्टि होती है तो परस्पर-संबंधित व्यक्तियों के व्यवहार की सीमाएँ भी निश्चित कर ली जाती हैं। लोगों को विभिन्न श्रेणी के संबंधियों के लिए विभिन्न व्यवहार-प्रकार रखने पड़ते हैं। प्रत्येक समाज के शिष्टता व व्यवहार-संबंधी अपने नियम हुआ करते हैं। कुछ संबंधियों के प्रति श्रद्धा और सम्मान का भाव अपेक्षित रहता है। माता-पिता प्रायः सदैव इसी श्रेणी के संबंधियों में आते हैं। किन्तु इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे संबंधी होते हैं, जो एक-दूसरे से विमुख रहना पसंद करते हैं। तीसरी प्रकार के वे संबंधी होते हैं जिनके साथ हँसी-मसखरी के संबंध रखे जा सकते हैं।

विमुखता (एवॉयडेंस): इसका अर्थ यह है कि कतिपय संबंधी, जिनके संबंध कतिपय विशिष्ट श्रेणियों में आते हैं, जहाँ तक हो सके एक दूसरे से विमुख रहें और हर संभव पारस्परिक सामाजिक अंतःक्रिया को टालते रहें। कई समाजों में सास अपने दामाद के सामने घूँघट निकालती है और उससे बात तक नहीं कर पाती। इसी प्रकार वह अपने पति के पिता या अन्य किसी वयोवृद्ध पुरुष संबंधी के सम्मुख अवगुंठनहीन होकर नहीं जा सकती। ये विमुखता-विषयक नियम दोनों संबंधियों पर लागू होते हैं। एक ससुर से भी यही अपेक्षा की जाती है कि वह जहाँ तक हो सके बहू से बात करने के अवसर टालता रहे।

हँसी-मसखरी के संबंध (जोकिंग रिलेशनशिप्स): यह विमुखता के एकदम विपरीत है। ऐसे संबंध रखने वाले लोगों में घनिष्ठता और सामीप्य अधिक होता है। बहुधा ये संबंध विवाह-संबंधियों के साथ रखे जाते हैं। देवर या साली के साथ हँसी-मज़ाक करने की प्रथाएँ और व्यवहार-प्रणालियाँ कई समाजों में प्रचलित हैं। कहीं-कहीं ऐसे संबंध दादी-पोते या दादा-पोती के बीच भी होते हैं। कुछ स्थानों पर मामी-भानजे के बीच ऐसे संबंध समाज-स्वीकृत होते हैं। इस प्रकार के संबंध आवश्यक और वैकल्पिक दोनों प्रकार के हो सकते हैं। गाली देना, यौन-संबंधी भद्दे मज़ाक करना, खिल्ली उड़ाना, एक-

दूसरे की वस्तुओं की दुर्गति करना आदि कई तरीकों से इन संबंधों की सूचना दी जाती है। अरापाहो समाज में जीजा-साली में से कोई भी अगर देर तक सोता रहे तो उस पर जीजा या साली, जो भी जागता रहे, ठंडा पानी गिरा सकता है। ये लोग आपस में चुम्बन भी ले सकते हैं।

मातुलेय (एवंकुलेट) : मातृक समाजों में माता के भाई (मातुल) का अधिकार और नियंत्रण रहता है। ऐसी स्थिति में मातृगृह में भी जाकर रहना कभी-कभी अनिवार्य-सा हो जाता है। जहाँ मातुल की सत्ता और शक्ति अधिक हो, उस प्रथा को मातुलेय कहेंगे। यहाँ एक व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने पिता से भी अधिक सम्मान मातुल का करे।

पितृश्वस्रेय (एमिटेट) : मेलानेशिया के कुछ भागों में पिता की बहन (पितृश्वसा) का अधिक महत्त्व होता है। वही अपने भाई के बच्चों के पोषण, नियंत्रण और विवाह आदि के उत्तरदायित्व सँभालती है। इस प्रथा के अधीन एक व्यक्ति माता से अधिक पितृश्वसा का सम्मान करने के लिए बाध्य होता है।

सह-प्रसविता (सहकष्टी या 'कूवा'): इस प्रथा का संबंध प्रसव-काल से है। कतिपय समाजों में यह आवश्यक होता है कि प्रसवा का पति भी उन सभी प्रकार के कष्टों की अनुभूति करे जो प्रसवा को हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में उसे भी बीमारों का भोजन खिलाया जाता है, उसी कमरे में उसे बंद रखा जाता है जिसमें प्रसवा प्रसवोपरांत कुछ काल के लिए रहती है। उसे भी उतना ही अस्पृश्य समझा जाता है जितना कि प्रसवा को। इस प्रथा के मूल में सामाजिक कारण यह दीख पड़ता है कि जो व्यक्ति इतने कष्ट सहता है, वह सामाजिक रूप से ज्ञात हो जाता है और इसलिए वह पुरुष उस संतति का पिता बनने का अधिकारी हो जाता है। यह सदैव आवश्यक नहीं है कि यह पिता जैविकीय पिता भी रहा हो। टोडा समाज में इस प्रथा को धनुष-बाण की भेंट देकर पूरा किया जाता है।

माध्यमिक संबोधन (टेक्नॉनिमी) : कहीं-कहीं पर ऐसे नियम भी पाए जाते हैं जहाँ संबंधी को उसके नाम से पुकारना वर्जित होता है। ऐसी स्थिति में किसी अन्य व्यक्ति के नाम के साथ उसका संबंध जोड़कर पुकारा जाता है। इस प्रकार संबोधन के लिए अन्य को माध्यम बनाया जाता है। उदाहरणार्थ हिन्दू समाज में पति का नाम महिलाएँ नहीं लिया करतीं। पर संबोधन के लिए वे 'बाबू के पिताजी' या ऐसी ही कुछ वर्णित-संज्ञा का प्रयोग किया करती हैं।

वंश

मूल परिवारों का उनके सदस्यों के विवाह के बाद अन्य कई मूल परिवारों

में विभाजन होता आया है। इस प्रकार एक ही परिवार के सदस्य अलग-अलग परिवारों में विभाजित हो जाने पर भी कुछ सामाजिक संस्थाओं के आधार पर संबंधी बने रहते हैं। ऐसे परिवार-समूह को विस्तारित परिवार कहा जाता है। जब पिछली पाँच-छः पीढ़ियों में ही किसी ज्ञात पूर्वज का पता चले, और जिसकी संतति विस्तारित परिवारों में फैली रहे तो विस्तारित परिवारों के उस बृहत् समूह को वंश कहा जायगा। वंश-निर्णय जब पिता से होता है तब पितृवंश, और माता से होने पर मातृ-वंश कहलाता है। स्मरण रहे, इसमें आदर्शतः पूर्वज का वास्तविक होना आवश्यक होता है, किंवदंती पर या पुरावृत्त-आधृत पूर्वज वास्तविक वंश-निर्णय के लिए पर्याप्त नहीं होते। इसी संदर्भ में यह कहना भी आवश्यक है कि कतिपय समाजों में सामाजिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से संपूर्णतः काल्पनिक पूर्वजों के आधार पर वंश-वर्णन के उदाहरण भी देखने में आए हैं। ऐसी स्थिति में काल्पनिक पूर्वज को यथार्थ ही माना जाता है और दो या तीन पीढ़ियों के बाद उनकी यथार्थता मानसिक धरातल पर असंदिग्ध मानी जाने लगती है। कतिपय अरब समूहों में कुछ ऐसे विशेषज्ञ हैं जो उचित पुरस्कार मिलने पर व्यक्ति का संबंध महत्त्वपूर्ण काल्पनिक पूर्वजों के साथ सहज ही स्थापित कर देते हैं। क्लकहॉन ने इंगलैंड के एक ऐसे मनोरंजक विज्ञापन का उदाहरण दिया है जिसमें विज्ञापक ने समुचित पारिश्रमिक की प्राप्ति पर अमरीकी व्यक्तियों का संबंध इंगलैंड के बड़े नामों वाले वंशजों से निश्चित कर देने का आश्वासन दिया था।

गोत्र

गोत्र वंश से अधिक व्यापक समूह का नाम है। इसमें सदैव यह संभव नहीं होता कि वास्तविक पूर्वज का पता लगाया जा सके। वंश का चाहे अपना कोई नाम न हो, किन्तु फिर भी सर्व-पूर्वज (कॉमन एन्सेस्टर) का ज्ञान होने के कारण उस इकाई के संबंधों को भली भाँति देखा जा सकता है। सीधे अर्थों में, गोत्र को हम कई वंशों का समूह कह सकते हैं। इसका निर्धारण पिता अथवा माता किसी एक की ओर से किया जाता है। अलग-अलग वंशों के होते हुए भी एक ही गोत्र के सदस्य अपने को किसी दूरस्थ पूर्वज के वंशज ही मानते हैं। यह पूर्वज पुरावृत्त-आधृत भी हो सकता है। संबंधुता का यह भाव इस समूह को भी बहिर्विवाही बना देता है। मुसलमानों में प्रचलित चचेरों में विवाह की प्रथा के अतिरिक्त सर्वत्र गोत्र-बहिर्विवाह सामान्यक-सा है। इस प्रकार वंश को हम गोत्र और परिवार के मध्य की संधि-रेखा मान सकते हैं।

आदिवासी समाजों में गोत्र-पूर्वज सदैव मनुष्य ही रहा हो, यह आवश्यक

नहीं माना जाता। किसी भी पशु अथवा वस्तु को भी पूर्वज मान लिया जाता है। उदाहरणार्थ, कमारों में कुंजाम गोत्र का उद्‌भव तब संभव हुआ जब एक स्त्री ने बकरे के संसर्ग से संतान उत्पन्न की। कहीं पर घोड़े और स्त्री के संसर्ग-स्वरूप उत्पन्न संतति, अथवा सूअर और स्त्री की संतति, आदि की प्रचलित किंवदंतियाँ गोत्र-नाम निर्धारित करती हैं। कहीं-कहीं किसी वास्तविक पूर्वज के नाम से भी गोत्र चल जाता है। कुछ गोत्रों के नाम उसके सदस्यों की कतिपय विशेषताओं पर आधारित होते हैं। जब पशु-जगत् या वस्तु-जगत् के किसी सदस्य से संतति और पूर्वज का संबंध स्थापित किया जाता है, तब वह पशु या वस्तु उस गोत्र के लिए विशेष महत्त्व और पूजा के योग्य हो जाती है। गोत्र के सदस्यों के लिए वह देव-तुल्य है। इसे **टोटम** कहा जाता है। यह टोटम चिह्न (गण-चिह्न) कई धार्मिक क्रियाओं को जन्म देता है और कुछ विद्वान् तो वास्तविक धर्म के उद्‌भव में टोटम-वाद का विशेष महत्त्व तथा स्थान भी स्वीकार करते हैं। वस्तुतः लोग क्यों पशु या वस्तु को अपना पूर्वज या टोटम चिह्न मानने लगे, और इसे धार्मिक महत्ता देने लगे, इस विषय पर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। फिर भी, यह सत्य है कि टोटम की इस संस्था का व्यापक प्रसार आदिवासी समाजों में पाया जाता है।

भ्रातृदल (फ्रेट्री या गोत्र-समूह)

संगठन की दृष्टि से कभी-कभी कई गोत्र मिलकर एक बृहत् समूह बना लेते हैं। इसे ही हम भ्रातृदल कहते हैं। इस भ्रातृदल के प्रत्येक गोत्र के सदस्य अपने गोत्र को तो विशेष महत्त्व देते हैं, पर उसके साथ ही भ्रातृदल के प्रति भी अपने कर्तव्य निभाते हैं। यह बहुत ही ढीला और अपेक्षाकृत असंगठित-सा समूह रहता है। साधारणतः विवाह की दृष्टि से इस दल का अधिक महत्त्व नहीं होता, फिर भी यह शुभ समझा जाता है कि कोई इस दल में अंतर्विवाह न करे।

अर्द्धांश और द्विदल-संगठन

आदान-प्रदान सामाजिक संबंध-शृंखला के लिए अपरिहार्य है। इसी को सुचारु रूप से चलाए रखने के लिए कुछ समाजों में समस्त आदिवासी समूह को दो अर्द्धांशों में बाँट दिया जाता है। अंग्रेजी में इसे ही 'मोइटी' कहते हैं। ये अर्द्धांश सामान्यतः बहिर्विवाही होते हैं, और इसलिए एक अर्द्धांश के सदस्य अपने विवाह-साथी दूसरे अर्द्धांश से प्राप्त करते हैं। टोडा लोगों में ये अर्द्धांश अंतर्विवाही ही हैं। जब कोई भी अर्द्धांश संख्या की दृष्टि से बड़ा या छोटा होने लगे तो उसे पुनर्संगठित किया जा सकता है। इस प्रकार की व्यवस्था में समस्त समूह दो दलों में विभाजित

कर दिया जाता है। ये दोनों दल व्यवस्था चलाने में संगठन को सहायता पहुँचाते हैं। इस प्रकार के समाजों को द्विदलीय संगठन वाले समाज भी कहा जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्य का संबंध-क्षेत्र परिवार से आरंभ होकर विस्तारित परिवार या वंश (या दोनों), गोत्र, भ्रातृदल, अर्द्धांश और आदिजाति तक विस्तारित होता जाता है। ऐसे संगठन की रूपरेखा स्पष्ट करने के लिए हम आसाम के आइमोल कूकी समाज के संगठन को सामने के पृष्ठ पर चित्रित कर रहे हैं।

गोत्र के कार्य

१. पारस्परिक सहायता और सुरक्षा : एक गोत्र के सदस्य स्वयं को रक्त-संबंधी मानते हैं, और इसीलिए आवश्यकता के समय सहायता के लिए वे सबसे पहले इन्हीं निकट के संबंधियों के पास जाते हैं। संबंध की शृंखलाएँ इतनी सशक्त होती हैं कि सहायता की अपेक्षा स्वाभाविक मानी जाती है। आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, किसी भी क्षेत्र में गोत्र के सदस्यों से सहायता प्राप्त की जा सकती है। बीमारी के समय भी गोत्र के लोगों का पूर्ण सहयोग प्राप्त होता है।

सामाजिक सुरक्षा की दृष्टि से परिवार की विशिष्ट स्थिति सदैव स्वीकार की गई है। परिवार का कोई सदस्य यदि आर्थिक दृष्टि से अयोग्य भी है तो भी परिवार के अन्य सदस्य अपना कर्तव्य समझकर उसका पोषण करते हैं। यही सामाजिक सुरक्षा का भाव गोत्र तक में उपलब्ध होता है। इन दो भावों—सहायता और सुरक्षा—की उपस्थिति के कारण गोत्र की अपनी संगठित इकाई तैयार हो जाती है। यदि गोत्र के किसी सदस्य के प्रति कोई दुर्व्यवहार कर रहा है, तो सभी सदस्य उसका विरोध करने को तैयार हो जायँगे। इसी प्रकार गोत्र के किसी सदस्य के हीन-कृत्यों का उत्तरदायित्व और बदनामी सारे गोत्र के सदस्यों पर आती है।

२. गोत्र के सदस्यों पर नियंत्रण : गोत्र के अनुत्तरदायी व्यक्तियों को ठीक करने या उन्हें उचित शिक्षा देने के कार्य भी गोत्र ही करता है। किसी अति भ्रष्ट व्यक्ति को गोत्र-बहिष्कृत कर देना भी उसके अधिकारों की सीमा-रेखा में है। परिवारों के वयोवृद्ध मिलकर गोत्र-संगठन के मुखियाओं का कार्य-भार सँभालते हैं। अतः जो कार्य परिवार के मुखिया का सामाजिक नियंत्रण और समाजीकरण की प्रक्रियाओं में रहता है, वही कार्य गोत्र के मुखिया भी संपन्न किया करते हैं।
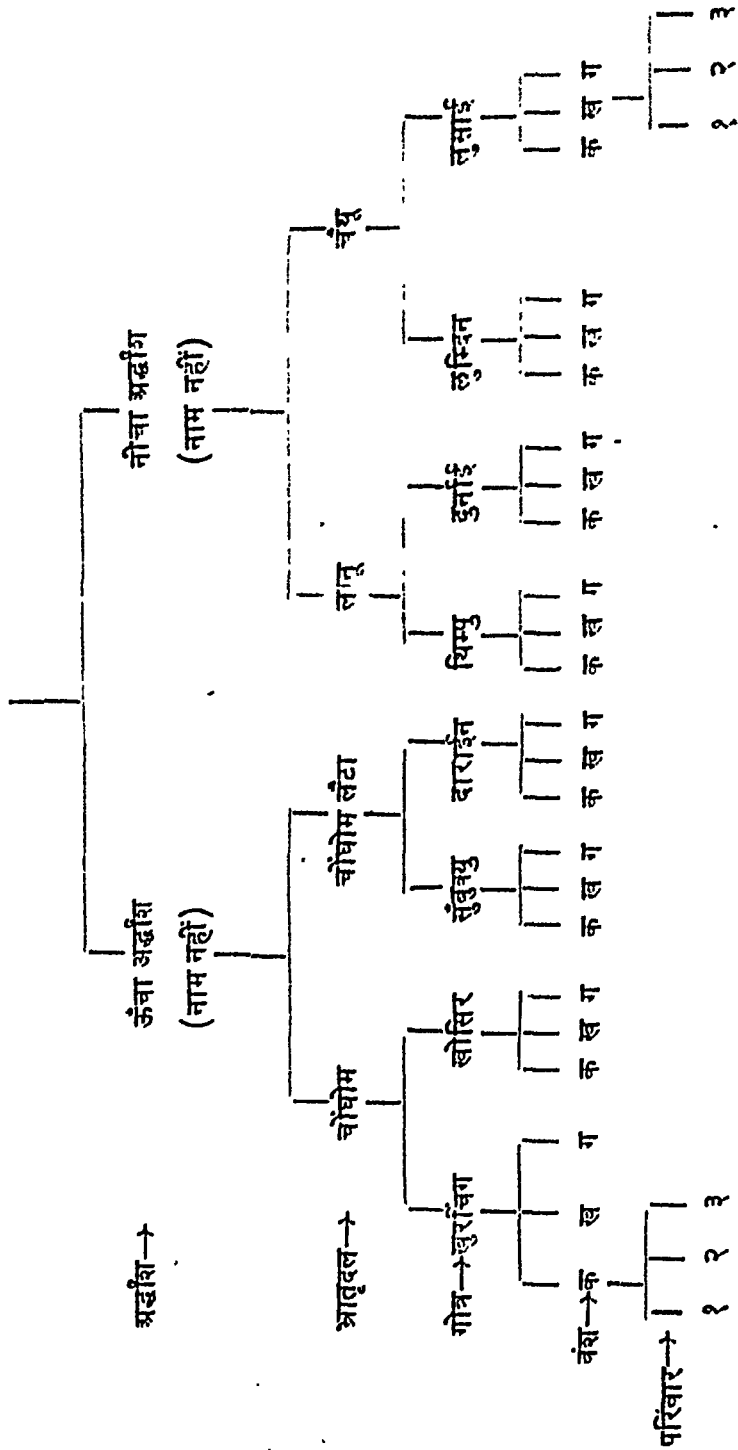
आदि-जाति→
आइमोल कूकी
अर्द्धांश→
ऊंचा अर्द्धांश
(नाम नहीं)
नीचा अर्द्धांग
(नाम नहीं)
भ्रातृदल→
चोंघोम
चोंघोम लैंटा
लानू
चैंयू
गोत्र→खुरांचिग
खोसिर
सुंबुत्र्यु
दाराईन
थिम्पु
दुर्नाई
लुम्दिन
लुसाई
वंश→क ख ग
क ख ग
क ख ग
क ख ग
क ख ग
क ख ग
क ख ग
क ख ग
परिवार→
१ २ ३
१ २ ३

३. **बहिर्विवाह :** विवाह को नियमित करने के लिए बहिर्विवाह की प्रथा का पालन कराना गोत्र का कार्य है। एक गोत्र के सदस्यों में परस्पर संबंधता का भाव रहता है और इसलिए गोत्र के सदस्यों में ही विवाह-संबंधों का होना निकटाभिगमन (इन्सेस्ट) समझा जायगा। आदिवासी समाजों में निकटाभिगमन के प्रति जो निषेधात्मक भाव है, वह इस कार्य को संचालित करवाने में गोत्र की सहायता करता है।

४. **विधिक कार्य :** आदि-जातीय संगठन की रचना कुछ ऐसी होती है कि गोत्र के नियमों का ही विस्तृत प्रसारण होने लगता है। पूरे समाज की विधि इन गोत्रों की विधियों का संकुल कही जा सकती है।

५. **शासन :** आदिवासी समाजों में शासकीय कार्य चलाने के लिए प्रधान लोग रहते हैं। ये बहुधा गोत्र के मुखिया होते हैं और अपने गोत्र का प्रतिनिधित्व शासकीय परिषद् में किया करते हैं। सारे समुदाय के लिए निर्णय-निर्धारण, विधि-नियामन का कार्य यही लोग करते हैं। इन्हें समाज का विधि-नियंता भी कहा जा सकता है। कई समाजों में किसी एक गोत्र को इतना ऊँचा स्थान दे दिया जाता है कि सदैव उसी का सदस्य समुदाय का सरदार या राजा हो सकता है। इसी प्रकार अन्य गोत्रों के प्रधानों के कार्य भी स्पष्ट रूप से निर्धारित रहते हैं।

६. **धर्म और धार्मिक क्रियाएँ :** गोत्र और टोटम-चिह्न का संबंध ऊपर व्यक्त किया जा चुका है। टोटम की पूजा और आराधना, सारे गोत्र के सदस्यों का कार्य है। इसी प्रकार पूर्वज-पूजा की प्रथा से गोत्र के मृतक सदस्य भी देवता-तुल्य हो जाते हैं। इन धार्मिक क्रियाओं का धर्म में सुनिहित या धर्म का एक अविच्छिन्न अंग होना स्वाभाविक प्रक्रिया माना जा सकता है।

७. **सम्पत्ति :** गोत्र-संगठित समाजों में कई खेत या बगीचे गोत्र-संपत्ति होते हैं। ऐसे स्थानों पर गोत्र के प्रत्येक सदस्य परिवार को भूमि के उपयोग का अधिकार देने का कार्य गोत्र के प्रधान ही करते हैं। वही सारा हिसाब-किताब रखते हैं। परिवार इस भूमि को स्वयं जोत सकते हैं या दूसरे से जुतवा सकते हैं; परन्तु इसे बेचने का अधिकार उन्हें नहीं होता। इस प्रकार परिवारों को उपयोग का अधिकार रहता है, संपत्ति के स्वामित्व का नहीं। यह प्रथा अफ्रीका और इंडोनेशिया में आज भी प्रचलित है।

संक्षेप में, गोत्र सदस्यों की संगठन-शक्ति को पारस्परिक सहायता, सुरक्षा की सुविधाएँ देकर, और विधिक, शासकीय अधिकारों का उपयोग कर, बनाए रखने में योग देते हैं। रक्त-संबंध की भावना से मुखर बहिर्विवाह का पालन

भी इसी का ध्येय और कार्य है। इनके अतिरिक्त कतिपय विधिक, शास्त्रीय धार्मिक-सांस्कारिक और आर्थिक कार्य भी हैं जो गोत्र द्वारा संपन्न किये जाते हैं। गोत्र सामाजिक संगठन की वह इकाई है जो पूरे समुदाय की व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण योग देती है, और सामाजिक शक्ति के स्रोत प्रवाहित करती है।

भी इसी का ध्येय और कार्य है। इनके अतिरिक्त कतिपय विधिक, शासकीय धार्मिक-सांस्कारिक और आर्थिक कार्य भी हैं जो गोत्र द्वारा संपन्न किये जाते हैं। गोत्र सामाजिक संगठन की वह इकाई है जो पूरे समुदाय की व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण योग देती है, और सामाजिक शक्ति के स्रोत प्रवाहित करती है।

कार्य माने जा सकते हैं। एक व्यक्ति की एक से अधिक स्थितियाँ होने की संभावना स्वाभाविक रूप से उसके एक से अधिक कार्यों के लिए उत्तरदायी होने की संभावना को जन्म देती है।

स्थिति का विभाजन दो भागों में किया जा सकता है—'जन्मजात स्थिति' और 'प्राप्त स्थिति'। भारतीय जाति-व्यवस्था के अंतर्गत व्यक्ति जन्म के समय ही उच्च, मध्यम या निम्न स्थिति में उत्पन्न होता है। यह जन्मजात स्थिति का एक आदर्श उदाहरण माना जा सकता है। राजकुल, अभिजात-वर्ग, शासक-वंश आदि में व्यक्ति जन्मजात स्थिति का उत्तराधिकारी होता है। इसके विपरीत अपने प्रयत्नों द्वारा व्यक्ति जो स्थिति उपलब्ध करता है उसे हम प्राप्त स्थिति कहते हैं। साधारण जाति-कुल तथा हीन आर्थिक परिस्थितियों में जन्म लेकर यदि कोई व्यक्ति उच्च सामाजिक, राजकीय अथवा आर्थिक स्थान प्राप्त करे तो उसे हम उसकी प्राप्त स्थिति कहेंगे। यह कहने की संभवतः कोई आवश्यकता नहीं है कि जन्मजात और प्राप्त स्थितियों की व्याख्या और उनकी प्राप्ति की संभावनाएँ संस्कृति द्वारा ही निर्धारित होती हैं।

स्थिति-भेद के कतिपय मुख्य कारक हैं यौन-भेद, आयु-भेद, संपत्ति-भेद, और योग्यताओं और प्रवृत्तियों पर आधारित भेद। संसार की विभिन्न संस्कृतियों में स्त्री और पुरुषों की स्थिति और कार्यों में कतिपय महत्त्वपूर्ण अंतर पाए जाते हैं। इनके कारण प्राणी-शास्त्रीय हैं और सांस्कृतिक भी। जहाँ एक ओर कई समाजों में नारी अबला, शक्तिहीन और संरक्षण की अधिकारिणी मानी जाती है, दूसरी ओर ऐसे समाज भी हैं जो इसे पवित्र तथा धार्मिक दृष्टि से दैवी शक्ति सम्पन्न मानते हैं। स्त्री और पुरुषों के आर्थिक कार्यों और उत्तरदायित्वों में ये अंतर बड़े तीव्र रूप में लक्षित होते हैं। अधिकांशतः अधिक कष्ट एवं परिश्रम-साध्य कार्य पुरुष करते हैं, और अनेक पारिवारिक उत्तरदायित्व स्त्री पर छोड़ दिये जाते हैं। स्त्रियोचित और पुरुषोचित कार्यों को संस्कृति ही निर्धारित करती है। कुछ समाज राजनीति से स्त्रियों को अलग रखते हैं, कुछ में उन्हें इस क्षेत्र में समान अधिकार प्राप्त होते हैं। अनेक संस्कृतियों में धर्म और जादू के क्षेत्र में स्त्रियों का स्थान गौण अथवा नगण्यप्राय रहता है, परन्तु ऐसी संस्कृतियाँ भी हैं जो उन्हें इस क्षेत्र में प्रमुखता देती हैं। आयु के आधार पर स्थिति-भेद भी संसार की प्रत्येक संस्कृति में पाया जाता है। शिशु, बालक, किशोर, युवा, प्रौढ़ तथा वृद्ध, ये आयु-स्थितियाँ प्रायः प्रत्येक समाज द्वारा मानी जाती हैं, और इनके अनुरूप कार्यों की योजना संस्कृति द्वारा निर्धारित की जाती है। सम्पत्ति संबंधी भेद भी स्थिति-निर्धारण के क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हैं।

आर्थिक संगठनों का विश्लेषण करते हुए यह कहा जा चुका है कि कतिपय स्तरों की संस्कृतियों में वर्ग और स्तर-भेद बहुत कम पाए जाते हैं, और कुछ संस्कृतियों में वे अत्यंत विकसित रूप में मिलते हैं। सम्पत्ति अनेक समूहों में अधिकार और नेतत्व-द्योतक भी होती है। जहाँ व्यक्ति अपना लिंग अथवा अपनी आयु को परिवर्तित कर अपनी स्थिति को बदलने के सफल प्रयास नहीं कर सकता, सम्पत्ति संचय कर वह अपनी स्थिति अवश्य बदल सकता है। अमरीका के उत्तर-पश्चिम तट के इंडियन समूह पाटलेश नामक व्यय-साध्य भोजों द्वारा अपनी स्थिति बदलने का यत्न करते हैं। नृतत्व के साहित्य में क्वार की टट्ल समूहों के सम्पत्ति के व्यय द्वारा किये जाने वाले युद्ध प्रसिद्ध हैं। ये भी स्थिति-परिवर्तन की दृष्टि से किये जाते हैं। प्रवृत्तियाँ, योग्यताएँ और उपलब्धियाँ भी स्थिति-निर्धारण में सहायक होती हैं। युद्ध को महत्त्व देने वाली संस्कृतियों में वीरता और शौर्य पुरस्कृत गुण माने जाते हैं। अदृश्य जगत् की शक्तियों से संबंध स्थापित कर सकने की क्षमता शामन लोगों को उच्च स्थिति दिलवाती है। प्राविधिक योग्यता तथा कला-कौशल आदि-समाजों और आधुनिक समाज में समान रूप से व्यक्ति को उच्च स्थिति देने में समर्थ होते हैं।

वर्ग और जाति

सामाजिक भेदों का स्तरीकरण वर्गों को जन्म देता है। वर्ग का आधार मूलतः आर्थिक होता है, किन्तु आर्थिक अंतरों पर आश्रित ये वर्ग सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि से भी वैशिष्ट्यपूर्ण रहते हैं। शास्त्रीय दृष्टि से हम समाज के उन विशिष्ट समूहों को वर्ग कहेंगे जिनके सदस्यों की कतिपय विशेष सामाजिक स्थितियाँ और कार्य होते हैं, और जिनके आधार पर वे स्वयं अपने-आपको समाज के अन्य समूहों से भिन्न मानने लगते हैं। संकलन-आखेटक और सरल कृषि-व्यवस्था के आर्थिक स्तरों पर विकसित वर्ग-भेद नहीं पाया जाता। विकसित कृषि-स्तर पर सम्पत्ति-भेद की संभावना अधिक रहती है, और इस धरातल पर वर्ग-भेद के अनेक रूप लक्षित होते हैं। अमरीका के प्लेन्स-इंडियनों में जहाँ बीज रूप में वर्ग-भेद की छाया-मात्र दीख पड़ती है, उत्तर-पश्चिम तट के इंडियन समूहों में स्वतंत्र और दास वर्गों के रूप में उसका अपेक्षाकृत विकसित रूप हमें मिलता है। भारत के चेंचू, कमार आदि आदिवासी समूहों में वर्ग-भेद नहीं हैं, किन्तु गोंडों की 'राज गोंड' शाखा उनमें पाए जाने वाले वर्ग-भेद की ओर स्पष्ट संकेत करती है।

धार्मिक स्थिति और आर्थिक कार्यों संबंधी भेद के सम्मिलित स्तरी-करण

ने भारत की जाति-व्यवस्था को जन्म दिया है। भारतीय जाति-प्रथा से मिलती-जुलती समाज व्यवस्थाएँ संसार के कतिपय अन्य क्षेत्रों में भी पाई जाती हैं, परन्तु जितने जटिल रूप में यह भारत में विकसित हुई है उतनी अन्यत्र कहीं नहीं।

भारतीय हिन्दू समाज पाँच प्रमुख स्तरों और कई सौ उप-स्तरों में विभाजित है। इन विभिन्न स्तरों के विभिन्न समूह आर्थिक कार्यों में एक-दूसरे से भिन्न होने के अतिरिक्त धार्मिक अशुद्धि से बचे रहने के लिए खान-पान, विवाह-संबंध तथा संपर्क आदि के क्षेत्रों में भी एक-दूसरे से अलग रहते हैं।

आयु-समूह

अनेक आदि-संस्कृतियों में आयु-वर्ग या आयु-समूह अत्यंत विकसित रूप में मिलते हैं। संगठन की यह इकाई एक ऐसी संगठित समिति की द्योतक है जिसके अन्तर्गत किसी आदि-जाति के वे सब सदस्य आते हैं जो विशिष्ट यौन की विशिष्ट आयु-स्थितियों में होते हैं। विभिन्न आयु-स्थिति के स्त्री-पुरुषों के सम्मिलित अथवा भिन्न-भिन्न संगठन ही आयु-वर्ग या आयु-समूह कहे जा सकते हैं। अफ्रीका के नांदी, स्वाज़ी आदि समूहों में इनका संगठन हमें मिलता है। नांदी समाज में पहला आयु-समूह अदीक्षित तरुणों का होता है। दीक्षा संस्कार, जिसमें बालक का खतना होता है और मार-पीटकर उसकी सहन-शक्ति की परीक्षा ली जाती है, उसे दूसरे आयु-समूह में ले जाता है। इस दीक्षित समूह को विशेष आभूषण और चिह्न धारण करने का अधिकार मिल जाता है। चार वर्षों तक वे योद्धाओं की वेश-भूषा में रहते हैं और योद्धाओं का जीवन व्यतीत करते हैं। चार वर्ष बाद वे समाज के सामान्य सदस्यों की स्थिति प्राप्त करते हैं और पारिवारिक उत्तरदायित्व स्वीकार करने को स्वतन्त्र हो जाते हैं। इस स्थिति में भी अपने पूर्व-आयु-समूह के सदस्यों से उनका विशेष संबंध बना रहता है।

क्लब और गुप्त समितियाँ

क्लब और गुप्त समितियों के निर्माण की प्रवृत्ति संसार की अनेक संस्कृतियों में पाई जाती है। यह प्रवृत्ति पुरुष-वर्ग में विशेष रूप से लक्षित होती है, यद्यपि संसार के कतिपय भागों में स्त्रियों के क्लब और उनकी कतिपय 'गुप्त समितियाँ भी मिलती हैं। ये समितियाँ और क्लब विशिष्ट उद्देश्यों की सिद्धि के लिए बनाये जाते हैं। उनके उद्देश्य प्रकट हो सकते हैं, और गुप्त भी। मनोरंजन, युद्ध संग न, चिकित्सा और धार्मिक योग्यताओं की प्ति आदि विभिन्न उद्देश्यों के लिए

उनका संगठन होता है। कतिपय समितियों की सदस्यता सरलतापूर्वक प्राप्त की जाती है, परन्तु कुछ समितियाँ ऐसी भी रहती हैं जिनकी सदस्यता के लिए विशेष योग्यताएँ प्राप्त करनी पड़ती हैं या जिनका द्वार उन्हीं के लिए खुलता है जो निर्धारित परीक्षाओं में उत्तीर्ण होते हैं। विभिन्न प्रकार की समितियों के लिए ये योग्यताएँ और परीक्षाएँ भिन्न रहती हैं। समितियों के सदस्यों के कर्तव्य निश्चित रहते हैं और अनेक स्थितियों में उनके संबंध उन्हें एक-दूसरे पर विशेष अधिकार प्रदान करते हैं। समाजीकरण, प्रशिक्षण और मनोरंजन आदि के क्षेत्र में ये समितियाँ महत्त्वपूर्ण कार्य करती हैं।

नियंत्रण और शासन

अन्त में नियंत्रण और शासन के संबंध में कुछ शब्द कहना आवश्यक है। संस्कृति की परंपराओं और समाज के गठन को बनाए रखने के लिए नियंत्रण की योजना अनिवार्य होती है। इस दिशा में सामाजिक संगठन की अनेक इकाइयों के उत्तरदायित्व और अधिकार होते हैं, जिनके स्वरूप विभिन्न संस्कृतियों में भिन्न-भिन्न होते हैं। परिवार और संबंधी-समूह प्रायः प्रत्येक संस्कृति में इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं। अनेक संस्कृतियों में गोत्र द्वारा भी ये कार्य किये जाते हैं। समूह की स्थानीय, क्षेत्रीय अथवा पूर्ण सामूहिक इकाइयाँ भी नियंत्रण के लिए उत्तरदायी होती हैं। इन सामाजिक इकाइयों के अतिरिक्त अनेक संस्कृतियों में शासकीय व्यवस्था भी स्वतंत्र रूप से विकसित दीख पड़ती है, यद्यपि कहीं वह अविकसित, कहीं अल्प-विकसित, और कहीं अत्यंत विकसित होती है।

आदि-संस्कृतियों में विधि और नियम अलिखित होते हैं। वे अधिकांशतः मौखिक परंपरा के रूप में ही जीवित रहते हैं। अनेक स्थितियों में 'अपराध' और 'पाप' में भेद नहीं किया जाता। व्यक्ति के प्रति किये गए अपराधों और समाज के प्रति किये गए अपराधों की विभाजक-रेखा भी स्पष्ट नहीं होती। नियमों के उल्लंघन की घटनाएँ और उनके लिए दिया गया दण्ड समाज को स्मरण रहते हैं, और उन्हीं के आधार पर उस प्रकार के अपराधों को दंडित किया जाता है। विधिक नृतत्त्व के क्षेत्र में किये गए नये अनुसंधानों से ज्ञात होता है कि अनेक आदि-संस्कृतियों में विधि और नियमों का पर्याप्त एवं जटिल विकास हुआ है।

अपराधों की कतिपय कोटियाँ ऐसी होती हैं जिनका दंड अदृश्य जगत् की दैवी शक्तियों द्वारा दिया जाता है। अन्य कुछ श्रेणियों के कृत्यों को उनके विरुद्ध होने वाला जनमत ही नियंत्रित कर लेता है। गंभीर प्रकार के अपराधों पर समाज के नियमों और विधि के अनुसार विचार करके न्याय किया जाता है। अनेक

संस्कृतियों की न्याय-व्यवस्था के अनुसार अपराध का प्रत्यक्षदर्शियों की गवाहियों द्वारा प्रमाणित करना अनिवार्य नहीं होता। कई स्थितियों में इस संबंध में व्यक्ति को कठिन परीक्षाएँ देनी पड़ती हैं। यदि वह उनमें से संतोषजनक रूप से निकल आता है तो उसे निर्दोष मान लिया जाता है, अन्यथा वह दंडित किया जाता है। कई समाजों में व्यक्ति के दोषी अथवा निर्दोष होने की परीक्षा का कार्य जादू और धर्म के अधिकर्ताओं पर छोड़ दिया जाता है। वे परंपरा-स्वीकृत शैलियों से उनकी परीक्षा कर उनके अपराधी होने या न होने के संबंध में अपना निर्णय देते हैं। कई संस्कृतियों में शपथों द्वारा संभावित अपराधी से घटनाओं के सत्य को जानने का यत्न किया जाता है। वैसे कई आदि-संस्कृतियाँ ऐसी भी हैं जिनमें विधि के अनुसार अपराध पर निर्णायकगण विचार करते हैं, और अपराध के प्रमाणित होने पर अपराधी को दंड देते हैं।

संस्कृति के इस धरातल पर दंड के स्वरूप भी अनेक हैं। इन संस्कृतियों के संदर्भ में यह कहना आवश्यक है कि अपराध के लिए केवल वही व्यक्ति दंडित नहीं किया जाता जिसने अपराध किया हो, उसके साथ ही उसके परिवार, गोत्र, स्थानीय समूह, आदि-जाति (या जाति) भी दंडित किये जा सकते हैं। अपराधी को समाज-बहिष्कृत कर, उससे प्रायश्चित कराने और सामाजिक भोज लेने का नियम अनेक भारतीय आदिवासी समूहों में है। अपराधी को शारीरिक दंड देने की योजना भी अनेक आदि-संस्कृतियों में है। उन पर जुर्माना भी किया जा सकता है। कई संस्कृतियों में ऐसे व्यक्ति सार्वजनिक रूप से लज्जित किये जाते हैं। मृत्यु-दंड और कारावास में अपराधियों को रखने की योजना केवल विकसित राजकीय व्यवस्थाओं वाली संस्कृतियों में मिलती है ; वैसे, अनेक संस्कृतियाँ कई विशिष्ट स्थितियों में हत्या को जघन्य अपराध न मानकर उसे अपराध का उचित दंड मानती हैं। कई संस्कृतियों में अपराधी व्यक्ति के परिवार, ग्राम, गोत्र अथवा आदि-जाति के अन्य व्यक्तियों को लूट या मारकर उसके अपराधों का दंड दिया जाता है।

आदि-जगत् की राजकीय शासन-व्यवस्थाएँ तीन मुख्य सिद्धांतों पर आश्रित रहती हैं। प्रथम कोटि में ऐसी व्यवस्थाएँ आती हैं जिनका मूल आधार संबंध-प्रथा होती है। दूसरी श्रेणी की व्यवस्थाएँ स्थानीयता के सिद्धांत पर आधारित होती हैं। तीसरी श्रेणी में हम उन व्यवस्थाओं को रख सकते हैं जो विशेष हितों के संगठन पर आश्रित रहती हैं। पहले प्रकार की व्यवस्था में रक्त और विवाह-संबंधी अपने विस्तारित रूप में सामाजिक नियंत्रण का उत्तरदायित्व पूरा करते हैं। दूसरे प्रकार की व्यवस्था में राजकीय संगठन स्थानीय समूह (ग्राम), क्षेत्रीय

समूह (ग्राम समूह) और पूर्ण समूह (आदि-जाति) में निहित और विभाजित रहता है। कतिपय समूहों में समाज के अंतर्गत संगठित विशेष हित राजकीय सत्ता पर अधिकार रखते हैं।

राजकीय व्यवस्था का आधार कोई भी हो, प्रत्यक्ष शासन का उत्तर-दायित्व शासकों और अधिकारियों पर रहता है। ये अधिकारी मुखिया (हेडमेन), प्रधान (चीफ़टन्स) और राजा हो सकते हैं, या समूह की शासन-व्यवस्था ग्राम, ग्राम-समूह, और आदिजाति की सभाओं में निहित हो सकती है। इन दोनों के मिले-जुले रूप भी कई संस्कृतियों में दृष्टिगत होते हैं। शासक वंशा-नुक्रमण के सिद्धांत द्वारा अपने अधिकार पा सकते हैं, या विशेष योग्यताओं और प्रवृत्तियों के आधार पर उनका निर्वाचन अथवा नियुक्ति हो सकती है। कतिपय संस्कृतियों में शासकीय पद खरीदे भी जा सकते हैं। सभाओं की सदस्यता अधिकांशतः आयु, अनुभव, पारिवारिक स्थिति आदि के आधार पर व्यक्ति को मिलती है। कतिपय संस्कृतियों में शासकीय अधिकार धार्मिक अधिकर्ताओं को दिये जाते हैं, यद्यपि ऐसी भी अनेक संस्कृतियाँ हैं जिनमें शासकीय पद धार्मिक संगठन से किसी प्रकार भी संबद्ध नहीं रहते।

४

मानव और अदृश्य जगत्

एक

धर्म : सैद्धान्तिक पक्ष

अदृश्य और अज्ञात को देखने और जानने की जिज्ञासा मानव में चिरन्तन है। जो वस्तुएँ सदैव ही अदृष्ट और अज्ञात रहती हैं, उनके प्रति भिन्न-भिन्न प्रकार की कल्पनाएँ करना और विश्वास रखना मानव के लिए सर्वथा स्वाभाविक है। किसी घटना का जब वस्तु-जगत् के कारणों से कोई संबंध नहीं जोड़ा जा सकता, और जब वह नितान्त अनपेक्षित ही होती है तो उसे दैवी घटना मानकर मन को सांत्वना दी जाती है। इन्हीं अतीन्द्रिय और दैवी शक्तियों से मानव जिस प्रकार के संबंधों की स्थापना करता है, वे धर्म अथवा जादू या इनके बीच की किसी सीमा-रेखा का निर्माण करने में सहायक होते हैं।

किसी भी समाज के संगठन, उसकी उपलब्धियों और प्रगति का अंकन करते समय उसके धर्म की पृष्ठभूमि और समाज के सदस्यों को प्रभावित करने वाले धार्मिक कारकों का अध्ययन आवश्यक है। धार्मिक विश्वास और श्रद्धा ही अधिक अंशों में सुरक्षा और सहयोग की भावना को जन्म देते हैं। समाज की रचनात्मक अभिव्यक्तियों, विशेषकर उसके साहित्य और कला, सामाजिक गतिविधि और क्रिया-कलाप, सभी पर धार्मिक विश्वासों की प्रत्यक्ष या परोक्ष छाप अवश्य रहती है।

धार्मिक क्रियाओं के लिए दो बातें आवश्यक हैं : अतीन्द्रिय और दैवी शक्ति के प्रभावों की अनुभूति, और उनके प्रति विश्वास और मान्यताओं, व्यवहार और प्रथाओं की सृष्टि।

इस अनुभूति के फलस्वरूप उत्पन्न विश्वास और मान्यताएँ किन्हीं भी दो भिन्न दिशाओं में विकसित हो सकती हैं। जब इन अतिमानवीय,

अदृष्ट शक्तियों को वशीभूत और नियंत्रित करने की चेष्टा की जाती है, तब मानव अपने को इस योग्य समझने लगता है कि वह इन शक्तियों पर विजय पा सकता है। किन्तु, इसके विपरीत यदि वह अपनी असमर्थता स्वीकार कर इन शक्तियों के प्रति आत्म-समर्पण कर देता है, तब इन शक्तियों को वह नियंत्रित नहीं कर पाता, वरन् वह स्वयं उनसे नियंत्रित होने लगता है। पहले प्रकार के दृष्टिकोण से जिस कोटि की धार्मिक क्रियाओं की सृष्टि होती है, और वे जिस क्षेत्र का निर्माण करती हैं, उसे जादू कहा जाता है। दूसरी प्रकार की मान्यताओं पर आधारित क्षेत्र धर्म की परिधि में आता है।

जादू

जादू उस शक्ति-विशेष का नाम है, जिससे अतिमानवीय जगत् पर नियंत्रण प्राप्त किया जा सके और उसकी क्रियाओं को अपनी इच्छानुसार भले या बुरे, शुभ-अशुभ उपयोग में लाया जा सके। किसी भी जादू-क्रिया में हमें तीन तत्त्वों का समावेश मिलता है :

१. कतिपय शब्द—उच्चारित या अभिमंत्रित। ये शब्द साधारण से कुछ भिन्न और सामान्यतः गुप्त रखे जाते हैं। केवल उस क्रिया में दक्ष व्यक्ति ही इनका उपयोग जानते हैं, और इनको वे अपने शिष्यों को ही सिखाते हैं। कभी-कभी जब जादू सामाजिक रूप से मान्य होता है, तब उस समाज के सभी सदस्य उन शब्दों से परिचित होते हैं, किन्तु उस स्थिति में भी इन शब्दों को उन सब लोगों से गुप्त रखा जाता है जो इस संस्कृति के सदस्य नहीं हैं।

२. शब्दोच्चार के साथ कतिपय विशिष्ट क्रियाएं। मंत्रों के प्रतिफलित होने के लिए बहुधा उनके उच्चारण के साथ कतिपय क्रियाओं का करना भी आवश्यक होता है। ये क्रियाएँ मंत्रोच्चार को नाटकीय तत्त्व प्रदान करती हैं और यह विश्वास किया जाता है कि उनका सम्मिलित प्रभाव अभीष्ट की सिद्धि को पास लाता है।

३. जादू करने वाले व्यक्ति की विशेष स्थिति। जिन दिनों जादू की क्रियाएँ की जाती हैं, उन दिनों नित्यप्रति से भिन्न प्रकार का जीवन बिताना आवश्यक समझा जाता है। इस काल में कतिपय खाद्य या व्यवहार-प्रकार निषिद्ध होते हैं।

इन तीनों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मंत्र ही होते हैं; अन्य क्रियाएं उनसे संलग्न होती हैं। कभी-कभी इन क्रियाओं में से कुछ अनावश्यक हो सकती हैं, किन्तु मंत्र सर्वदा ही आवश्यक अंग के रूप में प्रत्येक जादू-क्रिया में उपस्थित

रहते हैं। ईश्वर या अदृष्ट शक्ति मानव के साथ सुलह करे, इस निमित्त ये प्रयुक्त होते हैं। आदर्शतः यदि ठीक प्रकार से मंत्रों का उच्चारण हो और अन्य क्रियाएँ नियमानुसार संपन्न की जायें तो अतिप्राकृतिक शक्ति कर्त्ता की इच्छानुसार कार्य करने को वाध्य हो जाती है।

यदि जादू-क्रिया अपने अभिप्रेत में सफल न हुई तो उसके कारकों के संबंध में बहुधा यह सोच लिया जाता है कि अभिचारक ने मंत्रों के शब्द-क्रम अथवा उनके साथ की जाने वाली क्रियाओं में कोई त्रुटि की, अथवा यह मान लिया जाता है कि उसने इस विशिष्ट स्थिति के अनिवार्य निषेधों का उल्लंघन किया।

जादू-धर्म के क्षेत्र में फ्रेजर का उल्लेख आवश्यक है। अपनी पुस्तक 'गोल्डन बाउ' में जादू का विश्लेषण करते हुए उन्होंने इसे दो प्रमुख भागों में विभाजित किया है। यह विभाजन दो मुख्य कसौटियों पर आवृत है, यथा समान का समान प्रभाव (कार्य-कारण का संबंध) और संपर्क का प्रभाव।

प्रथम प्रकार का नियम इस धारणा पर आधारित है कि जब एक प्रकार की क्रिया की जाती है तब उसका परिणाम भी समानधर्मी होता है। इसे ही अनुक्रमणात्मक जादू कहा गया है। उदाहरणार्थ ऑस्ट्रिया में यह विश्वास प्रचलित है कि यदि प्रसवा माँ को किसी वृक्ष का प्रथम फल खाने को दिया जाय तो उस वृक्ष पर आगत वर्ष में काफी फल आएँगे। गेलेलारी समाज में जब कभी युवक प्रेमी अपनी प्रेयसी से मिलने रात्रि में उसके घर जाता है तो वह श्मशान से कुछ मिट्टी साथ में लेता जाता है जिसे वह अपनी प्रेयसि के घर की छत पर डाल देता है। इसका यह प्रयोजन होता है कि गुप्त भेंट के समय प्रेयसि के माता-पिता गहरी नींद में सोते रहें और उनके कारण प्रेमी-प्रेमिका को कोई बाधा न पहुँचे। अपने शत्रु के पुतले को तरह-तरह के कष्ट पहुँचाने की प्रथा भी कई आदि-जातियों में प्रचलित है। उन सबका यह विश्वास है कि जो कष्ट उस पुतले को पहुँचाया जा रहा है वही उनका शत्रु भी भोग रहा होगा। इस प्रकार जादू-कर्त्ता का यह विश्वास होता है कि उसकी क्रियाओं का अनुक्रमणात्मक प्रभाव होगा और इस तरह उसके अभीष्ट की सिद्धि होगी।

इसके विपरीत दूसरे प्रकार के जादू में समानता के स्थान पर संपर्क का महत्त्व अधिक माना जाता है। यदि किसी वस्तु का किसी से संपर्क है, या रहा है, तो यह समझा जाता है कि उस संपर्क में आई हुई वस्तु पर जादू-क्रियाएँ करने से उसके धारण-कर्त्ता पर क्रिया का प्रभाव पड़ेगा। इस प्रकार के विश्वासों का आदि-जगत् में व्यापक प्रसार है। हिन्दू समाज में भी हम देखते हैं कि

बालक के जन्म के बाद उसकी नाल और योनिज-व्यर्थ को ऐसे ही नहीं फेंक दिया जाता, वरन् उसे किसी निश्चित स्थान पर गाड़ा जाता है। इसी प्रकार कई समाजों में शिशु के प्रथम केशों को सँभालकर रखा जाता है और फिर इन्हें बहते पानी में फेंक दिया जाता है। जिसे जादू का लक्ष्य बनाया जाता है उसके केशों, नखों और मल-मूत्र का उपयोग इन जादू-क्रियाओं को पूर्ण करने में किया जाता है। जादू-क्रियाओं का लक्ष्य और उद्देश्य सदैव हानि पहुँचाना ही नहीं है। चेरोकी समाज में शिशु की नाल को विशेष स्थलों पर रखने का कारण है। वे कन्या की नाल को काटने के बाद अनाज की कोठी के नीचे गाड़ देते हैं, ताकि वह कन्या बड़ी होने के बाद अच्छा भोजन पका सके। इसी प्रकार पुत्र की नाल को पेड़ पर टाँग दिया जाता है, इसलिए कि वह कुशल आखेटक बन सके।

इन दोनों प्रकार के जादुओं के लिए फ्रेज़र ने 'सहानुभूत-जादू' (सिम्पेथेटिक मैजिक) शब्द का प्रयोग किया है। जिन वस्तुओं पर जादू-क्रियाएँ की जाती हैं वे निमित्त या लक्ष्य से संबंधित होती हैं। संपर्क के द्वारा या समानता के कारण सह-अनुभूति का भाव उद्दीप्त हो जाता है, जिससे उन वस्तुओं पर की जाने वाली क्रियाओं से लक्ष्य या निमित्त प्रभावित होता है। यही कारण है कि यह जादू सहानुभूत-जादू कहलाता है। यह जादू सदैव सकारात्मक ही नहीं होता। कभी-कभी कुछ कार्यों को करना निषिद्ध भी समझा जाता है। टैबू (निषेध) अवांछित से विमुक्त रहने के लिए ही उपयोग में लाया जाता है। इस प्रकार जादू का निम्न प्रकार से विभाजन किया जा सकता है :
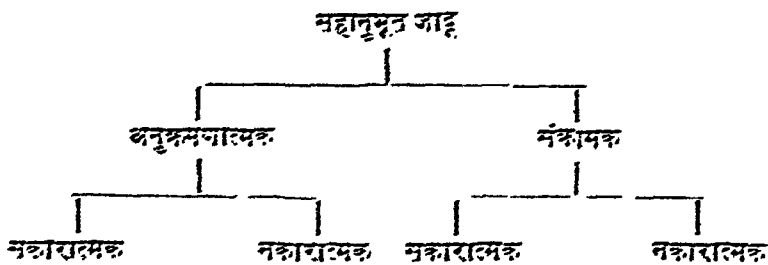
जादू का एक अन्य प्रकार से भी वर्गीकरण संभव है। जिस उद्देश्य से यह क्रिया संपन्न की जाती है, उसका विश्लेषण इस वर्गीकरण का आधार है। जादू तीन मुख्य कार्यों के लिए प्रयोग में लाया जा सकता है। इसका उपयोग वस्तु-संवर्द्धन के लिए हो सकता है, या संरक्षण के लिए, अथवा कभी-कभी विनाश के लिए भी। इन्हीं तीन आधारों पर जादू को हम संवर्द्धक जादू, संरक्षक जादू, और विनाशक जादू के तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। फर्थ ने निम्न

तालिका द्वारा इसे स्पष्ट किया है :

उद्देश्य और क्षेत्र	सामाजिक पक्ष
१. संवर्द्धक जादू —आखेट का जादू —उर्वरता का जादू —वर्षा के लिए जादू —मछली पकड़ने का जादू —नौका-चालन का जादू —वाणिज्य-लाभ का जादू —प्रणय के लिए जादू	स्वयं के लिए व्यक्तिगत रूप से, अथवा विशेषज्ञों द्वारा अन्य के लिए, या पूरे समुदाय द्वारा संपन्न। समाज-स्वीकृत। प्रयास के लिए प्रेरक और आर्थिक क्रिया के संगठन का एक कारक।
२. संरक्षक जादू —संपत्ति-रक्षा के निमित्त निषेध —दिये हुए ऋण को पुनः प्राप्त करने में सहायक जादू —दुर्भाग्य से बचाव के लिए जादू —रोग-उपचार के लिए जादू —यात्रा में सुरक्षा के लिए जादू —विनाशक जादू का प्रभाव रोकने के लिए अवरोधक जादू	उपर्युक्त की भाँति ही संपन्न। समाज-स्वीकृत। प्रयास के लिए प्रेरक और सामाजिक नियंत्रण का एक बल।
३. विनाशक जादू —तूफान लाने के लिए जादू —संपत्ति नष्ट करने के लिए जादू —बीमार करने के लिए जादू —मृत्यु बुलाने के लिए जादू	सासंरी : उपर्युक्त की भाँति ही संपन्न। कभी समाज-स्वीकृत, कभी अस्वीकृत। बहुधा सामाजिक नियंत्रण का एक बल। टोना : कभी-कभी प्रयुक्त, बहुधा वास्तविक संपन्नता संदिग्ध, और कभी काल्पनिक रूप से घटित, नैतिक दृष्टि से अशुभ। असफलता, दुर्भाग्य और मृत्यु के स्थानीय सिद्धान्तों का जनक।

जादू और विज्ञान : समानता और विभेद

जादू और विज्ञान में कई समानता के चिह्न हैं। दोनों प्राकृतिक नियमों की उपस्थिति को स्वीकार करते हैं। सहानुभूत-जादू यह मानता है कि एक घटना का अनिवार्यतः अन्य घटनाओं पर प्रभाव पड़ता है, क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। आधुनिक विज्ञान भी इस क्रिया-प्रतिक्रिया के सिद्धान्त को अंगीकार करता है। फ्रेज़र जादू को 'प्राकृतिक नियमों की अवैध प्रणाली' और साथ ही 'भ्रामक व्यवहार-निर्देशक' मानते हैं। उनका कहना है कि यह 'भ्रामक विज्ञान' और 'भ्रष्ट कला' है। इसी संदर्भ में फ्रेज़र ने आगे कहा है, "प्राकृतिक नियम-प्रणाली, अर्थात् समस्त विश्व में घटना-क्रम को निर्धारित करने वाले नियमों के वक्तव्य के रूप में यह सैद्धान्तिक जादू कहा जा सकता है। अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मानव-व्यवहृत तरीकों के रूप में इसे व्यावहारिक जादू कहा जा सकता है। आदि-जातीय जादूगर जादू के व्यावहारिक पक्ष से ही परिचित है; वह उन मानसिक प्रक्रियाओं का कभी विश्लेषण नहीं करता जिन पर उसका व्यवहार आवृत है...उसके लिए तर्क अंतर्मुखी है, बहिर्मुखी नहीं। उसके लिए जादू सदैव कला है, विज्ञान कदापि नहीं।"

संपर्क या संसर्ग के नियम और उनका घटना-क्रम पर पड़ने वाला प्रभाव, प्राकृतिक नियम और उनकी अपरिवर्तनशीलता, ये कुछ तत्त्व ऐसे हैं जो विज्ञान और जादू दोनों धरातलों पर उपलब्ध हैं। संपर्क के इन सिद्धान्तों का जब युक्तिसंगत प्रणाली से पालन नहीं किया जाता तो वे केवल मान्यता और विश्वास के बल पर ही टिक पाते हैं। ऐसी स्थिति जादू को जन्म देती है। जब इन सिद्धान्तों का तर्कपूर्ण और युक्तिसंगत उपयोग किया जाता है तो ये विज्ञान का आधार बन जाते हैं। आदर्शतः विज्ञान पर्यवेक्षण और परीक्षण का आधार लेकर परिणाम की कामना करता है, जबकि जादू सदैव ही भ्रामक परिधियों में मान्यताओं के आधार पर पला करता है। एक वैज्ञानिक भी कुछ अनुमान करता है, किन्तु उन अनुमानों और उपपत्तियों को वह प्रयोगशाला में परीक्षण के लिए रखता है। प्रमाणित होने पर उसके ये अनुमान विज्ञान के क्षेत्र में प्रतिष्ठित होते हैं, अन्यथा उनका त्याग कर दिया जाता है। जादू के क्षेत्र में इन अनुमानों को परीक्षित करने के लिए कोई प्रयोगशाला नहीं होती। ये मनुष्य के व्यक्तिगत अनुभवों का प्रतिफल होते हैं और इसलिए इन्हें इसी रूप में स्वीकार करना पड़ता है, यद्यपि यह सत्य है कि कई जादू-संबंधी व्यवहार और क्रियाएँ पूर्व-प्रेक्षित फल देती हैं। इन स्थितियों में कारण-कार्य के संबंधों का उचित लेखा-जोखा हो जाता है, और

उनके फल उतने ही सही होते हैं जितने कि विज्ञान के। इस प्रकार जादू और विज्ञान अधिक निकट के संबंधी हैं और जादू को 'नकली-विज्ञान' कहना असंगत नहीं है।

धर्म और धार्मिक क्रियाएँ

धर्म की संक्षिप्त परिभाषा देना कठिन है। जब कभी धर्म पर विचार किया जाता है तो हम अपने स्वयं के धर्म की परिभाषा को गौण नहीं मान पाते। फिर भी टाइलर की संक्षिप्त परिभाषा इस संबोध को थोड़ा-बहुत स्पष्ट करने में सहायक होती है। वे 'आत्माओं में विश्वास' को ही धर्म मानते हैं। मानव में संभवतः आत्मा और दैवी शक्ति के प्रति आस्था का भाव कतिपय रहस्यमयी क्रियाओं के पर्यवेक्षण से उदित हुआ है। मृत्यु, स्वप्न और प्रतिच्छाया उनमें से मुख्य हैं। इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों का यह मत था कि मनुष्य की देह के भीतर एक ऐसी वस्तु है जो उससे बाहर आ-जा सकती है। स्वप्न में वही वस्तु बाहर निकलकर सभी मानवीय क्रियाएँ करती है, मृत्यु के बाद वही देह को छोड़कर कहीं चली जाती है। इसी को जीव या प्राण-वस्तु कहा जा सकता है। इस धारणा को जीववाद या एनिमिज़्म की संज्ञा दी गई है। इसी जीव के सिद्धान्त पर आदिजातीय मानव ने कई विश्वास और धारणाओं तथा धार्मिक संस्कारों की सृष्टि की है। आरंभ में यह जीव-संबंधी विश्वास और उसका अस्तित्व अपने पूर्वजों तक ही सीमित था, जबकि उनकी यह धारणा थी कि उनके पूर्वजों की मृत्यु के बाद उनका जीव प्रेतात्मा या देवात्मा के रूप में अभी भी भ्रमण करता रहता है। बाद में इसी भावना का अधिक विस्तार हुआ और समस्त प्राणी-जगत् में जीव की अवस्थिति का अनुमान लगाया जाने लगा।

जीववाद से भिन्न एक अन्य सिद्धान्त अतिजीववाद या जीवीवाद की पुष्टि मेक्समूलर ने की। उनका कथन है कि मानव ने जब प्रकृति की विकराल और भयानक घटनाओं को देखा तब उसे वह अपनी भाषा द्वारा समझाने और संज्ञाएँ देने का यत्न करने लगा। उसे इन प्राकृतिक, भौगोलिक और भूगर्भीय ऊहापोहों में मानवीय कृत्यों की परछाईं-सी दीखी और इनका वर्णन करने के लिए वह इन शक्तियों का मानवीकरण करने लगा। उसे लगा कि प्रकृति में अदृष्ट किन्तु सर्वशक्तिमान मानव या अतिमानव है जो प्रकृति के सभी क्रम-परिवर्तनों को परिचालित और नियंत्रित करता है। इसी सिद्धान्त को अंग्रेज़ी में एनिमेटिज़्म कहा गया है।

मेलानेशिया का मानावाद एक व्यापक तथ्य के रूप में आज स्वीकृत हो चुका है। माना में विश्वास का यह अर्थ है कि प्रत्येक वस्तु, जड़ या चेतन, में एक शक्ति होती है और जब तक इस शक्ति का ठीक से आराधन न कर लिया जाय, उस वस्तु का सही उपयोग नहीं किया जा सकता। यह शक्ति उसका माना कहलाती है। भारत की 'हो' आदि-जाति में इसी के समानान्तर विश्वास का नाम बोंगा है।

इस प्रकार हम धर्म के तीन पक्षों का बोध कर पाते हैं—धार्मिक विश्वास, धार्मिक भावना और धार्मिक व्यवहार। ये तीनों पक्ष मिलकर अपने संघात रूप में जिस संस्कृति-संकुल की सृष्टि करते हैं, उसे धर्म कहा जा सकता है। कारण और कार्य-संबंधों को स्पष्ट करने के स्थान पर जब अद्वितीय, रहस्यमय और अज्ञेय को समझने के लिए भावना का आधार लिया जाता है, तब हम धर्म के क्षेत्र में प्रवेश कर लेते हैं। वस्तुतः धर्म और धर्म के अतिरिक्त अन्य सामाजिक पक्षों के बीच के अंतर को स्पष्ट करना भी सरल नहीं है।

जादू और धर्म

धर्म और जादू का अंतर भी अधिक स्पष्ट नहीं है। फ्रेजर का मत है कि जब मनुष्य इन अदृष्ट शक्तियों को अभिचारों और मंत्रों द्वारा अपने नियंत्रण में करने के प्रयासों में विफल हो जाता है, और ये प्रयास स्वयं उसे ही निरर्थक व व्यर्थ दीख पड़ते हैं, तब वह इन शक्तियों के महत्त्व को स्वीकार कर लेता है, उनके वशीभूत हो जाता है। तब इन शक्तियों को आदेश देने के स्थान पर वह प्रार्थना द्वारा इनका कृपापात्र बनना चाहता है। जब आदेश का स्थान प्रार्थना और विनय लेने लगते हैं तब धर्म का उदय होता है। इस धारणा के दो मुख्य तत्त्व हैं: (१) मानव से उच्च शक्तियों में आस्था; और (२) आराधना द्वारा इन शक्तियों को प्रसन्न करने का प्रयत्न। प्रथम धर्म का सैद्धान्तिक पक्ष है, द्वितीय व्यावहारिक। दोनों पक्षों की समान उपस्थिति ही वास्तविक धर्म को जन्म देती है। प्रकृति के अपरिवर्तनशील नियमों को थोड़ा-बहुत परिवर्तित करने की अपनी सामर्थ्य को आराधक ईश्वर पर छोड़ देता है और यह अपेक्षा करता है कि वह प्रार्थना द्वारा ईश्वर को मनाकर अपरिवर्तित वस्तुओं में इच्छित परिवर्तन ला सकेगा।

पिडिंगटन ने धर्म और जादू के प्रमुख तत्त्वों की गणना निम्न प्रकार की है:

धर्म—१. एक या अधिक देवात्माओं में आस्था। २. सामूहिक क्रिया। ३. केवल पूजा और ईश्वर-सान्निध्य के लिए एकाग्रीकरण। ४. समाज-स्वीकृत

उद्देश्यों की प्राप्ति के यत्न ।

जादू—१. प्रत्यक्ष फलदायक, अर्थात् देवात्माओं के व्यक्तिकरण के बिना ही फल की प्राप्ति । २. अनिवार्यतः वैयक्तिक, बहुधा गुप्त । ३. एक निश्चित उद्देश्य की ओर लक्षित । ४. बहुधा कुभावयुक्त, अतः समाज-अवज्ञित ।

कई विचारक इस प्रकार के विभाजन को उचित नहीं मानते और जादू-धर्म के क्षेत्र के रूप में समाज के इस आवश्यक क्रिया-संकुल का उल्लेख करते हैं । वस्तुतः यह सत्य भी है । कई मूलतः जादू के तत्त्व धर्म की मान्य स्थितियों में भी प्राप्य हैं और इसी प्रकार धार्मिक तत्त्वों की उपलब्धि जादू के क्षेत्र में भी होती है । इस संबंध-सूत्र को फर्थ ने एक तालिका में उपस्थित करने का सम्यक् प्रयास किया है—

१ उन स्थितियों के तत्त्व जो सामान्यतः जादू मानी जाती हैं ।	–दैवी शक्तियों पर मानव का नियंत्रण । –आज्ञात्मक वचन । –स्वयं-शक्ति-संपन्न जादू की वस्तुएँ (दवा) और उनके उपयोग के संस्कार । –दैवी शक्तियों के अस्तित्व में विश्वास (यथा : माना) । –वैयक्तिक हितों के लिए प्रयुक्त ।	मूलतः जादू-तत्त्व जो धर्म में भी पाए जाते हैं । –शब्दों की शक्ति । –पदार्थ और अन्य प्रतीकों (क्रॉस), मूर्त्तियों आकृतियों के विशिष्ट गुण । –वैयक्तिक या समूह-गत स्वार्थों के लिए उपयोग ।
२ उन स्थितियों के तत्त्व जो सामान्यतः धार्मिक मानी जाती हैं ।	–अति मानवीय सहायता में पूर्ण आस्था । –सहायता के लिए प्रार्थना । –प्रतीक, भेंट, बलिदान के संस्कार ।	–मूलतः धार्मिक तत्त्व जो जादू में भी पाए जाते हैं । –देवताओं द्वारा नियंत्रण । –समूह के भौतिक हित ।
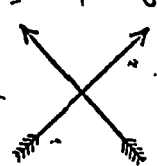
	—देवात्माओं में विश्वास।	—वर्षा के लिए प्रार्थना।
	—सामूहिक क्रिया (उदाहरण के लिए, चर्च जाना)।	—प्राविधिक साधनों और आर्थिक क्रियाओं के लिए आशीर्वाद-प्राप्ति।

इस प्रकार धर्म और जादू के क्षेत्र की विभाजन-रेखाएँ इतनी क्षीण हैं कि उनका उचित विश्लेषण उन्हें भिन्न मानकर नहीं किया जा सकता। इन दोनों ही पक्षों (जादू और धर्म) का समान रूप से एक साथ उल्लेख और विश्लेषण आवश्यक है। उन्नत धर्म वाले समाजों में भी जादू-क्रियाओं की उपस्थिति लक्षित होती है। भारत के ग्रामों और नगरों में धार्मिक क्रियाओं के साथ टोटके और टोने भी होते रहते हैं। इसी प्रकार आदि-संस्कृतियों में भी जहाँ जादू की क्रियाओं का प्रामुख्य और प्राचुर्य है, हम कई धार्मिक क्रियाओं को उनके मौलिक रूप में देख सकते हैं। यह सीमा-रेखा, जो जादू और धर्म के बीच में खिंची है, वैज्ञानिक विश्लेषण की दृष्टि से ठीक है, किन्तु वस्तुतः सामाजिक जीवन में दोनों ही क्षेत्रों का समान महत्त्व रहता है, और दोनों ही जीवन के विभिन्न पक्षों का पुष्ट-पोषण करने में सहायक सिद्ध होते हैं।

धर्म और मानव-व्यवहार

किसी भी संस्कृति की आधारभूत और निर्धारणकारी इकाई के रूप में हम धर्म और जादू के क्षेत्र को समझने की चेष्टा कर सकते हैं। मानव की अंतः-क्रिया का क्षेत्र, जो संस्कृति के संदर्भ में एक विभूत द्वारा स्पष्ट किया जा चुका है, तीन प्रकार के संबंध-सूत्रों से घिरा है : मानव और प्रकृति, मानव और मानव, तथा मानव और अदृश्य जगत्। मानव और मानव एवं मानव और प्रकृति के बीच की अंतःक्रियाओं का निर्धारण मानव और अदृश्य जगत् के संबंधों पर भी निर्भर रहता है। प्रकृति के क्रिया-कलापों को साधारण और असाधारण में विभाजित करने की प्रवृत्ति का उल्लेख हम एनिमैटिज़्म (जीवी-वाद) के संदर्भ में कर आए हैं। प्रकृति को मानव जिस रूप में देखता है, वह उसके धार्मिक भाव-जगत् की पृष्ठभूमि ही स्पष्ट कर सकती है। कतिपय नदियाँ, पर्वत या पत्थर पूजा और श्रद्धा के पात्र बन जाते हैं। मानव का इन वस्तुओं के प्रति जो भाव रहता है वही धार्मिक क्रियाओं को नियमित करने का कार्य भी करता है।

मानव और मानव के पारस्परिक संबंध-सूत्रों का निर्धारण धार्मिक भित्तियों पर भी होता है। एक ही धर्म के उपासक आपस में निकटता का अनुभव करने लगते हैं। धर्म के नाम पर मर मिटने की परम्परा का विकास इतिहास के पृष्ठों में सर्वत्र उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त धार्मिक निषेध भी कतिपय संबंधियों के प्रति विमुखता रखने या कुछ प्रकार के व्यवहारों को वर्जित करने का कार्य संपन्न किया करते हैं। शिक्षा और समाजीकरण तथा संस्कृतिकरण की प्रक्रियाओं में भी इस आस्था का बहुत बड़ा हाथ रहता है। भावी पीढ़ियों को एक निश्चित साँचे में ढालने का यत्न प्रत्येक समाज में किया जाता है। इस साँचे का अधिकांश धर्म द्वारा निर्मित होता है।

धार्मिक व्यवहारों व उपासना का एक रूप प्रतीकों की रचना व पूजा है। प्रतीकों का निर्माण ललित-कलाओं के विकास में योग देता है। पूर्वजों के लिए बनाये गए काष्ठ-स्मृति-स्तंभ, या देवालयों में की गई शिल्पकारिता, या मूर्ति-निर्माण, सभी इसी प्रतीक-रचना के फल हैं। इसी प्रकार आराधना और प्रार्थना के लिए जिन मंत्रों, भजनों और गीतों का सृजन होता है, वे मानव के काल्पनिक और भावात्मक जगत् के कोलाहल के फल होते हैं। लोक-कथा और लोक-गीत, लोक-पुरावृत्त और लोक-संस्कृति, सभी के निर्माण में धर्म की मूल भावनाओं का प्रवाह विद्यमान रहता है।

दो

धर्म : व्यावहारिक पक्ष

धार्मिक विश्वास को बाह्य अभिव्यक्ति देने की प्रवृत्ति प्राय: सभी समाजों में पाई जाती है। जादू के क्षेत्र में अदृष्ट शक्ति को नियंत्रित करने की सामर्थ्य मनुष्य में निहित समझी जाती है। जो व्यक्ति किसी वस्तु के 'माना' या आंतरिक अदृष्ट शक्ति से परिचित है, वह उसे अपने नियंत्रण में ला सकने में अन्य लोगों से अधिक योग्य होगा, और इसलिए उसका महत्त्व भी बढ़ जाता है। इसी प्रकार धर्म के क्षेत्र में अदृष्ट, अज्ञेय शक्ति पर विजय प्राप्त करने के स्थान पर यह चेष्टा की जाती है कि प्रार्थना, आत्म-निवेदन व समर्पण द्वारा इस शक्ति को प्रसन्न कर इच्छित फल की प्राप्ति की जाय। निस्संदेह सभी व्यक्ति इस प्रसन्न करने की कला में समान रूप से निपुण नहीं हो सकते। इस प्रकार जादू और धर्म, दोनों ही क्षेत्रों में विश्वास रखने वाले व्यक्तियों को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है: एक तो वे जो इसमें से किसी एक क्षेत्र में पर्याप्त विशेषज्ञता प्राप्त कर लेते हैं, और दूसरे वे सामान्य जन जो साधारण धार्मिक अथवा जादू-क्रियाओं को ही संपन्न कर पाते हैं।

प्रत्येक समाज में इस प्रकार के विशेषज्ञों को विशेष नाम से संबोधित किया जाता है। उनकी सामाजिक स्थिति भी प्राय: सुनिश्चित ही होती है। उनका विभाजन दो मुख्य भागों में किया जाता है : शामन और पुजारी।

शामन

वैयक्तिक अतिप्राकृतिक शक्ति-संपन्न **शामन** बहुधा रोगियों का उपचार करने का कार्य किया करते हैं। इन्हें इसीलिए उपचारक या 'मेडिसिन-मेन' भी कहा जाता है। 'शामन' शब्द का उपयोग नृतत्व ने साइबेरिया की आदि-

जातियों में पाए जाने वाले इस प्रकार के विशेषज्ञों के नाम के आधार पर किया है। उनकी सेवाएँ मांगी जाने पर शामन रोगियों का उपचार किया करते हैं। इस प्रकार इनकी क्रियाएँ व्यक्तिगत जादू तक ही सीमित हैं जो रोग का उपचार करने, प्रेतात्माओं की अशुभ छाया से त्राण दिलाने, अथवा सफलता और सौभाग्य दिलाने के लिए उपयोग में लाई जाती हैं। इन विशेष योग्यताओं को प्राप्त करने के लिए कतिपय कारक आवश्यक समझे जाते हैं। कुछ विशेष प्रकार की शारीरिक अयोग्यताएँ कभी-कभी अभौतिक जगत् की शक्ति प्राप्त करने का माध्यम मान ली जाती हैं। मिरगी या अपस्मार का रोग जिन व्यक्तियों को हो जाता है, उन्हें कतिपय आदि-जातियों में कुछ विशेष दैवी शक्तियों से संपन्न समझा जाता है। अपनी इन शक्तियों को बढ़ाने के लिए यह आवश्यक होता है कि वे कुछ विशेष प्रकार के निषेधों का पालन करें। कुछ प्रकार के भोजन और स्त्री-सहचार आदि उनके लिए प्रायः निषिद्ध होते हैं। इसी प्रकार इन दैवी शक्तियों को पाने के लिए उन्हें कई दिन उपवास और जागरण भी करने पड़ते हैं।

शामन होने के लक्षण प्रायः व्यक्ति की किशोरावस्था में ही स्पष्ट दीखने लगते हैं। जिन व्यक्तियों में इस प्रकार की संभावनाएँ रहती हैं, वे इस आयु में ही अत्यंत भावुक और मानसिक दृष्टि से असंतुलित होने लगते हैं। जब दैवी शक्ति की पुकार आती है और उसका अनुमान उस बालक या बालिका के माता-पिता को हो जाता है, तो वे उसका आवाहन करते हैं। इसके लिए ढोल पीटना और गीत गाना मुख्य सहायक क्रियाएँ हो जाती हैं। साइबेरिया की चुकची आदि-जाति में इन अवसरों पर ढोल पीटने के लिए ह्वेल मछली की हड्डी का उपयोग किया जाता है, जबकि सामान्य अवसरों या साधारण उत्सवों पर लकड़ी के डंडे से ही ढोल बजाए जाते हैं। कुछ ढोलों के साथ दो ह्वेल-हड्डियों के डंडे रहते हैं। यह अतिरिक्त डंडा (ह्वेल-हड्डी) इसलिए रखा जाता है कि यदि 'देवात्मा' स्वयं भी चाहे तो इस ह्वेल-हड्डी से ढोल बजा सके। कई घंटों तक ढोल पीटे जाते हैं और गीत गाए जाते हैं। इस बीच नव-संस्कारित शामन में बड़ी तीव्र गति से शारीरिक-मानसिक परिवर्तन होते हुए दीख पड़ते हैं। इन क्रियाओं और गतिविधियों में उसकी मुखाकृति पर थकावट के भाव नहीं आने चाहिएँ, क्योंकि यह समझा जाता है कि स्वयं देवात्माएँ उसकी देह में प्रविष्ट होकर यह सब कलाप कर रही हैं।

चुकची समाज के अध्येता बोगोरस का कथन है कि उस समाज में शामन की संस्था के साथ कतिपय 'यौन' व्यवहार भी घनिष्ठ रूप से संबद्ध

रहते हैं। वर्ष में एक बार, या दो वर्ष में एक बार, सभी शामन धन्यवाद-ज्ञापन के लिए एकत्र होते हैं और उस समय वे पूर्ण रूप से नग्न होकर जननेन्द्रियों के नाम जोड़ते हुए कुछ मंत्रों का उच्चारण करते हैं। ये मंत्र उनकी देवात्माओं को संबोधित किये जाते हैं।

कभी-कभी देवात्माओं के आदेश पर काल्पनिक लिंग-परिवर्तन भी आवश्यक हो जाता है। इन परिवर्तनों के साथ उनके व्यवहार-प्रकार भी बदल जाते हैं। पहली स्थिति में स्त्री की भाँति रहने के लिए वह बालों का शृङ्गार करता है। दूसरी स्थिति में वह स्त्रियों के वस्त्र-आभूषण इत्यादि पहनने लगता है। तीसरी स्थिति में वह पुरुष के सभी कामों को छोड़ स्त्री के ही कामों को करने लगता है। यहाँ तक भी देखा गया है कि ऐसा 'कोमल व्यक्ति' (नारी-गुणयुक्त) युवा पुरुषों की काम-तृप्ति भी करता है। उन्हीं में से किसी को अपना प्रेमी चुनकर वह 'विवाह' भी कर सकता है। तब ये दोनों पति-पत्नी की भाँति जीवन बिताने लगते हैं। इस क्रिया में 'कोमल व्यक्ति' सदैव पत्नी रूप में ही सहकार देते हैं। कभी-कभी इस प्रकार के लिंग-परिवर्तन रुग्ण व्यक्तियों के लिए भी शामन द्वारा सुझाए जाते हैं। इनसे देवात्माएँ वास्तविक रोगी को पहचान नहीं पातीं और भटक जाती हैं। रोगी इसी कारण स्वस्थ होने लगता है।

एस्किमो समूहों के शामन लोग व्यक्तियों पर किसी भी प्रकार के निषेध नियामित कर सकते हैं। वे अपनी शक्ति का लाभ उठाकर किसी भी स्त्री के साथ यौन-संबंध कर सकते हैं।

इस विषय के कुछ विद्वानों का ऐसा अनुमान है कि शामन की संस्था उन समाजों में है जिनमें धर्म का अधिक विकास नहीं हुआ है। किन्तु यह कथन सर्वथा भ्रामक है। भारत में धार्मिक क्षेत्र का और धर्म का इतना सुदृढ़ विकास होने पर भी जादू के प्रति लोगों की आस्था किसी भी प्रकार कम नहीं है। तांत्रिकों की भारत में कमी नहीं है। कहीं-कहीं पर धार्मिक देवी-देवताओं के साथ भी जादू-क्रियाओं को संलग्न कर एक मध्य की स्थिति को जन्म देने के उदाहरण भी उपलब्ध होते हैं।

पुजारी

अतिप्राकृतिक और दैवी शक्तियों को धारण किये हुए पुजारी का जन्म नहीं होता, वरन् वह विशेष प्रशिक्षण द्वारा इन क्रियाओं को सीखता है जो अपने आराध्य की पूजा और उनकी प्रसन्नता प्राप्त करने में सहायक सिद्ध होती हैं। इसमें व्यक्तिगत कोई विशेष 'माना' शक्ति नहीं होती, वरन् जिस

पद पर वह आसनस्थ है, उस पद में उस शक्ति का निवास माना जाता है। उसकी प्रतिष्ठा भी उसी पद पर निर्भर रहती है।

ये लोग विशेष प्रकार की भूषा धारण कर सकते हैं। इनके लिए भी कुछ चीजें निषिद्ध होती हैं। कई कार्य अनिवार्यतः संपन्न करने के लिए भी ये लोग बाध्य होते हैं। ये अपनी प्रार्थना और आराधना द्वारा दैवी शक्तियों को प्रसन्न रखने का निरंतर प्रयास किया करते हैं। पुजारियों की संस्था के सरलतम रूप का उदाहरण टोडा आदि-जाति में पाया जाता है, जहाँ पवित्र दुग्धशालाएँ ही मंदिर का काम करती हैं। इसका पुजारी 'पलोल' कहा जाता है। अठारह वर्ष की अपनी पदावधि में उसे इस बात का अधिकार नहीं होता कि वह किसी भी स्त्री के साथ यौन-संबंध रखे। यह अवधि पूरी होने पर उसे सामाजिक छूट होती है कि वह किसी भी समय किसी भी स्त्री को काम-तृप्ति के लिए आमंत्रित करे।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य विशेषज्ञ भी होते हैं जो जादू-टोना या टोटकों द्वारा शत्रुओं का नाश करने का प्रयत्न किया करते हैं। ऐसे असामाजिक और बदला लेने की भावना से प्रेरित जादू का उपयोग करने वाले लोगों का समाज में विशेष स्थान नहीं होता। अधिकांश ये लोग ऐसे सभी कार्य लुक-छिपकर किया करते हैं। यदि ये चीजें गुप्त न रहें, और प्रकट हो जायँ, तो समाज से भारी दंड भी मिलने की आशंका बनी रहती है। इसके विपरीत कतिपय लोग जादू-टोना के प्रभाव को विरोधी जादू का उपयोग कर समाप्त करने का भी यत्न किया करते हैं। इस प्रकार के विशेषज्ञों की सेवाएँ भेंट या मूल्य देकर समाज के अन्य व्यक्ति भी अपने शत्रुओं की हानि के लिए, अथवा अपने विरोधियों द्वारा या उनकी ओर से कार्य करने वाले व्यक्तियों के टोने-टोटके आदि के विनाशक प्रभावों से बचने के लिए प्राप्त कर सकते हैं।

पारिवारिक देवता और पितृ-पूजा (मातृ-पूजा)

परिवार के मृत सदस्यों को भी परिवार का ही सदस्य मानना और उन्हें विशेष प्रकार का सम्मान देना कई समाजों में प्रचलित है। प्रेतात्माओं को भूत या चुड़ैल मानकर उनसे भयभीत होने और रक्षा के यत्न करने की परंपराएँ भी कई समाजों में पाई जाती हैं। परिवारों के पूर्वज देवता रूप में पूजित भी होते हैं। चीन में पितृ-पूजा की भावना और उससे संलग्न धार्मिक क्रियाओं का समुचित विकास हुआ है। इसी प्रकार हिन्दुओं में भी श्राद्ध-पक्ष वर्ष में एक बार अपने पूर्वजों को श्रद्धांजलि अर्पित करने के निमित्त मनाया

जाता है। कुछ विशेष स्थितियों में पूर्वजों के लिए चबूतरे बनाकर उनकी नियमित पूजा करना भी आवश्यक समझा जाता है।

जीवन-पथ के संस्कार

जीवन एक गतिशील शृङ्खला है और इसके भी कतिपय आवश्यक मोड़ हैं। इन आवश्यक संक्रमण-कालों के साथ प्रत्येक समाज में कुछ धार्मिक अर्हताएँ जुड़ जाती हैं। जीवन का लंबा पथ पूरा करने के लिए इन मोड़ों का जो विशेष महत्त्व है, संभवतः उसी के फलस्वरूप ये क्रियाएँ अनिवार्य हो जाती हैं। जन्म, विवाह और मृत्यु, जीवन के तीन प्रमुख संक्रमण-काल हैं। इन्हीं तीन के साथ कई धार्मिक क्रियाएँ बँधी हुई हैं और इसलिए किसी भी समाज का अध्ययन करते समय इन संक्रमण-कालों और इनसे संबद्ध धार्मिक औप-चारिकताओं का वर्णन-विश्लेषण आवश्यक हो जाता है। सन् १६०६ में वान गेनप ने इन्हीं संस्कारों को जीवन-पथ के संस्कार (रीत् द पसाज) नाम से संबोधित किया और तब से यह वाक्यांश नृतत्त्व में प्रचलित-सा हो गया है। जीवन के इन तीन संक्रमण-कालों को अंग्रेज़ी में 'क्राइसिज़ ऑफ़ लाइफ़' (जीवन के संकटकाल) भी कहा गया है।

इस प्रकार समाज के सदस्यों की गतिविधियों को नियंत्रित करने के लिए धार्मिक विश्वासों और जादू के भय का आश्रय लिया जाता है। इन्हीं विश्वासों को धार्मिक क्रियाओं द्वारा, वचन अथवा कर्म से, अभिव्यक्ति प्राप्त होती है। समाज के सदस्यों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे धार्मिक निषेधों का उल्लंघन न करें, अन्यथा दैवी शक्तियाँ उनका जीवन सुखमय नहीं रहने देंगी। जादूकर्त्ता भी अपनी असाधारण शक्तियों का सदुपयोग या दुरुपयोग कर समाज में इन दैवी शक्तियों के भय को चिरस्थायी बनाए रखने में योग देते हैं।

५

मानव और कला

एक
कला

'प्राथमिक कला' का दो भिन्न अर्थों में उपयोग होता है—प्रथम, कला के विकास की प्रारंभिक स्थिति के रूप में; तथा द्वितीय, सांस्कृतिक विकास की प्राथमिक स्थिति में जीवन-यापन करने वाले आदिवासी समूहों की कला के रूप में। ईसा से प्राय: २०,००० से १०,००० वर्ष पूर्व, प्राचीन प्रस्तर-युग के आदि-मानव अपनी प्राथमिक कला की अनेक कृतियाँ छोड़ गए हैं। प्राचीन मानव की इस कला के भिन्न-भिन्न स्तरों के उदाहरण हमें संसार के अनेक भागों से प्राप्त हुए हैं। साथ ही संसार के विभिन्न आदिवासी क्षेत्रों में अभी भी सहस्रों ऐसे समूह हैं जिनकी विशिष्ट संस्कृतियों को आधुनिक युग की सभ्यता ने अत्यंत न्यून परिमाण में प्रभावित किया है और जिनकी अपनी पुरातन कला-शैलियाँ अभी भी जीवित हैं।

आदिकाल से ही मानव प्रकृति से संतुष्ट नहीं रहा है। सौंदर्य-वृद्धि तथा सौंदर्य-सृष्टि की ओर नैसर्गिक रूप से उसकी प्रवृत्ति रही है। प्राचीन प्रस्तर-युग के प्रथम भाग से ही पत्थर और सीपों के प्राथमिक आभूषण मिलने लगते हैं। इस युग के मध्य भाग में अधिक विकसित आभूषणों का प्रचलन हो गया था, तथा वे पत्थर के अतिरिक्त हड्डियों और कच्ची धातु के टुकड़ों से भी बनाए जाने लगे थे। इस युग के अंतिम चरण में मानव ने अपनी कलात्मकता को असाधारण रूप से विकसित कर लिया था। पश्चिमी यूरोप की गुफाओं की दीवारों और निचली छतों पर उक्त काल की अनेक सुन्दर 'पॉली-क्रोम' पेंटिंग मिलती हैं। अल्टामिरा, स्पेन, की एक गुफा पर अंकित बाइसन का चित्र इस प्रकार की कला का एक आदर्श उदाहरण माना जा सकता है। इस काल के चित्र प्राय: जीव-जन्तुओं के ही अधिक हैं। हाथी, गैंडे, जंगली सूअर, घोड़े,
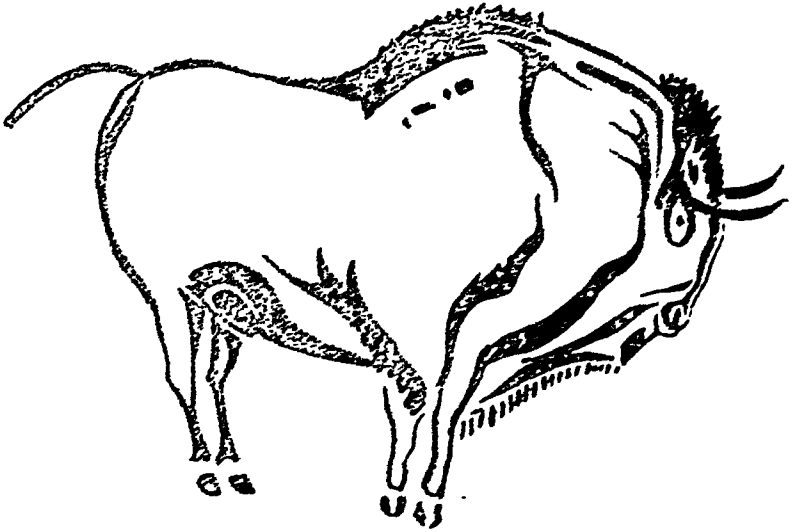
अल्टामिरा का बाइसन

तथा अन्य विशालकाय प्राणी उन्होंने अकेले या समूहों में चित्रित किये हैं। इनमें से अनेक चित्रों की विशेषता यह है कि उनमें केवल स्थिर प्राणियों को चित्रित करने का प्रयत्न ही नहीं किया गया है, वरन् अनेक में उनकी गति भी दिखलाने का सफल प्रयास किया गया है। आकृति की खुदाई के बाद, विभिन्न रंगों से चित्रों को पूर्णता देने का प्रयत्न भी उनमें किया गया है। दौड़ते हुए घोड़े, युद्ध-दृश्य, शिकार आदि के चित्रों के अध्ययन से हमें प्राथमिक मानव की कला-शैली की एक प्रमुख विशेषता स्पष्ट रूप से दीख पड़ती है। वह है केवल
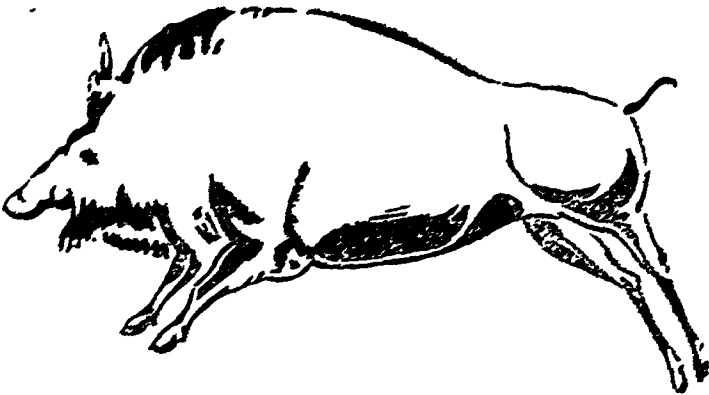
गैंडे का चित्र

अति-आवश्यक तत्त्वों की ओर दृष्टि केन्द्रित कर, शेष अनावश्यक तत्त्वों का पूर्ण त्याग।

शिकार आदि के दृश्यों में मानव प्राकृतिक वातावरण में चित्रित है। उनके अध्ययन से हमें उस काल के जीवन की एक झलक मिलती है तथा हम उन अस्त्र-शस्त्रों से भी परिचित हो सकते हैं जिनका उपयोग उस काल के मानव किया करते थे।

इसी काल के हाथीदाँत के अतिशय सुन्दर खुदाई किये हुए छोटे-छोटे अनेक टुकड़े भी प्राप्त हुए हैं। विशेष रूप से उल्लेखनीय इस युग की हाथी-दाँत तथा प्रस्तर की लघु प्रतिमाएँ हैं, जो अत्यंत गूढ़ तथा प्रतीकवादी ढंग से नारी के नग्न रूप को उपस्थित करती हैं। इस प्रकार की कला का एक अत्यंत प्रसिद्ध उदाहरण, 'विलेनडार्फ की वीनस' है। इस युग के कलाकार ने मुखाकृति की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया; शरीर के कतिपय अंग, विशेपकर उरोजों तथा जंघाओं को अवश्य उभारकर दिखाया है। इनके संबंध में कतिपय विद्वानों का मत है कि वे देवियों की, विशेषकर मातृत्व तथा शिशु-जन्म की देवियों की मूर्तियाँ हैं। उनके संबंध में यह भी कहा जा सकता है कि उनमें उन्हीं अवयवों को विशेष रूप से चित्रित करने का प्रयास किया गया है जिनकी ओर आदि-मानव सौंदर्य अथवा यौन-चेतना की दृष्टि से आकर्षित हुआ।

विलेनडार्फ की वीनस

प्रागैतिहासिक कला केवल यूरोप तक ही सीमित नहीं है। उत्तर अफ्रीका में एटलस पर्वत के क्षेत्र में, वहाँ की चट्टानी दीवारों पर खुदाई द्वारा अथवा पत्थर तोड़कर पशुओं की अनेक आकृतियाँ बनाई गई हैं। उनकी आयु के संबंध में विशेषज्ञों का अनुमान है कि वे नव-पाषाण-युग के पूर्व की हैं। दक्षिण अफ्रीका की बुशमेन जाति की कला प्रसिद्ध है। यद्यपि आज की बुशमेन जाति केवल

शुतुर्मुर्ग के अंडे के बाहरी भाग पर रेखात्मक डिज़ाइन इत्यादि ही बनाती है, उनके पूर्वज दक्षिण अफ्रीका के अधिकांश भागों में अपनी कला के अनेक चिह्न छोड़ गए हैं। प्रागैतिहासिक यूरोप की कला में जो मानवीय आकृतियाँ प्राप्त

बुशमेन कला का एक उदाहरण

होती हैं उनमें और बुशमेन कला की मानवीय आकृतियों में आश्चर्यजनक समानता है। पशु-चित्रण की शैलियों में अवश्य दोनों क्षेत्रों में भिन्नता पाई जाती है। इन आकृतियों में सामने, बगल और पीछे से मानवीय तथा पशुओं के चित्रण में अज्ञात चित्रकारों को प्रायः एक-सी सफलता मिली है। रेखाओं के माध्यम से गति तथा कार्य-तत्परता का बोध करा सकने में कलाकार निस्संदेह सफल रहे हैं।

जावा और चीन से प्राचीन प्रस्तर-युग की कोई कला-कृतियाँ उपलब्ध नहीं हुई हैं। वहाँ नव-प्रस्तर-युग के सुन्दरतापूर्वक रँगे हुए बर्तन अवश्य मिले हैं। साइबेरिया में चट्टानों पर की कला के दो मुख्य रूप मिलते हैं : खुदाई द्वारा बनाये हुए चित्र, तथा रंग द्वारा बनाये हुए चित्र। भारत में प्राचीन काल के चट्टानों पर बने हुए चित्रों का शोध सन् १८८० में हुआ। मिर्जापुर के समीप पाये गए एक चित्र में, एक गैंडे पर हमला करने वाले छः शिकारी दर्शाये गए हैं। कुछ शिकारी सिर पर पंख पहने हैं। मध्य प्रदेश के रायगढ़ ज़िले में सिंघनपुर नामक ग्राम में भी इस प्रकार के कतिपय रंगीन चित्र वहाँ की चट्टानों पर अंकित किये हुए मिले हैं। उनमें तीन विभिन्न रंगों का प्रयोग किया गया है तथा मानव की आकृतियों के अतिरिक्त पक्षियों और अनेक पशुओं की आकृतियाँ भी हैं।

आधुनिक काल की अनेक जीवित आदि-संस्कृतियों में भी हमें स्वस्थ तथा सबल प्रारंभिक कला के दर्शन होते हैं। उनकी इस कला के स्वरूप का विश्लेषण तथा उसे अनुप्राणित करने वाली प्रेरणाओं के संबंध में निश्चित रूप

से कोई एक मत स्थिर कर सकना कठिन है। यह कहना अनुचित होगा कि प्राथमिक कला अपरिपक्व व भद्दी होती है, क्योंकि इस कला के अनेक उदाहरण कलात्मकता की किसी भी दृष्टि से स्वयं पूर्ण व संतोषजनक माने जा सकते हैं। प्राथमिक कला के अनेक अध्येताओं की भाँति हम उसे शिशु-कला का ही एक विशेष रूप, जिसमें शिशुवत् प्राथमिक मानव अपनी अन्तर्चेतना अभिव्यक्त करता है, नहीं मान सकते हैं। संसार के अनेक क्षेत्रों की प्राथमिक कला की शैलियाँ अत्यंत विकसित हैं, तथा उनकी अभिव्यक्ति-प्रणाली में सुनिश्चित योजना और गंभीरता है। उसे हम प्रकृति का यथारूप चित्रण भी नहीं कह सकते, क्योंकि विकसित प्राथमिक कलाओं में परंपरागत शैलियों तथा प्रतीकों का भी प्रयोग किया जाता है। प्राथमिक कला के अन्तर्गत हमें अनेक प्रकार की अभिव्यक्ति-शैलियाँ दीख पड़ती हैं। उनमें से कुछ भद्दी और अपरिपक्व, तथा कुछ पूर्ण तथा गंभीर प्रतीत होती हैं। हैदराबाद की चेंचू जाति के बनाये हुए चित्र शिशु-कला के अन्तर्गत आएँगे, किन्तु इसके विपरीत बस्तर के माड़िया गोंडों की लकड़ी पर खुदाई करने की कला की शैलियाँ सुनिश्चित हैं तथा अपने कतिपय रूपों में वे गूढ़ एवं प्रतीकवादी हैं। एस्किमो समूहों की कला में, बुशमेन-कला की भाँति यथातथ्य चित्रण की प्रवृत्ति होती है। जातीय परंपरा, ऐतिहासिक-सांस्कृतिक संपर्क तथा परिवर्तनशील राजकीय-आर्थिक परिस्थितियों आदि का प्राथमिक कला के स्वरूप पर निश्चित प्रभाव पड़ता है।

प्राथमिक मानव की कलात्मक चेतना की अभिव्यक्ति के प्रमुख माध्यम क्या हैं? चित्रण वह रेखाओं के माध्यम से करता है, और कभी-कभी रंगों के प्रयोग से उनमें अधिक पूर्णता लाने का यत्न भी करता है। रेखाएँ आकृतियाँ भी बना सकती हैं और ज्यामैट्रिकल डिज़ाइन भी। ये केवल शोभा-वृद्धि के साधन हो सकते हैं, और गूढ़ अभिप्राय की अभिव्यक्ति के प्रयत्न भी। ये चित्र घरों की दीवारों पर शोभा के लिए तथा पूजा के स्थान पर धार्मिक कारणों से बनाए जाते हैं। बाँस तथा मिट्टी के बर्तनों पर कलात्मक चित्रण हमें संसार की अनेक आदि-संस्कृतियों में मिलते हैं। मिट्टी, पत्थर, धातु, लकड़ी, हाथी-दाँत आदि की कटाई, खुदाई तथा रंगाई से भी कलात्मक वस्तुओं की सृष्टि की जाती है। दीवार बनाते समय जब उसकी मिट्टी गीली रहती है तब उस पर अनेक प्रकार की आकृतियाँ मिट्टी को उभारकर बनाई जाती हैं। भारत की अनेक आदिवासी जातियों में कला की यह शैली दीख पड़ती है। मध्य प्रदेश के गोंडों में, इस प्रकार 'मड रिलीफ़' द्वारा शेर, हाथी, पक्षी, घोड़ा तथा बंदूक-सहित पहरेदारों की आकृतियाँ बनाने का प्रचलन है।

लकड़ी तथा हाथीदाँत की खुदाई में नीग्रो जाति का विशेष स्थान है। पश्चिमी अफ्रीका का नीग्रो कलाकार काष्ठ-स्थापत्य का विशेषज्ञ माना जाता है। वहाँ की काष्ठ-मूर्तियाँ और चेहरे (मास्क) प्रसिद्ध हैं। इनमें से अनेक यथातथ्यवादी होते हैं, किन्तु अनेक विशिष्ट शैलियों से बनाए जाते हैं। सादे काले रंग से लेकर, चमकदार पीले, लाल, नीले और सफेद रंगों का प्रयोग इन चेहरों को रँगने में किया जाता है। अतएव समूह में कलाकार का बहुत अधिक महत्त्व होता है, और समाज-व्यवस्था के अन्तर्गत उसे इतना अवकाश मिलता है कि वह अपने जीवन को कला की साधना में लगा सके। आर्थिक दृष्टि से वहाँ के कलाकार का जीवन निःसंदेह संतोषजनक कहा जा सकता है। पितर-पूजक न होते हुए भी वे अपने पितरों की आकृतियाँ बनाते हैं। उनमें लकड़ी के खिलौनों पर खुदाई और नक्काशी का बारीक काम भी किया जाता है।

सैन्त पश्चिमी अफ्रीका में पितरों की बड़ी-बड़ी काष्ठ-मूर्तियाँ बनाई जाती हैं, और विभिन्न प्रकार के नृत्योपयोगी चेहरे भी। उनके आकार विशाल होते हैं। अनेक चेहरों में विशिष्ट भाव-भंगिमाएँ अद्भुत रूपों में व्यक्त की जाती हैं। आइवरी कोस्ट तथा कांगो के बीच के क्षेत्र में, तथा दक्षिण नाइजीरिया के बेसिन क्षेत्र में हाथीदाँत की खुदाई तथा पीतल की मूर्ति-कला ने विशेष उन्नति की है।

धातु-मूर्ति (नाइजीरिया)

न्यू गिनी में व्यवहार के लिए लकड़ी की अनेक वस्तुएँ बनाई जाती हैं, और खुदाई से उनकी सुन्दरता बढ़ाने का प्रयत्न किया जाता है। दैनिक उपयोग की वस्तुओं को कलात्मक स्वरूप देने की प्रवृत्ति जितनी इस देश में पाई जाती है, संभवतः संसार में अन्यत्र उसका मिलना असंभव है। इस द्वीप के विभिन्न क्षेत्रों में अनेक कला-शैलियाँ प्रचलित हैं। उत्तर न्यू गिनी की 'कोरवार' नामक पितरों की आत्माओं के निवास के लिए बनाई गई काष्ठ-समाधियाँ उल्लेखनीय हैं। पापुअन लोगों का वृत्ताकार काष्ठ-स्थापत्य महत्त्वपूर्ण है। वहाँ बर्तन दैनिक उपयोग की वस्तुएँ तथा पशुओं और मनुष्यों की आकृतियाँ भी आकर्षक होती

हैं। दैत्यों और पितरों की विशालकाय मूर्तियाँ भी इस क्षेत्र में बनाई जाती हैं। लाल और लाल-सफेद यहाँ के लोकप्रिय रंग हैं। मेलानेशिया के टोम्बारा द्वीप के दक्षिणी भाग में चाक के विशाल टुकड़ों से पितरों की मूर्तियाँ बनाई जाती हैं। उनकी सजावट प्रायः लाल और कभी-कभी काली रेखाओं से की जाती है। इस द्वीप के मध्य भाग में 'उली' नामक काष्ठ-मूर्तियाँ जाति के प्रधानों के स्मारकों के रूप में बनाई जाती हैं। इन दोनों प्रकार की मूर्तियों में मूर्ति और मृत व्यक्तियों में साम्य लाने का कोई प्रयास नहीं किया जाता। इसी द्वीप के उत्तरी भाग में लकड़ी पर खुदाई का काम सुन्दर ढंग से किया जाता है। मानवीय आकृतियों के अतिरिक्त, मछलियों और पक्षियों के भिन्न-भिन्न सुन्दर आकार खोदे जाते हैं। इसी क्षेत्र के न्यू ब्रिटेन में नरम पत्थर की मूर्तियाँ बनाई जाती हैं और उन पर खुदाई का काम होता है। सॉलोमन द्वीपों में काष्ठ-स्थापत्य का प्राधान्य है। लघु-मूर्तियों के अतिरिक्त नृत्योपयोगी वस्तुएँ भी बनाई जाती हैं। इस निर्माण-कार्य में हल्की लकड़ी का उपयोग किया जाता है, और उन्हें लाल, काले, काले-सफेद आदि रंगों से रँगा जाता है। बीच-बीच में चमकदार सीपों के टुकड़े भरकर और भी सौंदर्य-वृद्धि का प्रयत्न किया जाता है। हल्के खिलौनों से लेकर विशालकाय युद्ध-नौकाएँ तक इस शैली से बनाए जाते हैं।

काष्ठ-मूर्ति (बोकांगो)

माइक्रोनेशिया में कला के तीन भिन्न प्रकार पाए जाते हैं:

१. लकड़ी की खुदाई में जानवरों का यथातथ्य चित्रण। पशु अकेले व समूह दोनों में चित्रित किये जाते हैं।

२. परम्परागत विशिष्ट शैलियों की लघु-मूर्तियाँ, जिनकी एक विशेषता

है अंडाकार सिर, जिनमें चेहरा अंकित न हो।

६. फिजी द्वीप की विविध रंगों से अलंकृत खुदाई तथा लकड़ी के बर्तन, जिन पर कलात्मक खुदाई की गई हो। पोलिनेशिया में इनके विपरीत वल्कल वस्त्रों पर विभिन्न ज्यामितिकल डिजाइन बनाए जाते हैं, और इन्हीं विविधताओं में कलाकार अपनी प्रेरणा को अभिव्यक्त करता है।

माओरी जाति के कलाकारों को, नेफ्राइट, ह्वेल की हड्डी आदि की खुदाई में सफलता प्राप्त होती है। आस्ट्रेलिया के आदिवासियों की कला के प्रमुख रूप हैं चट्टानों पर रेखाचित्रों को अंकित करना और उनमें रंग भरना। चित्रांकन के लिए खुदाई की जाती है, और रंगों से भी रेखाएँ बनाई जाती हैं। इन चित्रों में आर्थिक दृष्टि से अत्यंत अल्प-विकसित आदि-संस्कृति के मानवों की वैचित्र्यपूर्ण मानसिक कल्पनाओं की सुन्दर अभिव्यक्ति दीख पड़ती है। उत्तरी किम्बरले के अनेक रहस्यपूर्ण चित्रों में मानवीय आकृतियों में मुख को चित्रित ही नहीं किया गया, आँखों के स्थान पर उनमें अंडाकार वृत्त मिलते हैं और नाक के स्थान पर एक काला चिह्न। आस्ट्रेलिया की आदिवासी कला की एक विशेषता और उल्लेखनीय है। अनेक चित्रों में कलाकार ने जो दीख पड़ता है उससे ही संतोष नहीं किया, वरन् वह सत्य को जिस रूप में जानता है उसने उसे उसी रूप में चित्रित करने का प्रयत्न किया है। उदाहरणार्थ कंगारू के चित्र में उसकी भीतरी हड्डियाँ, रक्त-धमनियाँ इत्यादि भी कभी-कभी बना दी जाती हैं। हैदराबाद-दक्षिण के चेंचू और छत्तीसगढ़ के चमारों में भी यही प्रवृत्ति देखी गई है। वृक्ष का चित्र अंकित करते समय वे भूमि में उसकी जड़ें भी अंकित कर देते हैं।

उत्तर अमरीका के एस्किमो समूहों में कला दो भिन्न धाराओं में विकसित हुई है। धार्मिक उत्सवों तथा हास्यात्मक नाटकों के अवसरों पर पहने जाने वाले लकड़ी के चेहरे बनाने की कला में ये समूह सिद्धहस्त हैं। धार्मिक चेहरों में आत्माओं तथा पौराणिक नायकों एवं देवताओं को चित्रित किया जाता है। इनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय है उनका कलात्मक खुदाई का काम। लकड़ी, हड्डी तथा दैनिक उपयोग की अनेक वस्तुओं पर वे एस्किमो-समूह के दैनिक जीवन के दृश्यों का यथातथ्य चित्रण करते हैं। उत्तर-पश्चिम अमरीका में कला के शुद्ध तथा व्यावहारिक, दोनों पक्ष उचित रूप से विकसित हुए हैं। वहाँ मिट्टी के बर्तनों पर तो कलात्मक चित्रण नहीं होता, किन्तु बुनाई के कामों और बनाये गए टोकरों में अनेक डिजाइनों तथा रंगों का उपयोग किया जाता है। वहाँ की स्थापत्य-कला तथा चित्रण-शैली, दोनों के दो स्वतंत्र पक्ष हैं। एक में यथातथ्य चित्रण का प्रयत्न किया जाता है, दूसरे में

परंपरा-स्वीकृत अभिव्यक्ति की विशिष्ट शैलियों का। इस क्षेत्र की प्रागैतिहासिक चित्रण-कला में हमें प्राणियों के यथातथ्य चित्रण मिलते हैं। परंपरा-स्वीकृत शैलियों के चित्रण में चित्र के दोनों अंगों में प्रयत्नपूर्वक एकरूपता दर्शित की जाती है।

उत्तर अमरीका की प्रागैतिहासिक निर्माण-कला में वहाँ के स्तूप भी उल्लेखनीय हैं। इनमें से कुछ तो प्रायः ३० फुट से भी अधिक ऊँचे हैं। इन स्तूपों का उपयोग मृतक संस्कार करने के लिए तो किया ही जाता था; इसके अतिरिक्त कुछ धार्मिक संस्कारों के लिए ये उपयोग में लाए जाते थे, और कुछ का उपयोग केवल निवास के लिए किया जाता था। इनमें से कुछ की बाह्य रूप-रेखा से विशाल प्राणियों, दैत्यों आदि का बोध होता है।

न्यू मेक्सिको और एरीज़ोना क्षेत्र के प्यूब्लो इंडियन समूह की मिट्टी के बर्तन बनाने तथा उन पर अनेक रंगों में सुन्दर चित्रण करने की कला अत्यंत प्राचीन तथा विकसित है। प्रागैतिहासिक काल से आज तक उसके विकास का अध्ययन किया जा सकता है।

दक्षिण अमरीका में भी स्थापत्य एवं चित्रण दोनों प्रकार की कलाओं की परंपरा है। वहाँ प्रागैतिहासिक काल की अनेक प्रस्तर-मूर्तियाँ मिली हैं। वहाँ धातुओं की ढाली हुई मूर्तियाँ भी मिली हैं।

प्राथमिक कला के संबंध में कतिपय भ्रांतियाँ प्रचलित हो गई हैं, जिनका प्रतिवाद करना आवश्यक है। संसार के विभिन्न आदिवासी क्षेत्रों की कला के उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि प्राथमिक कला एवं शिशु-कला को एक ही धरातल पर रखना सर्वथा अनुचित होगा। ठीक इसी तरह, यह धारणा भी भ्रांतिपूर्ण है कि प्राथमिक कला अनिवार्य रूप से धर्म तथा धार्मिक प्रथाओं एवं क्रियाओं से संबंधित रहती है। संसार के अधिकांश क्षेत्रों में उसका पृथक् एवं स्वतंत्र अस्तित्व है। इस कला का व्यावहारिक पक्ष अवश्य ही महत्त्वपूर्ण रहता है, किन्तु कलाकार भी स्वयं आत्म-संतोष के लिए अनेक बार सृजन करता है। एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न कलाकार भिन्न-भिन्न रूपों में देखते हैं, तथा उसके चित्रण में भिन्न शैलियों का प्रयोग करते हैं।

सौंदर्य के प्रति मानव की रुझान अत्यंत प्राचीन है, किन्तु वह कला का विकास क्यों करता है? इस प्रकार के प्रश्न यदि उसकी संस्कृति के अन्य पक्षों के विषय में पूछे जायँ, तो उनका उत्तर जीवन-रक्षा तथा यौन-संबंधी प्रकृतिदत्त मानवीय प्रेरणाओं के आधार पर दिया जा सकता है। किन्तु 'कला' के संबंध में यह कह सकना कठिन है। मानव कला के बिना जीवित रह सकता है, परन्तु

संसार के प्रत्येक भाग में उसने कला का कोई-न-कोई रूप—नृत्य, संगीत, चित्रण, स्थापत्य—अवश्य ही विकसित किया है। मानव की कलात्मक चेतना के शारीरिक, मानसिक आधार का विश्लेषण अभी तक नहीं हुआ है। इस प्रकार के विश्लेषण के अभाव में केवल यही कहा जा सकता है कि अपनी अंतश्चेतना की कतिपय उलझनों और तनावों को दूर करने के लिए ही वह कला की सृष्टि करता है।

दो
लोक-गीत

आधुनिक काल के अपेक्षाकृत विकसित साहित्य की धारा का परंपरागत स्रोत लोक-साहित्य में है। अधिकांशतः मौखिक एवं अलिखित यह साहित्य विविध लोक-संस्कृतियों का दर्पण है, और इसमें परंपरागत विश्वास, आचार-विचार और प्रथाएँ, लोक-जीवन का सुख और दुख तथा अतीत और वर्तमान सुरक्षित है। लोक-साहित्य के विभिन्न अंग केवल शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से ही अध्ययन की वस्तु न होकर, सांस्कृतिक अर्थात् मानव-शास्त्र तथा समाज-शास्त्र की दृष्टि से भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं।

लोक-साहित्य का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। भारतीय लोक-साहित्य को ध्यान में रखते हुए, विषय तथा रचना-शैली की दृष्टि से हम उसे स्थूल रूप से निम्न-लिखित वर्गों में विभाजित कर सकते हैं :

१. लोक-गीत।
२. गीत-कथाएँ और लोक-गाथाएँ।
३. लोकोक्तियाँ, पहेलियाँ, बुझौवलें आदि।
४. लोक-कथा।
५. पुरावृत्त, उत्पत्ति-कथाएँ तथा लोक-विश्वास।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से विश्लेषण करें तो हम सहज ही भेद-उपभेदों के आधार पर उपर्युक्त वर्गों को अनेक उपवर्गों में विभाजित कर सकते हैं।

लोक-गीत

लोक-साहित्य के भंडार में लोक-गीतों का स्थान निस्संदेह अत्यन्त उच्च है। आदि-संस्कृति के निम्नतम स्तरों में भी हृदय की अनुभूतियों को संगीतमय

शैली में व्यक्त करने के प्रयोग विशेष प्रयत्न किये बिना ही पाए जा सकते हैं। संस्कृति के क्रमिक विकास के साथ मानव की काव्यात्मक वृत्तियों का भी विकास होता है, और लोक-गीतों की शैली तथा भाव-भूमि भी क्रमशः अधिक विकसित होने लगती है। लोक-गीतों का क्षेत्र स्वयं ही अत्यंत व्यापक है। मानव-जीवन के किसी एक महत्त्वपूर्ण मूलभाव को सरलतम रूप में व्यक्त करने वाली दो पंक्तियों में पूर्ण छोटा-सा गीत तथा शैली एवं भावों की दृष्टि से विकसित, जीवन के विभिन्न पक्षों को कवित्वपूर्ण, रसमय तथा आलंकारिक ढंग से स्पष्ट करने वाली लोक-गाथाएँ, दोनों मूलतः लोक-गीत परिवार के ही हैं।

लोक-गीत स्वतःस्फूर्त प्राकृतिक काव्य के अंग हैं। लोक-गीतों में उनके रचयिता अथवा रचना-काल का प्रश्न महत्त्वपूर्ण नहीं होता; उनका महत्त्व तो उनकी सहज रसोद्रेक की शक्ति तथा सरल सौंदर्य में रहता है। उनमें एक व्यक्ति की अनुभूति की अपेक्षा लोक-हृदय की अनुभूति ही अधिक रहती है; व्यक्ति-विशेष की भावनाओं का प्रतिनिधित्व न कर लोक-गीत समुदाय की भावना के कहीं अधिक सच्चे प्रतीक होते हैं। काल और स्थान की सीमा को लाँघ, लोक-गायकों और गायिकाओं के अधरों पर जीवित रहने वाले ये लोक-गीत अतीत की परंपरा को वर्तमान में भी अंशतः जीवित बनाए रखते हैं। समय के व्यवधान से लोक-गीतों के बाह्य स्वरूप में तो परिवर्तन अवश्य होते हैं, किन्तु उनके मूल-भाव तथा अभिव्यक्ति की अपनी विशेष शैली सामान्यतः अपरिवर्तित ही रहते हैं।

सब लोक-गीत 'कविता' की कोटि में नहीं आते। वे मूलतः तो 'गीत' होते हैं, अतः गेय होना उनका प्रमुख गुण होता है। अनुभूति की मार्मिकता तथा अभिव्यक्ति के सरल, स्पष्ट, किन्तु तीव्र होने के कारण अनेक गीतों में अंशतः काव्य के गुण स्वाभाविक रूप से ही आ जाते हैं। अपेक्षाकृत विकसित तथा सुसंस्कृत समूहों के अधिकांश गीतों में थोड़े अथवा अधिक अंश में कवित्व साधारणतः मिलता ही है, किन्तु प्राथमिक संस्कृतियों के निम्न धरातल पर जीवन-यापन करने वाले अनेक आदिवासी समूहों के गीतों के संबंध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। हैदराबाद दक्षिण की चेंचू आदि-जाति के अध्ययन में क्रिस्टोफ फॉन फ्यूरर-हैमण्डार्फ ने बतलाया है कि इन लोगों के गीत प्रायः अस्पष्ट उद्‌गार ही होते हैं; उनमें काव्यात्मक अभिव्यक्ति का अभाव रहता है। आसाम की कोन्यक नागा आदि-जाति के गीत सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते हुए भी कवित्व की दृष्टि से प्रायः उपेक्षणीय ही हैं। छत्तीसगढ़ की कमार जाति के गीतों के सम्बन्ध में भी यह कहा जा सकता है कि उनमें विस्तारपूर्वक वर्णन करने की

शक्ति तो रहती है, किन्तु जहाँ भावनाओं के तीव्र आवेग की अभिव्यक्ति का अवसर आता है, गीतों की शक्ति कुंठित हो जाती है और इस परिस्थिति में उनके उद्गार अस्पष्ट तथा अर्थहीन-से हो जाते हैं। परन्तु अनेक भारतीय आदि-जातियाँ ऐसी भी हैं जिनके लोक-गीत कविता की दृष्टि से समृद्ध हैं। वैरियर एलविन और शामराव हिवाले द्वारा संग्रहीत मध्य प्रदेश की आदि-जातियों के गीत और आर्चर द्वारा एकत्र किये गए छोटा नागपुर के संथाल आदि-समूहों के अनेक गीत कविता के रूप में भी महत्त्वपूर्ण हैं।

गठन तथा शैली की दृष्टि से लोक-गीतों का निम्नलिखित वर्गीकरण किया जा सकता है :

१. सामान्य गीत।
२. नृत्य-गीत ।
३. गीत-कथा ।
४. लोक-गाथा ।

उपर्युक्त वर्गीकरण में 'गीत-कथा' और 'लोक-गाथा' दोनों में गीत-तत्त्वों के अतिरिक्त 'कथा' के तत्त्व भी रहते हैं, अतः उनकी अपनी एक विशिष्ट कोटि होती है। विषय, गायन के समय तथा गायकों की सामाजिक स्थिति के आधार पर भारतीय लोक-गीतों का अधिक विस्तृत वर्गीकरण किया जा सकता है। यथा :

१. सामान्य गीत—जो समय अथवा जाति का भेद किये बिना सर्व-साधारण द्वारा गाए जा सकें।

२. विशेष अवसरों के गीत—जैसे विशिष्ट ऋतु, उत्सव, पर्व आदि के गीत, विशेष नृत्यों के गीत, संस्कारों के गीत आदि।

३. जाति-विशेष के गीत—जिन पर सर्वसाधारण का अधिकार न होकर एक जाति अथवा समूह का ही अधिकार होता है।

४. धार्मिक गीत।
५. स्त्रियों के गीत।
६. भिखारियों के गीत ।
७. लोक-विश्वास-निहित गीत-कथाएँ।
८. अनुभव के वचन, उपदेश-संबंधी गीत आदि।

उपर्युक्त भिन्न-भिन्न प्रकारों में सामान्य गीतों की श्रेणी में आने वाले गीतों की संख्या ही सबसे अधिक है। अधिकांश 'नृत्य-गीत' केवल नृत्यों के ही गीत नहीं होते, वे साधारण अवसरों पर भी गाए जा सकते हैं; उदाहरणार्थ, छत्तीसगढ़ के 'कर्मा', 'नचौरी' आदि गीत। इस श्रेणी में विभिन्न प्रकार के नृत्यों

के उपयुक्त विभिन्न प्रकार के गीत होते हैं। मध्य प्रदेश की गोंड और बैगा आदि-जातियों के 'कर्मा', 'सैला' तथा 'झारापत' आदि नृत्यों के गीत विभिन्न शैलियों के होते हैं। उड़ीसा की जुआँग जाति के गिद्ध-नृत्य, कोयल-नृत्य, अजगर-नृत्य, नाग-नृत्य, भालू-नृत्य, गज-नृत्य, पक्षी-नृत्य, मयूर-नृत्य, हरिण-नृत्य तथा वन-शूकर-नृत्यों के गीत विभिन्न शैलियों के होते हैं। विशिष्ट अवसरों के उपयुक्त गीतों की श्रेणी में हिन्दुओं के संस्कारों के गीत अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। जन्म, विवाह, मरण-जीवन के प्रत्येक संक्रान्ति-काल के अवसर के अनुकूल गीत लोक-गीतों के भंडार में मिलते हैं। देश की प्रत्येक ऋतु की विशेषता एवं सौंदर्य का वर्णन करने वाले विभिन्न लोक-भाषाओं के गीत भारतीय लोक-साहित्य की विशेषता हैं। अनेक गीतों पर किसी जाति-विशेष का ही अधिकार होता है, और उन गीतों में हम उस जाति की सांस्कृतिक विशेषताओं तथा आचार-विचारों की सुन्दर झलक पाते हैं। धार्मिक लोक-गीतों का भी लोक-साहित्य में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि ये लोक-गीत अपने विशिष्ट संस्कृति-क्षेत्रों को अपनी ओजस्वी तथा उपदेशपूर्ण वाणी से अनुप्राणित करते हैं। स्त्रियों के गीतों में बच्चों को सुलाने की लोरियाँ, चक्की पीसते समय गाए जाने वाले गीत, तथा विशेषतः बेटी की विदा के अवसर के गीत महत्त्वपूर्ण होते हैं। उनमें भारतीय नारी के अनेक मार्मिक पक्षों का अत्यंत सुन्दर व हृदयस्पर्शी चित्रण मिलता है। अनेक गीतों और लोक-गाथाओं में आदिवासियों के लोक-विश्वास निहित रहते हैं। उनके सांस्कृतिक दृष्टिकोण तथा जीवन के मूल्यों पर प्रकाश डालने वाले ये गीत समाज-विज्ञान के अध्येताओं के लिए बहुमूल्य होते हैं।

उपदेशात्मक गीतों और अनुभव के वचनों की अपनी एक विशिष्ट श्रेणी होती है। उत्तर भारत के घाघ और भड्डरी के गीतों में ग्रामीण जीवन के नित्य उपयोग में आ सकने योग्य जो अनुभव हैं, वे विनोद के साथ ही महत्त्वपूर्ण शिक्षा देने की सामर्थ्य भी रखते हैं।

इन लोक-गीतों का महत्त्व क्या है? सर्वप्रथम तो लोक-गीत लोक-जीवन की कविता हैं। वे अपने सरल एवं निष्कपट भाव-सौंदर्य के कारण काव्य के रूप में ही महत्त्वपूर्ण हैं। उनमें लोक-जीवन के सुख-दुःख, माधुर्य और करुणा, तथा अश्रु और हास का भावपूर्ण चित्रण रहता है। उनमें छंद का अभाव भले ही हो, किन्तु लय अवश्य रहती है। साहित्य के विद्यार्थियों ने अलंकार तथा रस की दृष्टि से लोक-गीतों का अध्ययन कर उनकी विशेषताओं की कतिपय सुन्दर विवेचनाएँ प्रस्तुत की हैं। भाव-व्यंजना तथा ध्वनि-सौंदर्य की दृष्टि से भी अनेक गीत मधुर प्रतीत होते हैं। विशेषतया शृङ्गार, करुण, वात्सल्य, वीर और

यदा-कदा हास्य-रस के अनेक श्रेष्ठ उदाहरण लोक-गीतों में उपलब्ध हैं।

एक मिलन-आतुर हृदय की उत्सुकता का यह चित्र अपनी सरलता के कारण ही मोहक हो गया है :

को जानि बालम ल भेंटवो कि नाहीं !
कोरे गाथे माँग सँवारे
दरपन में छैंया देखे;
को जानि बालम ल भेंटवो कि नाहीं !
—कौन जाने, प्रियतम से मेरी भेंट होती है या नहीं !
माँग निकाल, केश-शृङ्गार कर,
दर्पण में अपना रूप तो देख रही हूँ;
कौन जाने, प्रियतम से भेंट होती है या नहीं !

उत्तर भारत के एक लोकप्रिय गीत की पंक्तियाँ हैं :

सजन सकोरै जाइँगे,
नैन मरेंगे रोय !
बिधना ऐसी रैन कर,
भोर कबहुँ न होय !
—साजन प्रातःकाल चले जायँगे,
रो-रोकर मेरे नयन जीवन-हीन हो जायँगे
विधाता ऐसी रात कर दे,
कि प्रातः कभी हो ही नहीं।

एक अन्य गीत है :

साजन तेरे हेत, अँखियाँ तो नदियाँ भईं,
मन भयो बारू रेत, गिरि-गिरि परत करार ज्यों
—प्रियतम ! तेरे लिए मेरी आँखें नदी बन गई हैं,
हृदय रेत सरीखा हो गया है,
'करार' की तरह गिर-गिर पड़ता है।

केवल प्रेम और विरह ही नहीं, जीवन के अन्य पक्षों की भी मार्मिक अभिव्यक्ति करने की क्षमता लोक-गीतों में रहती है। जीवन का कटु यथार्थ निम्नलिखित गीत में तीव्र व्यंग्य के साथ अभिव्यक्त किया गया है :

महंगी के मारे विरहा बिसरिगा,
बिसरिगा कजरी कबीर,
देख के गोरी का उभरा जोबन,

उठत न करेजवा में पीर !'
—महँगाई के कारण मैं 'बिरहा' भूल गया,
भूल गया 'कजली' और 'कबीर' भी,
अब तो गोरी के उन्नत उरोजों को देखकर भी
हृदय में कसक नहीं होती।

उत्कल तथा छत्तीसगढ़ के सीमावर्ती भाग के किसानों का एक गीत है :

ज़रा ठहर !
मेरे किसान मित्र, ज़रा ठहर !
गर्मी से तू व्याकुल हो गया है,
क्षण-भर ठहर, विश्राम कर ले।
तू मुझे मारता है—
पर मैं चलूँ कैसे ? मैं तो बूढ़ा हूँ
जब तरुण था तब तो मैं बिना रुके चलता था
तब धान के कैसे ऊँचे-ऊँचे ढेर लगते थे !
बैल मैं बूढ़ा, तू ही कह, मैं कैसे चलूँ !
मार ! मार ! मार !
जीर्ण हड्डियों का निर्जीव रक्त बहेगा,
पर मैं शक्ति-हीन कैसे चलूँ ?
मालिक, साहूकार, ज़मींदार तुझे मारते हैं,
और तू चुपचाप सब सहन कर लेता है।
मार, मार, तू मुझे मार ले,
मैं सब चुपचाप सहन कर लूँगा।

मूक पशु के जीवन की करुणा इन पंक्तियों में साकार हो उठी है।

जन्म, विवाह, मरण-संबंधी गीत कभी-कभी काव्य की दृष्टि से भी आकर्षक और मधुर होते हैं। कुछ उदाहरण लीजिए :

अँधेरी रात थी,
धीरे-धीरे चन्द्रमा निकला ;
प्रतीक्षा और कष्ट के बाद
घर में पुत्र का जन्म हुआ,
गाओ भाई ! गाओ !
नाचो भाई ! नाचो !

मध्य प्रदेश के आदिवासियों का यह गीत, सरल किन्तु सरस ढंग से, पुत्र-

जन्म के अवसर पर हृदय में उठने वाले भावों को सहज ही व्यक्त करने में समर्थ है।

बेटी की विदा के गीत अपनी करुणा और मार्मिकता के लिए प्रसिद्ध ही हैं। एक गुजराती गीत है :

अमे रे लीलुड़ा बननी चल कलड़ी
उड़ी जाशुं परदेश जी
आजा रे दादा जी ना देश मां,
काले जाशुं परदेश जी।
—मैं तो हरे-भरे वन की चिड़िया हूँ,
उड़कर परदेश चली जाऊँगी,
आजा दादाजी के देश में हूँ,
कल परदेश चली जाऊँगी।

'कविता-कौमुदी' के ग्राम-गीत संग्रह में रामनरेश त्रिपाठी ने माँ की मृत्यु पर पुत्र के हृदय में उठने वाले भावों का वर्णन करने वाला एक करुण तमिल गीत दिया है, जिसका आशय है :

माँ जिसने मुझे दस मास गर्भ में रखा,
और इतना कष्ट सहा;
जो कष्ट होते हुए भी मेरे जन्म का समाचार,
सुनकर प्रसन्न हुई थी;
और जिसने इतने प्रेम से मुझे अपने वक्ष का
दूध दिया था;
मेरी वह माँ अब मुझे कहाँ मिलेगी ?
अपनी उस माँ से मैं अब कब मिलूंगा ?

लोक-गीतों में कभी-कभी तत्त्व-ज्ञान की गम्भीरता से जीवन पर दृष्टिक्षेप करने के प्रयत्न भी मिलते हैं। एक छत्तीसगढ़ी लोक-गीत है :

जीयत जनम लेवो,
हँसि लेवो खेल लेवो ;
मरे ले दूलभ संसार !
जिनगी के नई है भरोसा !
—जन्म लिया है तो जी लें,
हँस लें और खेल लें ;
मरने से संसार दुर्लभ हो जायगा !

जीवन का कोई भरोसा नहीं !

लोक-गीतों की काव्यगत विशेषताओं का भी उल्लेख करना आवश्यक है । अनेक लोक-गीतों में हम उनकी 'गति' और 'ध्वनि' द्वारा उनमें अभिव्यक्त किये गए विषय का सुन्दर एवं जीता-जागता चित्र अपने सम्मुख पाते हैं । यथा :

कोलकी ने झाँक देखे,
डाँग भर बेला ;
लकर लकर आवत हो हो
मोर अलबेला ।
—वातायन से झाँककर देखा,
सूर्य क्षितिज पर आने वाला है ;
मेरा अलबेला प्रियतम,
'लकर' 'लकर' (झट-झट) आ रहा होगा ।

उक्त गीत के 'लकर-लकर आवत हो हो' शब्दों में उस अज्ञात नारी के अज्ञात 'अलबेले' के व्यग्र पगों की गति का चित्र है ।

इसी प्रकार लोक-गीतों में अनेक सुन्दर प्रतीक भी व्यवहृत हुए हैं । प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट भाषा-शैली का प्रयोग न कर, लोक-गीतों में अनेक स्थलों पर प्रतीकों की भाषा का प्रयोग उनके अज्ञात रचनाकारों ने किया है । अनेक लोक-गीतों में भी चन्द्रोदय आशा का प्रतीक है, अंधकार निराशा का । 'मन में बसे फूल की सुगन्धि' का पा जाना प्रेम की सफलता का द्योतक है और प्रेमी-प्रेमिका के मिलन पर आँधी आना तथा वृष्टि होना सांकेतिक रूप से उनके प्रेम की चरम परिणति का प्रतीक है । आदि-जातियों की संस्कृति के अध्ययन में यदा-कदा उनके दैनिक जीवन के वार्तालापों में भी ऐसे कवित्वपूर्ण प्रतीकों का उपयोग हमारे ध्यान को आकर्षित करता है । उदाहरणार्थ छत्तीसगढ़ की चौगुटिया मुंजिया आदि-जाति में जब कोई व्यक्ति अपने परिवार के किसी अविवाहित सदस्य के लिए वधू खोजने जाता है, तो वह कन्या के घर वालों से कहता है, "तुम्हर घर में फूल फुलिस है। ओकर सुगन्ध हमर गाँव में पहुँचिस है। ओला माँगे बर आए हन—तुम्हारे घर में एक कली प्रस्फुटित हुई है । उसकी सुगंधि हमारे गाँव तक पहुँची है । हम उसे माँगने के लिए आये हैं ।" संकेतों और प्रतीकों की यह भाषा, अनेक लोक-गीतों को अश्लीलता के दोष से बचा-कर उनमें काव्य का चमत्कार ला देती है ।

लोक-गीतों का समस्त महत्त्व उनके काव्य-सौंदर्य तक ही सीमित नहीं है । लोक-गीतों को संसार के महाकवियों की रचनाओं से श्रेष्ठ अथवा उनके

समकक्ष सिद्ध करने के प्रयत्न उचित नहीं कहे जा सकते। सच तो यह है कि प्रत्येक क्षेत्र अथवा जाति के गीतों का एक बहुत बड़ा भाग ऐसा होता है जो प्रायः कवित्वहीन होता है, किन्तु फिर भी सांस्कृतिक तथा समाज-शास्त्रीय महत्त्व के कारण उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। लोक-गीतों का संग्रह करते समय इस अंग की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। लोक-साहित्य लोक-जीवन का दर्पण है। देवेन्द्र सत्यार्थी ने कहा है, "भारतवर्ष का कोई भी चित्र भारतीय प्रथाओं, रीति-रिवाजों और हमारे आंतरिक जीवन की मनोवैज्ञानिक गहराई को इतने स्पष्ट तथा सशक्त ढंग से व्यक्त नहीं कर सकता, जितना कि लोक-गीत कर सकते हैं।" भारत के विभिन्न संस्कृति-क्षेत्रों तथा विभिन्न जातियों के सांस्कृतिक वैशिष्ट्य तथा उनकी मूलभूत सांस्कृतिक दृष्टि को समझने के लिए उनके लोक-गीतों का अध्ययन आवश्यक है। लोक-गीतों में सामाजिक एवं कौटुम्बिक आदर्शों की सुन्दर व्याख्या मिलती है। समाज को किस प्रकार का व्यवहार ग्राह्य है और किस प्रकार का अग्राह्य, इसकी भी मार्मिक विवेचना लोक-गीतों में सहज ही प्राप्त हो जाती है। समाज में पुरातन काल से चली आई परंपराओं, लोकाचार तथा प्रथाओं आदि के विश्लेषण में लोक-गीतों से महत्त्वपूर्ण सहायता प्राप्त हो सकती है। वेद और स्मृतियाँ भारतीय संस्कृति के जिन पक्षों के संबंध में मौन हैं, लोक-गीत अंशतः उनके संबंध में कुछ कह सकते हैं। आर्येतर सभ्यता की अनेक प्रथाएँ, जो आर्य-प्रभुत्व की स्थापना के बाद भी भारत में बनी रहीं, लोक-गीतों की सहायता से समझी जा सकती हैं। इतिहास के अँधेरे पष्ठों को भी लोक-गीतों और लोक-कथाओं से यदा-कदा प्रकाश की कुछ किरणें मिल सकती हैं। यद्यपि लोक-गीत में किसी घटना का वर्णित होना ही इतिहास के लिए प्रमाण नहीं माना जा सकता, फिर भी लोक-गीतों के दिशा-संकेत के आधार पर इतिहास-अन्वेषक अपने कार्य को आगे बढ़ा सकता है। सामान्य लोक-गीतों में इतिहास अप्रत्यक्ष तथा लोक-भावना द्वारा परिष्कृत रूप में आता है, किन्तु चारणों और भाटों द्वारा सुरक्षित गीतों में इतिहास का रूप अनेक अंशों में अधिक विश्वास-योग्य रहता है। छत्तीसगढ़ के रतनपुर, श्रीपुर आदि स्थानों के इतिहास के संबंध में वहाँ के देवारों के गीत निःसंदेह उपयोगी सामग्री प्रस्तुत कर सकते हैं। गोंडों के राजनीतिक उत्थान और पतन का इतिहास परधान आदि-जाति की अनेक गाथाओं में सुरक्षित है। इतिहास-संशोधक वैज्ञानिक अनुसंधान द्वारा इन गीतों और गाथाओं से महत्त्वपूर्ण सामग्री पा सकते हैं।

अपेक्षाकृत विकसित संस्कृतियों में लोक-गीत मनोरंजन, अनुभूतियों की अभिव्यक्ति, तथा अवसर की धार्मिक अथवा सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति

के लिए ही प्रायः गाए जाते हैं। आदि-संस्कृतियों में लोक-गीत मनोरंजन के अतिरिक्त एक अन्य महत्त्वपूर्ण उद्देश्य की पूर्ति में सहायक होते हैं। अपने विशिष्ट समूह के सांस्कृतिक तथा सामाजिक स्थायित्व को बनाए रखने के लिए वे अनेक अंशों में उत्तरदायी होते हैं। अनेक वर्षों तक नृतत्व के क्षेत्र में कार्य करने वाले गवेषकों ने लोक-गीतों की उपेक्षा की, किन्तु वेरियर एलविन ने बैगा आदि-जाति-संबंधी अपने महत्त्वपूर्ण अध्ययन में उक्त आदि-जाति के मौखिक साहित्य की सहायता से उसके जीवन का एक पूर्ण चित्र अंकित कर यह सिद्ध कर दिया है कि भारतीय नृतत्व के अध्ययन में लोक-गीतों का विश्लेषण कितना आवश्यक है। अधिकांश आदिवासी समूहों का सामाजिक तथा सांस्कृतिक दृष्टिकोण उनके गीतों में व्यक्त होता है। उनके गीतों से परिचित हुए बिना, हम उनकी संस्कृति के कई पक्षों को नहीं समझ सकते। मध्य भारत आदिवासियों का एक गीत है : "यदि तुम मेरे जीवन की कहानी को जानना चाहते हो तो मेरे 'कर्मा' गीतों को सुनो।"

छोटा नागपुर की हो आदि-जाति की संस्कृति के प्रेरक सिद्धांत-विषयक अपने अध्ययन में मजुमदार उनके एक गीत द्वारा ही उक्त समाज के उन चरम तत्त्व पर पहुँचे जो परिवर्तन-काल में उनकी संस्कृति की मूल प्रेरणा रहा है। अन्य लेखकों द्वारा बैगा और कमार आदि-जातियों के सामाजिक तथा सांस्कृतिक दृष्टिकोण का विश्लेषण उनके लोक-गीतों की सहायता से किया गया है। फ्यूरर-हैमण्डार्फ ने बतलाया है कि कोनायक नागा लोगों की संस्कृति में उनके लोक-गीतों का क्या महत्त्व है।

आदिवासी संस्कृतियों में लिपि के अभाव में उनका साहित्य प्रायः मौखिक ही रहता है, और वहाँ शिक्षा का कोई प्रत्यक्ष एवं निश्चित प्रबंध नहीं रहता। इसीलिए इन संस्कृतियों में लोक-साहित्य के अन्य रूपों के साथ लोक-गीत शिक्षण-संस्था का महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं। छत्तीसगढ़ की कमार आदि-जाति में अति निकट संबंधियों में यौन-संबंधों का प्रतिबंध करने के लिए बालकों तथा तरुणों को प्रत्यक्ष शिक्षा देने की आवश्यकता नहीं पड़ती। उनके लोक-गीत ही यह कार्य कर लेते हैं। उनके एक गीत में, एक काम-लोलुप पिता अपनी पुत्री के साथ यौन-संबंध करता है। कुछ समय के बाद ही इसके परिणाम स्पष्टतः लक्षित होने लगते हैं। तालाब-नदी में मछली नहीं मिलती, वर्षा न होने के कारण खेती नहीं हो सकती, और वन के कन्द-मूल-फल भी दुर्लभ हो जाते हैं। एक अन्य गीत में भाई-बहन में अनुचित संबंध हो जाता है, और अपने इस अपराध के कारण वे समाज से तिरस्कृत कर दिए जाते हैं। इस पाप-संबंध की संतान

के उत्पन्न होते समय स्त्री को दारुण वेदना होती है। उपर्युक्त गीतों का शिक्षात्मक प्रभाव अप्रत्यक्ष होते हुए भी स्पष्ट है। आदि-संस्कृतियों में लोक-गीत केवल सामूहिक अथवा व्यक्ति-विशेष की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति तथा मनोरंजन के साधन ही नहीं होते, वे जाति के धर्म, आचार-विचार और प्रथाओं— एक शब्द में उसकी संस्कृति—के भूत और वर्तमान में सामंजस्य बनाए रखकर भविष्य में भी उनकी परंपरा को स्थायी बनाए रखते हैं। आदि-संस्कृतियों को लोक-गीतों से बल मिलता है, और वे उसके विभिन्न अंगों को सम्बद्ध रखकर उसे विशृङ्खलित होने से बचाते हैं। लोक-गीत इस तरह लोक-संस्कृतियों के आधार भी हैं, और उनकी प्रेरक शक्ति भी।

गीत-कथा और लोक-गाथा

गीत-कथा तथा लोक-गाथा दोनों में लोक-गीत और लोक-कथा के तत्त्व सम्मिलित रूप में मिलते हैं। गीत-कथा मुख्यतः एक लोक-कथा ही रहती है, किन्तु रूप में वह गद्यात्मक न होकर पद्यबद्ध होती है। उसे हम लोक-साहित्य के अन्तर्गत खण्ड-काव्य मान सकते हैं। इसके विपरीत लोक-गाथा आकार-प्रकार में गीत-कथा से बड़ी रहती है, और यद्यपि मुख्य कथा-सूत्र उसमें एक ही रहता है, कथा के विकास-क्रम में स्थल-स्थल पर अनेक पात्र और घटनाएँ उससे संबद्ध हो जाती हैं। इस कारण अनेक गाथाएँ एक स्वतंत्र 'कथा' की अपेक्षा 'कथा-समूह' प्रतीत होती हैं। गीत-कथा और लोक-गाथा का क्षेत्र विशाल होता है। एक ही लोक-गाथा भिन्न-भिन्न संस्कृति-क्षेत्रों में थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ पाई जा सकती है। उदाहरणार्थ, 'रसालू कुँवर' की गाथा पंजाब से और मध्य प्रदेश के दो भिन्न भौगोलिक क्षेत्रों से प्रकाशित की गई है। संयुक्त प्रान्त, बुन्देलखंड तथा उत्तर महाकोशल में भी यह गाथा प्रचलित है। इस गाथा के चार प्रकाशित रूपों में अनेक समानताएँ हैं, फिर भी प्रत्येक क्षेत्र में उसका रूप भिन्न है। इसी प्रकार ढोला-मारू की गाथा मूलतः राजस्थान की होकर भी छत्तीसगढ़ तक आ गई है, और वहाँ के ग्रामीण समाज में आश्चर्यजनक लोक-प्रियता प्राप्त करने में समर्थ हुई है। लोरिक-चन्देनी और आल्हा-ऊदल की गाथाएँ भी प्रायः समस्त उत्तर और मध्य भारत में गाई जाती हैं। परधानों की गोंडों-सम्बंधी उत्पत्ति-कथाएँ उनके राजनीतिक उत्थान-पतन के गीतों के साथ किंचित् परिवर्तित रूपों में विशाल गोंड जाति के विस्तृत क्षेत्रों के भिन्न-भिन्न भागों में गाई जाती हैं।

लोक-गाथाओं के संबंध में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि उनमें से

अनेक लिखित रूपों में प्रायः गद्य ही प्रतीत होती हैं, किन्तु उनके कहने के विशेष ढंग से श्रोताओं को वे गीत के समान लगती हैं। स्थल तथा वर्णन के अनुकूल उनकी पंक्तियाँ छोटी-बड़ी हो सकती हैं, तथा लय के लिए उनमें बहुधा कुछ अर्थहीन शब्द या पंक्तियों को भी जोड़ लिया जाता है।

लोक-गीतों की अनेक विशेषताओं को हम गीत-गाथाओं और लोक-गाथाओं में पा सकते हैं। बड़े आकार के कारण उनमें साधारण गीतों की अपेक्षा विषय अथवा कथा-वस्तु का विस्तार अधिक हो सकता है तथा कवित्वपूर्ण विशद वर्णनों के लिए भी उनमें पर्याप्त स्थान रहता है। लोक-कथाओं के विभिन्न अभिप्रायों और उनके आधार पर कथाओं के विकास का विवेचन अन्यत्र किया गया है। गीत-कथाओं में लोक-कथाओं की ये सब विशेषताएँ रहती हैं : भाव-पूर्ण, चमत्कारिक तथा प्रभावशाली वर्णनों की शक्ति इनमें अपेक्षाकृत अधिक होती है। इसी कारण गीत-कथाओं और लोक-गाथाओं में पाये जाने वाले शोभा और महत्ता के वर्णन, शृङ्गार और सौंदर्य के चित्र, तथा युद्ध के विभिन्न पक्षों के विवरण अधिक पूर्ण, सशक्त और बलशाली होते हैं। काव्य की दृष्टि से निःसंदेह लोक-साहित्य के इस अंग का स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है। समाज-शास्त्रीय दृष्टि से, लोक-कथा शैली की होने के कारण हम लोक-कथाओं की तरह गीत-कथाओं और लोक-गाथाओं को भी एक सीमा से अधिक महत्त्व नहीं दे सकते। छोटे लोक-गीत जहाँ भावों एवं जातीय दृष्टिकोण को सच्चे रूप में प्रकट करते हैं, गीत-कथाओं और लोक-गाथाओं में विचित्र एवं आश्चर्यजनक घटनाओं का इतना बाहुल्य रहता है कि उनका महत्व सांस्कृतिक की अपेक्षा साहित्यिक अधिक हो जाता है। अनेक गाथाओं का क्षेत्र इतना विस्तृत होता है कि केवल उन्हीं के आधार पर किसी एक क्षेत्र-विशेष के प्राचीन अथवा वर्तमान सामाजिक संगठन-संबंधी निष्कर्षों पर पहुँचना भ्रामक होगा। इसके विपरीत, अनेक गाथाएँ तथा उत्पत्ति-कथाएँ ऐसी भी होती हैं, जिनमें आदि-जातियों के मूलभूत लोक-विश्वास निहित रहते हैं, और जिनको समझे बिना हम उन जातियों की संस्कृति-संबंधी अपने अध्ययन को पूर्ण नहीं बना सकते।

गीत-कथाओं और गाथाओं में थोड़े बहुत अनुपात में प्रायः सभी रसों का सुन्दर संस्कार लक्षित होता है। प्रेम, मान और विरह के अनेक आकर्षक उदाहरण हमें सहज ही यहाँ प्राप्त हो जाते हैं। छत्तीसगढ़ की लोकप्रिय प्रेम-गाथा चंदेनी में जहाँ नायिका के 'यौवन-भरे शरीर' और 'पूर्णिमा के चन्द्र के समान मुख' का वर्णन है, वहाँ निद्राहीन रातों और चिन्ता से भरे उदास दिनों का भी उल्लेख है। लोरिक और चंदेनी के मान और प्रेम के अनेक सुन्दर चित्र

इस कथा में हैं। रसालू कुँवर की गाथा शौर्य तथा वीरता के कार्यों के विवरण से परिपूर्ण है। युद्ध और प्रेम के वर्णनों के अतिरिक्त, कथा के अंतिम भाग में रौद्र रस का रोमांचकारी उद्रेक भी है। एक शरीरहीन नरमुण्ड हिलता-डुलता-बोलता रसालू कुँवर की यात्रा के अन्तिम युद्ध के पूर्व उससे मिलता है। कुछ समय बाद ही इस प्रकार के सैकड़ों मुण्ड एकाएक ज़ोर से हँसकर रसालू को भयभीत कर देते हैं। यद्यपि कथानक में नायक को इन नर-मुण्डों से महत्त्वपूर्ण सहायता मिलती है और अन्त में वे हानिकारक प्रमाणित नहीं होते, गायक के मुँह से उनका विस्तृत वर्णन जब श्रोता सुनते हैं, तब बालकों और स्त्रियों को ही क्या, वयस्क पुरुषों को भी रोमांच हो आता है।

वीर तथा रौद्र रस से ओत-प्रोत आल्हा-ऊदल की गाथा और महाराष्ट्रीय वीरों के पँवाड़े भी बड़े प्रभावशाली होते हैं। गोंडों की बैरागढ़ के राजकुमार की गाथा भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। 'गोंडवानी' लोक-गाथाओं की माला गोंड-संस्कृति के अध्ययन की दृष्टि से तो विशेष स्थान रखती ही है, किन्तु वह साहित्यिक दृष्टि से भी महत्त्वहीन नहीं है। अनेक गाथाओं में वात्सल्य, हास्य तथा शान्त रस आदि के भी सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। 'ढोला' की गाथा में रेवा मालिन की कैद से छूटकर जब नायक घर आता है, तब माँ के वक्षस्थल से उसके लिए स्वभावतः ही फूट पड़ने वाली धारा उसे पुत्र प्रमाणित कर देती है। 'पण्डवानी' में भीम के बल-कौशल के कार्यों के विवरणों के अतिरिक्त अनेक ऐसे प्रसंग भी आते हैं जबकि श्रोता प्रयत्न करने पर भी अपनी हँसी नहीं रोक पाते। भीम बुद्धि-बल से एक मूर्ख राक्षस को पराजित करना चाहता है। राक्षस उसकी चतुराई-भरी बातों में आ जाता है। भीम राक्षस से पूछता है, "मामा, कभी अपने दाँत साफ करते हो?" राक्षस उत्तर देता है, "नहीं।" "अच्छा तो आओ, खाने के पहले तुम्हें दातुन करा दूँ," कहकर भीम एक विशाल वृक्ष तोड़कर ले आता है। उस वृक्ष की दातुन बना भीम एक-एक करके राक्षस के सब दाँत तोड़ देता है। दाँतों के क्रमशः टूटने पर राक्षस को कैसी पीड़ा होती है और वह किस तरह रोता-चिल्लाता है, गायक इसका अतिरंजित वर्णन विस्तारपूर्वक सुनाता जाता है और श्रोतागण हँसते जाते हैं। फिर राक्षस के भोजन का समय आता है। दाँत न रहने के कारण वह यह नहीं समझ सकता कि वह किस तरह खा सकेगा। भीम उसे आँखें बन्द करके और मुँह खोलकर बैठ जाने के लिए कहता है और यह आश्वासन देता है कि वह पर्याप्त मात्रा में भोजन उसके मुँह में डाल देगा। राक्षस उसकी बात मान लेता है। भीम ने पहले से ही बड़े-बड़े पत्थरों की चालीस गाड़ियाँ वहाँ मँगाकर रख ली थीं। उनमें से एक-एक पत्थर उठाकर

भीम राक्षस के मुँह में डालता जाता है, और जब सब पत्थर समाप्त हो जाते हैं, तब वह उस राक्षस को उठने के लिए कहता है। पेट में भरे पत्थरों के भार के कारण राक्षस उठ नहीं सकता और अनेक प्रकार से विलाप कर अन्त में मर जाता है। इस संपूर्ण घटना का वर्णन गीत में निःसंदेह अत्यन्त हास्योत्पादक है।

लोक-गाथाओं का व्यंग्य कभी-कभी इतना सीधा, सरल और स्पष्ट न होकर अत्यन्त तीव्र भी होता है। ढोला की कथा में रेवा जादूगरनी का बन्दी ढोला मुक्त होने के अनेक असफल प्रयत्न करने के बाद एक बार उसके प्रभाव-क्षेत्र की सीमा पार करने में सफल हो जाता है। रेवा उसके पीछे भागती आती है, किन्तु उसे अपने प्रभाव-क्षेत्र में न पाकर निराश और क्रुद्ध हो उठती है। ढोला के ऊँट की पूँछ ही उसे अपने प्रभाव-क्षेत्र में दीख पड़ती है, और अपने निराशा-जनित क्रोध में वह उसे काट लेती है। नदी के एक तट पर बैठकर, दूसरे तट पर बैठे हुए ढोला को वह करुणात्मक गीत गा-गाकर लुभाना चाहती है। सरल ढंग के कुछ उत्तर देने के बाद, तीव्र व्यंग्य से पूर्ण एक गीत में ढोला ने उससे कहा है, "रेवा, मैं तो चला। मेरी स्मृति तुम्हारे पास अवश्य रहेगी। ऊँट की पूँछ सँभालकर अपने पास रखना और जब भी तुम्हें मेरी याद आए, उसे देख लिया करना।" निःसंदेह व्यंग्य का यह ढंग साधारण नहीं है। राजा भरथरी (भर्तृहरि) सम्बन्धी अनेक लोक-गीतों में वैराग्य तथा शान्ति के सुन्दर उपदेश हैं।

भारतीय समाज, संस्कृति तथा धर्म के विद्यार्थियों का ध्यान एक विशिष्ट कोटि की गाथाओं के प्रति आकर्षित होना आवश्यक है। महाभारत, रामायण तथा अनेक पौराणिक गाथाओं के अनेक 'लोक-संस्करण' भी भारतीय समाज में प्रचलित हैं। उदाहरणार्थ छत्तीसगढ़ की पण्डवानी नामक गाथा महाभारत का लोक-रूपान्तर है। इसी भाँति लछमन जती की कथा रामायण के मूल कथानक पर आश्रित है। इन गाथाओं के सूक्ष्म विश्लेषण द्वारा हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ग्रामीण क्षेत्रों के निवासियों ने भारतीय संस्कृति के इन सर्वमान्य एवं बहु-प्रचलित आख्यानों को उनके सुसंस्कृत रूप में ग्रहण न कर, एक भिन्न दृष्टिकोण से स्वीकार कर उन्हें अपनी संस्कृति का अंग बना लिया है। लोक-तत्त्व इन गाथाओं में इतने अधिक अंशों में आ गया है कि उससे उनका मूल रूप ही परिवर्तित हो गया है। लोक-हृदय तथा लोक-मस्तिष्क ने इन पौराणिक घटनाओं को एक सर्वथा नवीन दृष्टिकोण से ग्रहण किया है। पण्डवानी में द्रौपदी पाँच पुरुषों की पत्नी न होकर, केवल एक युधिष्ठिर की ही पत्नी है। लछमन जती में सीता ने अग्नि-परीक्षा नहीं

दी; समाज को सीता और लक्ष्मण के अनुचित सम्बन्धों की शंका हुई और उनका उन्मूलन कर अपने चरित्र की दोषहीनता प्रमाणित करने के लिए लक्ष्मण ने अग्नि-प्रवेश किया। बुंदेलखण्ड की एक गाथा में राजा भोज के साथ अकबर का भी उल्लेख है। 'मधुकर' में प्रकाशित कृष्णानन्द गुप्त के 'ग्राम-साहित्य' शीर्षक लेख से ज्ञात होता है कि इन गीतों में अकबर के भी अपना शीश उतारकर देवी के चरणों में चढ़ाने का वर्णन है।

लोकोक्ति और पहेली

लोकोक्ति और पहेलियाँ गीतात्मक हों या न हों, किन्तु उनमें अभिव्यक्ति के ढंग तथा कथन की तीव्रता से प्रभाव उत्पन्न करने की एक विचित्र शक्ति आ जाती है। चित्रात्मकता, उपमाओं के प्रचुर उपयोग तथा वक्रोक्ति आदि के प्रयोग से उनमें सहज ही काव्य-चमत्कार आ जाता है। आदिवासी समाजों तथा ग्रामीण संस्कृतियों में जहाँ शिक्षा के प्रत्यक्ष प्रबन्ध का अभाव रहता है, लोकोक्तियों के माध्यम से नई पीढ़ियों को परंपरागत सामाजिक दृष्टिकोण से अवगत कराया जाता है। लोकोक्तियों से किसी भी समुदाय का समाज-स्वीकृत दृष्टिकोण सरलतापूर्वक समझा जा सकता है। उनमें एक विचित्र तीक्ष्णता होती है जो उन्हें सीधे हृदय तक ले जाती है। पहेलियाँ कुतूहल और वैचित्र्य की भावनाओं को जागृत करती हैं। वे मनोरंजन के अतिरिक्त शिक्षा का भी साधन होती हैं। लोक-संस्कृतियों में व्यक्तित्व के निर्माण तथा विकास में इन सांकेतिक लोकोक्तियों और पहेलियों का बहुत बड़ा हाथ रहता है।

तीन
लोक-कथा

विचारशील मानव के कल्पनाशील मस्तिष्क ने प्रारम्भिक काल से ही जीवन के यथार्थ से भिन्न सुदूर, रम्य तथा वैचित्र्यपूर्ण कल्पना-लोकों की सृष्टि कर लम्बी-लम्बी उड़ानें भरी हैं। मानवीय कलाओं में कहानी कहने की कला अत्यंत प्राचीन है। लेखन के आविष्कार के सहस्रों वर्ष पूर्व से ही मानवीय मस्तिष्क ने अपनी वैचित्र्यपूर्ण अनुभूतियों को कथा का रूप देना आरम्भ कर दिया था, और इन कहानियों के माध्यम से उसके अपरिपक्व, अस्पष्ट जीवन-दर्शन की सर्वप्रथम अभिव्यक्ति हुई थी।

संस्कृति के प्राथमिक धरातल पर जीवन निर्वाह करने वाले प्रत्येक मानव-समूह में कम-से-कम दो प्रकार की कहानियों का प्रचलन पाया जाता है। प्रथम वर्ग में तात्कालिक घटनाओं तथा अनुभवों का वार्तालाप-शैली में निकट-यथार्थ वर्णन होता है। नृतत्व की दृष्टि से इनका विश्लेषण आवश्यक है, किन्तु इनमें न साहित्य-सौन्दर्य होता है और न स्थायित्व। इनमें से अधिकांश का जीवन अत्यंत अल्प एवं सीमित होता है, किन्तु कालान्तर में क्रमशः परिवर्तित होकर इनमें से कुछ का रूप 'मिथ' या पौराणिक कथाओं का-सा हो जाता है, और कुछ में अलक्षित रूप से लोक-कथा के अन्य तत्त्वों का समावेश हो जाता है और वे मौखिक कथा-साहित्य की परम्परा में स्थान पा जाती हैं। दूसरी श्रेणी में वे कथाएँ आती हैं जो अपनी कथा-वस्तु तथा कथन की कलात्मक शैली के कारण एक विशिष्ट साहित्यिक सौन्दर्य प्राप्त कर लेती हैं। लोक-वार्ता के विद्यार्थी इस श्रेणी की कहानियों को ही लोक-कथा कहते हैं। कथाएँ गद्यात्मक होती हैं, पद्य-बद्ध भी। जब वे सृष्टि के आरम्भ, जीवन की उत्पत्ति, समाज-व्यवस्था के जन्म तथा अदृश्य जगत् से वर्तमान के पारस्परिक संबंधों के विषय में परम्परागत लोक-विश्वासों को अभिव्यक्त

करती हैं, हम उन्हें मिथालॉजी या पुरावृत्त कहते हैं। जाति अथवा देश के नायकों के शौर्य, युद्ध, प्रेम आदि के विस्तृत गद्य-पद्यमय वर्णन 'बैलेड' तथा 'लीजेंड' (लोक-गाथा) कहे जाते हैं। वे अनेक आदिवासी संस्कृतियों में विशिष्ट संस्कारों तथा रस्मों के अवसर पर कही जाती हैं।

एक ही अभिप्राय तथा कथानक पर आश्रित लोक-कथाओं के भिन्न-भिन्न रूपों में हमें देश, काल तथा संस्कृति के प्रभाव स्पष्ट रूप से दीख पड़ते हैं। संभवतः एक ही अभिप्राय की इन सब कथाओं का मूल स्रोत भी एक रहा हो; किन्तु भिन्न सांस्कृतिक परिस्थितियों के कारण उनके रूपों में अनिवार्यतः अनेक परिवर्तन हो जाते हैं। अनेक लोक-कथाओं का निर्माण उनके रचयिता के अनुभवों से होता है, तथा ऐसी आदि-संस्कृतियों में, जिन पर बाह्य संस्कृतियों का प्रभाव अधिक नहीं पड़ा है, हमें ऐसी लोक-कथाएँ मिलती हैं जिनमें वह संस्कृति पूरी तरह चित्रित रहती है। सुप्रसिद्ध अमरीकी नृतत्व-वेत्ता फ्रेंज बोआस ने 'चिनुक टेक्स्ट्स' नामक अपनी पुस्तक में प्रशान्त सागर के उत्तर-पूर्व में बसने वाले एक आदिवासी समूह की लोक-कथाओं-मात्र के अध्ययन से उक्त आदि-जाति के सामाजिक संगठन, धार्मिक विश्वास, अर्थ-व्यवस्था, निर्माण-कला तथा भौतिक संस्कृति के अन्य अंगों का पूर्ण विवरण प्रस्तुत किया है। सतत परिवर्तनशील होने पर भी लोक-कथाएँ यदा-कदा अतीत को अपने आवरण में जीवित रखती हैं। किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि लोक-कथाएँ भ्रमणशील होती हैं और अनेक संस्कृतियों का प्रभाव अधिकांशतः उनके स्वरूप को उनके मूल रूप से इतना अधिक परिवर्तित कर देता है कि सामाजिक स्थिति के चित्रण के रूप में उनकी प्रामाणिकता विश्वसनीय नहीं रह जाती।

'लोक-कथा' अपने शुद्धतम रूप में हमें उन कहानियों में प्राप्त होती है जिनका उद्देश्य होता है श्रोताओं का मनोरंजन तथा कभी-कभी प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से उनका ज्ञान-वर्धन। भारत में प्राचीन काल से ही इस प्रकार की मौखिक कथाओं को लिपिबद्ध करना आरम्भ हो गया था, किन्तु रूप-परिवर्तन की इस क्रिया में उनमें साहित्यिक संस्कार आ गया तथा उनकी कथा-वस्तु के विकास में भी क्वचित् दिशा-परिवर्तन हो गया। कथासरित्सागर, हितोपदेश, पंचतंत्र, जातक आदि की कथाएँ अभिप्राय, शैली तथा कथा-वस्तु के विकास की दृष्टि से लोक-कथा-परिवार की ही हैं, यद्यपि उनके साहित्यिक स्वरूप के कारण उन्हें लोक-कथा का शुद्धतम रूप नहीं माना जा सकता।

लोक-कथा के संबंध में एक विद्वान् ने कहा है कि वे 'शिशुवत् मस्तिष्कों द्वारा रचित लघु उपन्यासों के समान होती हैं।' उनमें कथा के तीन तत्वों—चरित्र,

घटना तथा कथानक—का समावेश होता है। समाज के जिस अंग की वे सम्पत्ति हैं तथा मानव-जाति के जिस अंश से उनकी उत्पत्ति होती है—दोनों का धरती से संबंध होता है। खेतों और वनों में श्रम करने वाले मानव अपनी सरल, प्रत्यक्ष तथा मार्मिक शैली में अपने जीवन के यथार्थ तथा मस्तिष्क की रंगीन कल्पनाओं को लोक-कथा का रूप दे देते हैं। आदि-मानव ने अपने जीवन तथा अनुभूतियों का चित्रण कथाओं में किया है, दर्शन और सिद्धान्तों में नहीं। संस्कृति-सम्पर्क के व्यापक प्रभाव तथा वैचित्र्यपूर्ण कल्पनाओं के विस्तार के कारण हम उन कथाओं में जीवन को यथा-तथ्य प्रतिबिम्बित देखने की आशा नहीं कर सकते, किन्तु लोक-रुचि तथा लोक-जीवन के आदर्शों की एक झलक हमें उनमें अवश्य ही मिल जाती है। कथाएँ प्रकाश की किरणों के समान होती हैं, जो सदा उसी माध्यम का रंग ग्रहण कर लेती हैं जिसमें से होकर वे निकलती हैं। सर्व-स्वीकृत सामाजिक नियमों तथा बन्धनों के प्रति समुदाय की मौन मानसिक प्रतिक्रिया बहुधा लोक-कथाओं के माध्यम से व्यक्त होती है।

लोक-कथाओं के वितरण का अध्ययन करने से हमें ज्ञात होता है कि अनेक लोक-कथाएं ऐसी हैं जो प्रायः संसार की प्रत्येक भाषा तथा संस्कृति में अल्प अथवा बहु-परिवर्तित रूप में प्राप्य हैं। कतिपय कथाएँ ऐसी भी हैं जिनका वितरण स्थानीय है, और जिनका प्रचलन सीमित क्षेत्रों में ही पाया जाता है। लोक-वार्ता के विशेषज्ञों का मत है कि प्रथम वर्ग की कथाओं का प्रचार-प्रसार उनके मूल उत्पत्ति-केन्द्रों से ही शेष संसार में हुआ; किन्तु द्वितीय कोटि में आने वाली कथाओं में यदि हमें यत्र-तत्र एकरूपता भी दीख पड़ती है तो उनके संबंध में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वह भिन्न संस्कृतियों के प्रभाव के कारण है अथवा भिन्न देश, काल और संस्कृति में भिन्न मस्तिष्कों की सम-कल्पना के कारण। अभिप्राय के आधार पर सम्पूर्ण विश्व के लोक-कथा-साहित्य का विश्लेषण हमें बतलाता है कि मानव की नये अभिप्राय निर्मित करने की शक्ति आश्चर्यजनक रूप से सीमित है। थोड़े-से ही अभिप्राय नये-नये रूपों में हमें मानव-जाति की लोक-कथाओं में मिलते हैं। लोक-कथाओं के एक महत्त्वपूर्ण अध्येता आर्ने-थाम्पसन ने लोक-कथाओं का वर्गीकरण कर इन्हें सत्तर भिन्न कोटि की कथाओं में विभाजित किया है। इनमें से प्रत्येक कोटि को कतिपय उपभागों में भी विभाजित किया जा सकता है, किन्तु कथाओं के अभिप्राय की दृष्टि से यह संख्या बहुत अधिक नहीं बढ़ाई जा सकती। देश-विदेश में एक ही कथा के अनेक रूप हमें अवश्य ही प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ, अनाथ बालक या बालिका संबंधी कहानियाँ, जिनमें आरम्भ में नायक अथवा नायिका के गुण और रूप का आदर नहीं किया जाता,

किन्तु अन्त में उसकी ही विजय होती है, संसार के विभिन्न भागों से ये तीन सौ से भी अधिक भिन्न-भिन्न रूपों में लिपि-बद्ध की गई हैं।

भारतीय समाज की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से जिनका परिचय है उन्हें हमारे लोक-कथा-साहित्य के सर्वप्रिय अभिप्रायों को पहचानने में देर न लगेगी। भाइयों में सबसे छोटा भाई और रानियों में सबसे बड़ी रानी ही लोक-कथाकार को प्रिय होते हैं। बड़े भाई और पिता आरंभ में छोटे भाई का अनादर करते हैं और उसकी योजनाओं पर हँसते हैं, किन्तु विजय अन्त में उसी की होती है। कथा के पूर्ण होने पर उसे राज-पाट तथा एक सुन्दर राजकुमारी के साथ श्रोताओं की सहानुभूति भी प्राप्त होती है। इसी तरह 'एक था राजा' की सात रानियाँ रहती हैं, जिनमें सबसे छोटी रूप और यौवन-सम्पन्न, किन्तु क्रूर और कुटिल होती है। वासना-प्रिय राजा उसके विषाक्त मोह-पाश में आबद्ध होकर अन्य रानियों के साथ दुर्व्यवहार करता है, किन्तु अन्त में उसे अपने किये पर पछतावा होता है और वह तिरस्कृत बड़ी रानियों का समुचित आदर कर छोटी रानी को दंड देता है। अनाथ बालक, विजय-यात्रा के लिए राज्य छोड़ने वाले नायक तथा अच्छी और बुरी परियों की कहानियाँ भी अन्य देशों के कथा-साहित्य के समान ही भारतीय लोक-कथाओं में बहुत बड़ी संख्या में मिलती हैं।

हमारी लोक-कथाओं के कतिपय अन्य अभिप्राय भी उल्लेखनीय हैं। अनेक लोक-कथाएँ असाधारण शक्ति-सम्पन्न जादू की वस्तुओं के अभिप्राय पर आश्रित रहती हैं। जादू का उड़न-खटोला नायक को मनोवांछित स्थान पर ले जाता है; किसी भी स्वादिष्ट खाद्य-पदार्थ की इच्छा-मात्र करने से जादू की थाली उसे नायक के सम्मुख प्रस्तुत कर देती है; अथवा जादू के दर्पण में संसार के किसी भी स्थान में क्या हो रहा है यह सहज ही देखा जा सकता है। इन असाधारण साधनों से सुसज्जित होकर नायक सहज ही अपने विरोधियों पर विजय प्राप्त कर लेता है। एक अन्य अभिप्राय है पशु के रूप में मानव का रहना। यह अधिकांशतः किसी अभिशाप के कारण होता है। अभिशाप का प्रभाव दूर होने पर मनुष्य अपना पशु-रूप छोड़कर पुनः मनुष्य रूप ग्रहण कर लेता है। एक अन्य अभिप्राय ऐसा है जिसमें मानव के रूप में पशु रहता है। लोक-कथाओं में हमें अनेक ऐसी सुन्दर राजकुमारियों का वर्णन मिलता है ,जो दिन के समय तो मानवीय रहती हैं, किन्तु अर्ध-रात्रि के बाद जिनका मानव-शरीर निर्जीव हो जाता है और उसमें से उनका वास्तविक सर्पिणी का रूप प्रकट होता है। अपने जीव को शरीर से अलग किसी सुदूर स्थान में सुरक्षित कर रखने का अभिप्राय भी हमें अनेक लोक-कथाओं में दीख पड़ता है। एक डायन किसी भी उपक्रम, अस्त्र-शस्त्र, विष,

अग्नि आदि से नहीं मारी जा सकती, क्योंकि उसका जीव सात समुद्र पार, किसी द्वीप के किले में पक्षी के रूप में एक पिंजड़े में बन्द रहता है। अनेक असफल प्रयत्नों के बाद अन्त में नायक इस पक्षी की हत्या करने में सफल होता है। पक्षी की मृत्यु के साथ ही डायन की भी मृत्यु हो जाती है, क्योंकि उसका कोई स्वतंत्र जीव नहीं था। परोपकारी पशुओं की दयालुता का अभिप्राय भी अनेक कथाओं की पृष्ठभूमि में रहता है। इसी प्रकार पशुओं की भाषा समझने तथा उनके आधार पर कार्य करने का अभिप्राय भी लोक-कथाओं में अत्यंत लोकप्रिय है। उदाहरणार्थ, किसी राज्य में वर्षा नहीं होती। इसका कारण एक अनाथ बालक मछलियों की भाषा सुनकर जान लेता है और इसी ज्ञान के उपयोग से वर्षा कराने में समर्थ हो वह राज-दरबार से सम्मान तथा धन प्राप्त करता है। अनेक कहानियाँ वास्तविक अर्थ का अनर्थ करने के अभिप्राय पर आश्रित रहती हैं। उदाहरण के लिए रात के समय महाजन अपने बेटे से कहता है, "बेटा, रात के समय बाहर न निकलना, कहीं शेर-बेर न आ जाय।" एक शेर इसे सुन लेता है और बहुत विचार करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि उससे भी बड़े 'बेर' नामक किसी प्राणी की वहाँ आने की सम्भावना है, और यह विचार मन में आते ही वह भयभीत होकर वहाँ से भाग जाता है। अंधानुकरण के अभिप्राय पर भी कतिपय लोक-कथाएँ आश्रित रहती हैं। राक्षस हाथी से पूछता है, "भाई, तुम इतने मोटे और सुखी क्यों हो?" हाथी उसकी मूर्खता पर हँसकर कहता है, "मैं पहाड़ के पत्थर खाता हूँ।" राक्षस तुरन्त जाकर पत्थर खाने लगता है और इस मूर्खता के परिणामस्वरूप वह मर जाता है। अनेक कथाओं में राजाओं और युद्धों का वर्णन रहता है, अनेक में दैत्यों और राक्षसों के कृत्यों तथा मनुष्य से उनके संबंध का। कतिपय लोक-कथाओं की पृष्ठभूमि बीभत्स रहती है, अनेक का निष्कर्ष ज्ञानवर्धक एवं शिक्षाप्रद होता है।

मानसिक भावभूमि के धरातल पर मानव-जाति के भिन्न-भिन्न समुदायों में कितनी आश्चर्यजनक समता है, यह विश्व के लोक-कथा-साहित्य के अध्ययन से सहज ही जाना जा सकता है।

हमारी साहित्यिक परम्पराओं में लोक-कथाओं का अपना स्थान है, यद्यपि उनके लिपिबद्ध रूप में उस वातावरण को पूर्ण रूप से प्रस्तुत नहीं किया जा सकता जो इन सरल कथाओं को अनुप्राणित कर देता है। उनकी शैली, घटना-चमत्कार तथा अभिव्यक्ति के वैचित्र्यपूर्ण ढंग से साहित्य को समृद्ध अवश्य किया जा सकता है। लोक-जीवन के आदर्शों तक पहुँचने के लिए भी इस माध्यम का आश्रय लिया जा सकता है। एक ओर यदि भाषा-शास्त्र तथा ध्वनि-शास्त्र के

विद्यार्थी लोक-कथाओं का उपयोग अपने अध्ययनों में कर सकते हैं, तो दूसरी ओर लोक-मनोविज्ञान के विद्यार्थियों के लिए भी उनमें अनुसंधान की पर्याप्त सामग्री रहती है। लोक-संस्कृतियों को वे उनके अतीत से संबद्ध रखती हैं और जन-साधारण का मनोरंजन करती हैं। वे उनमें शिक्षा के माध्यम का महत्त्वपूर्ण कार्य करती हैं, और इस तरह वे सामान्यतः समुदाय की सांस्कृतिक परम्परा को अक्षुण्ण रखने में सहायक होती हैं।

चार
लोक-विश्वास

मानव-जीवन में लोक-विश्वासों के स्थान का विश्लेषण करते हुए अनातोले फ्रांस ने कहा है, "राष्ट्र अपने लोक-विश्वासों पर जीवित रहते हैं; अपनी लोक-गाथाओं से वे जीवन के लिए आवश्यक विचार ग्रहण करते हैं। उन्हें अधिक की आवश्यकता नहीं होती; थोड़ी-सी उपदेशात्मक कथाएँ ही लाखों प्राणों को प्रेरणा देने के लिए यथेष्ट होती हैं।" लोक-विश्वास और दंत-कथाओं में दृश्य और अदृश्य जगत् के प्रति जन-साधारण का दृष्टिकोण प्रतिबिम्बित होता है। उनकी नींव पर ही समाज के आचार-विचार आश्रित होते हैं। इन लोक-विश्वासों में लोक-जीवन की भौतिक एवं धार्मिक चेतना का मूल स्रोत निहित रहता है। अन्ततः ये मानव-समुदायों के सांस्कृतिक दृष्टिकोण एवं जीवन-मूल्यों को निश्चित कर लोक-जीवन को स्थिरता और स्थायित्व देते हैं।

गत तीस-चालीस वर्षों में पौराणिक कथाओं तथा लोक-विश्वासों की महत्ता एवं उपयोगिता के संबंध में हमारी धारणाओं में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। आज हम यह नहीं कह सकते कि लोक-विश्वास प्रतीकों की भाषा में लिखा हुआ विकृत इतिहास है; और न हमारी यह धारणा ही सर्वथा सत्य मानी जा सकती है कि पौराणिक कथाओं में मानव ने प्रकृति तथा अदृश्य जगत्-संबंधी अपने चिन्तन को अप्रत्यक्ष साधनों के अवलंबन से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इन कथाओं को मनोरंजन का साधन-मात्र ही मानना भी उचित न होगा। गूढ़ और सूक्ष्म विचारों को सरल बनाकर उनके स्पष्टीकरण के लिए ही इन कथाओं की उत्पत्ति हुई है, यह भी नहीं कहा जा सकता। विगत एवं मृत अतीत की वस्तु न होकर, लोक-विश्वास जीवित वर्तमान की वस्तु हैं। वे संस्कृति के असम्बद्ध अंगों में सम्बद्धता उत्पन्न कर उसे सशक्त बनाते हैं। मानव के विचारों और व्यवहारों पर

उनका अप्रत्यक्ष किन्तु व्यापक एवं सशक्त शासन प्राथमिक समाजों में सरलता-पूर्वक देखा जा सकता है। सांस्कृतिक विकास के प्राथमिक स्तर पर जीवन-यापन करने वाले अनेक आदिवासी समाजों की दृष्टि में ये पौराणिक कथाएँ तथा लोक-विश्वास मानव के कल्पनाशील मस्तिष्क की वैचित्र्यपूर्ण स्वप्न-सृष्टि न होकर उनके यथार्थ जीवन के अनिवार्य अंग होते हैं। वे उन्हें सामान्य लोक-कथाओं से भिन्न सुदूर सुन्दर अतीत की वास्तविक घटना मानते हैं, जिनका प्रभाव मानव के जीवन पर युग-युग से पड़ता आ रहा है। संकट की अनिश्चित घड़ियों में मानव किसी आधार की खोज करता है; उसके परंपरागत लोक-विश्वास उसे युगों से मानसिक दृढ़ता देते आए हैं। पौराणिक कथाएँ और लोक-विश्वासों का संबंध लोक-समुदाय की धार्मिक क्रियाओं तथा जादू-टोने आदि से भी अत्यंत निकट का होता है। कालांतर में अनेक प्रथाओं का रूप परिवर्तित हो जाता है, अनेक का व्यवहार ही बन्द हो जाता है, किन्तु उनसे सम्बद्ध कथाएँ जीवित रहती हैं।

लोक-विश्वासों के एक प्रसिद्ध अध्येता हैंडले ने कहा है, "वस्तुओं की उत्पत्ति की समस्या पर मनुष्य की कल्पना-शक्ति ने समय-समय पर जो उत्तर दिये हैं मिथ्स उनका प्रतिनिधित्व करती हैं।" लार्ड रेगलेन ने इस विचार का विरोध करते हुए कहा है, "यह वस्तु-स्थिति का यथार्थ चित्र है। बर्बर मानव को ऐसी किसी वस्तु में रुचि नहीं होती जो उसकी चेतना को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित न करती हो, और निकट परिचित वस्तुओं के संबंध में भी उसके मस्तिष्क में नये विचार उत्पन्न नहीं होते। प्रो० हैंडले के लोक-विश्वास-निर्माताओं में सृष्टि की उत्पत्ति तथा उसकी बुराइयों के संबंध में कुतूहल भरा है; किन्तु कुतूहल का न केवल प्राथमिक समाज में सर्वथा अभाव है, वह अपेक्षाकृत सभ्य समाजों में भी बहुत कम पाया जाता है।" लार्ड रेगलेन के इस मत का विरोध आदि-संस्कृतियों को निकट से जानने वाले अनेक विद्वानों ने किया है। वैरियर एलविन ने उनके उपर्युक्त मत की आलोचना करते हुए कहा है, "मैं केवल यही कल्पना कर सकता हूँ कि आदिवासियों के संबंध में लार्ड रेगलेन का ज्ञान उतना ही है जितना किसी अज्ञान कुत्ते का पशुओं के एक झुंड के विषय में होता है। व्यक्तिगत अनुभव से मैं कह सकता हूँ कि आदिवासी प्रायः कभी भी उतने जड़ नहीं होते जैसे कि वे प्रथम दृष्टि में प्रतीत होते हैं। कुतूहल-शून्य होना तो दूर रहा, उनमें से अनेक अपना बहुत सा समय अतिशय असाधारण विचारों और कल्पनाओं में व्यतीत करते हैं।" व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर इन पंक्तियों का लेखक यह कहना चाहेगा कि अनेक आदिवासी समुदायों में सृष्टि की उत्पत्ति तथा उसकी प्रकृति और

गुणों के संबंध में कल्पना करने की ओर निश्चित रुचि होती है; और अपने पूर्व-पौराणिक ज्ञान के आधार पर अनेक व्यक्ति नवीन पौराणिक कथाएँ गढ़ने का प्रयत्न भी करते हैं। अतः हमें लोक-विश्वास के क्षेत्र को अत्यधिक सीमित करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। अनेक लोक-विश्वासों का मानव-मस्तिष्क पर गहरा और वास्तविक प्रभाव रहता है, और उन्हें ध्रुव सत्य मानकर समुदाय अपनी जीवन-नीति निश्चित करते हैं। अनेक लोक-विश्वास धार्मिक क्रियाओं से प्रत्यक्ष रूप से संबंधित रहते हैं। कुछ का विषय केवल मनोरंजन होता है, कुछ का लोक-मस्तिष्क की दृष्टि से सृष्टि और उसके भिन्न अंगों का स्पष्टीकरण। अनेक लोक-विश्वास ऐसे होते हैं जिन्हें पूर्णतः आदि-मस्तिष्क की साहसपूर्ण कल्पना-मात्र ही माना जा सकता है।

लोक-विश्वासों का वर्गीकरण सरलतापूर्वक नहीं किया जा सकता। उनकी अनेकता तथा विविधता इस दिशा में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित करती हैं। ब्रह्माण्ड के चल एवं अचल भागों की उत्पत्ति की बृहत् गाथा, तथा किसी सामान्य अंध-विश्वास के मूल को स्पष्ट करने वाली अति संक्षिप्त कथा, दोनों लोक-विश्वास की श्रेणी में आती हैं। किन्तु एक का रूप पौराणिक और अलंकृत होता है, और दूसरी में हमें मिलती है आश्चर्यजनक अव्यंजना एवं सरलता। पहली कोटि की गाथाएँ लोक-विश्वास के अतिरिक्त साहित्य अथवा काव्य भी हो सकती हैं; दूसरी कोटि की कथाओं में न साहित्यिकता होती है और न काव्य-चमत्कार। शैली की दृष्टि से उनमें अनेक भेद पाए जाते हैं। अनेक कथाएँ बोझिल, पांडित्यपूर्ण, पौराणिक शैली में कही जाती हैं, किन्तु बहुत सी सामान्य लोक-कथाओं के समान सरल और स्पष्ट भी होती हैं। अनेक लोक-विश्वासों को अपने गर्भ में छिपाए रखने वाली कतिपय गाथाएँ ऐसी भी होती हैं जिनके सुनाने में कई-कई सप्ताह और माह तक लग जाते हैं, और जिनमें मूल कथा के कथन के अतिरिक्त गायन, नाट्य, नृत्य, संवाद तथा धार्मिक क्रियाओं का भी समावेश रहता है।

मूल भावों के आधार पर लोक-विश्वासों को चार प्रमुख वर्गों में विभाजित किया जा सकता है:

१. मानव तथा विश्व की उत्पत्ति से संबंधित लोक-विश्वास।
२. प्राकृतिक जगत् से संबंधित लोक-विश्वास।
३. मानव-शरीर तथा जीवन से संबंधित लोक-विश्वास।
४. मानवीय संस्थाओं से सम्बन्धित लोक-विश्वास।

प्रथम श्रेणी के विश्वासों को प्रकट करने वाली कथाओं को कथा-वस्तु की दृष्टि से अनेक उपवर्गों में विभाजित किया जा सकता है। पृथ्वी, मानव-

जाति, सूर्य, चन्द्र, वायु, जल, थल और अग्नि के जन्म के संबंध में अनेक प्रकार के लोक-विश्वास हमें मिलते हैं। उदाहरणार्थ, सृष्टि की उत्पत्ति के संबंध में छत्तीसगढ़ की कमार आदि-जाति में निम्न विश्वास है :

महादेव ने कहा, "मेरे राज्य (इस संसार) में परिवर्तन की आवश्यकता है। प्राचीन के स्थान पर नवीन का निर्माण होना चाहिए।"

"इस परिवर्तन में कितना समय लगेगा ?" महादेव के पास बैठे हुए लोगों ने पूछा।

"पाँच दिन, केवल पाँच दिन," महादेव ने उत्तर दिया।

विनाश के इस समाचार से चारों ओर खलबली मच गई। जंगल का काला हरिण भागकर अपनी पत्नी के पास गया और उससे कहने लगा, "जीवन के केवल पाँच दिन शेष हैं। आओ, हम अपनी सब अतृप्त इच्छाएँ पूरी कर लें।" यह सोचकर कि पाँचवें दिन उन्हें निश्चित रूप से मौत के मुँह में पहुँचना है, वे अपनी वासनाओं की पूर्ति में लग गए। उन्हें न उचित-अनुचित का ध्यान रहा, और न दूसरों की उपस्थिति का। उनके इस व्यवहार को देखकर एक वृद्धा मानवी चकित हो गई। क्रुद्ध होकर उसने पूछा, "तुम्हें क्या हो गया है ?" हरिण ने उत्तर दिया, "जब जीवन के पाँच ही दिन बचे हों, उचित और अनुचित का विचार कैसा !" वृद्धा अपने बूढ़े पति के पास जाकर पागलों की तरह हँसने लगी और बोली, "आओ हम भी जीवन के सुखों का उपभोग कर लें।" वृद्ध ने कहा, "तुम्हें हो क्या गया है ? पागल तो नहीं हो गई ?" वृद्धा बोली, "जीवन के केवल पाँच दिन शेष रहे हैं। फिर आकाश पृथ्वी से मिल जायगा और यहाँ सब-कुछ बदल जायगा। आओ, हम खेल-खा लें।" चिन्तित होकर वृद्ध ने पूछा, "तुमसे किसने कहा ?" वृद्धा ने उत्तर दिया, "काले हरिण ने।"

वृद्ध उठा। कुछ खा-पीकर अपनी कुल्हाड़ी लिये हुए वह पास के वन में चला गया। चन्दन की लकड़ी से उसने एक विशालकाय नाव बनाई जिसका आकार और रूप एक घर के समान था। इस नाव के एक कमरे में उसने खाद्य-सामग्री रखी, दूसरे में ईंधन, तीसरे में पानी और चौथे में जीवन की अन्य आवश्यक वस्तुएँ। इस तरह सब प्रबंध करने के बाद उसने अपने पुत्र और पुत्री को उस नाव के एक कमरे में बंद कर दिया।

चार दिन तक पृथ्वी पर शांति रही। पाँचवें दिन क्षितिज में दैत्याकार बादल उमड़ने लगे। थोड़े समय में ही विनाश के इन बादलों ने पृथ्वी को ढक लिया। थोड़े समय बाद ही एक भीषण भूकम्प आया और सर्वत्र अशान्ति छा गई। बिजली, वर्षा और तूफान ने पृथ्वी को अस्त-व्यस्त कर दिया। जब यह तूफान शान्त

हुआ, पृथ्वी का रूप ही बदल चुका था। एक भी प्राणी जीवित न बचा था। चारों ओर पानी-ही-पानी दीख पड़ता था। और इस विशाल जल-सागर के मध्य वह चन्दन की नाव तैर रही थी। जब विनाश का कार्य पूरा हो गया तब महादेव ने वर्षा और बिजली को शान्त कर दिया।

कुछ समय बाद महादेव ने कहा, "प्राचीन तो नष्ट हो गया, अब नवीन का निर्माण करना चाहिए।" महादेव ने अपने विश्वस्त सहचर बलिया को पृथ्वी और मनुष्य के बीज लाने का आदेश दिया। बलिया ने अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करने के लिए बारह लाख पक्षियों को भेजा। पक्षियों का यह विशाल दल बारह वर्ष तक उस अनन्त जल-राशि पर उड़ता रहा। थकावट और भूख से आधे पक्षी मर गए, और आधे चन्दन की उस नाव पर विश्राम करने के लिए बैठ गए। उस नाव में उन्हें मानव-स्वर सुनाई पड़ा। कोई कह रहा था, "अब तो केवल कुछ दिन के लिए ही भोजन शेष रहा है।" पक्षियों ने लौटकर महादेव को अपनी खोज की सूचना दी। महादेव ने कहा, "उनका भोजन छः मास और चले।" नाव खाद्य-सामग्री से भर गई। फिर उन्होंने केकड़े को आज्ञा दी कि वह शीघ्र ही धरती का बीज खोजकर लाए। समुद्र-तल से वह एक 'केंचुआ' लाया, जिसकी दाढ़ को दुहकर धरती का बीज निकाला गया। महादेव ने उस बीज को स्पर्श कर एक शक्तिशाली मंत्र पढ़ा। बीज क्रमशः बढ़ता गया और थोड़ी ही देर में उसका विस्तार इतना अधिक हो गया कि उस पर सृष्टि के सब जीव रह सकें। बीज जब बढ़कर पृथ्वी बन गया तब महादेव ने उसका बढ़ना रोक दिया। पृथ्वी अभी भी स्थिर नहीं थी, क्योंकि वह अथाह जल-सागर के वक्ष पर तैर रही थी। महादेव ने नागिन को आज्ञा दी कि वह एक विशाल स्तम्भ से लिपटकर पृथ्वी को स्थायी रखे। इस स्तम्भ के सहारे महादेव ने पृथ्वी को स्थिर किया। पृथ्वी तो बन गई, किन्तु अभी तक आकाश नहीं बना था। महादेव ने चारों दिशाओं में चार विशाल स्तम्भों का निर्माण किया, और उन पर काली सुरही गाय का चर्म इस तरह लगाया कि वह पूरी तरह पृथ्वी को छा ले। यह चर्म अभी भी बहुत ढीला था। महादेव ने भिन्न-भिन्न प्रकार की कीलों से उसे ठोककर स्थायी और कड़ा कर दिया। आकाश उसी काली गाय का चर्म है, और तारे हैं महादेव द्वारा ठोकी हुई कीलें।

इस तरह पृथ्वी और आकाश का निर्माण तो हो गया, किन्तु अभी तक न तो दिन को प्रकाश देने वाला सूर्य था, और न रात को शीतलता देने वाला चन्द्रमा। अपने शीश का चंद्र महादेव ने पृथ्वी को दे दिया। इसके बाद उन्होंने पाण्डवों को सूर्य लाने की आज्ञा दी। पाण्डवों ने चारों दिशाओं में चार सूर्य छोड़ दिए। चार सूर्यों की गरमी से पृथ्वी पिघलने लगी। महादेव ने पाण्डवों

को तीन सूर्य वापस ले जाने को कहा। पूर्व दिशा में उदित होने वाले सूर्य को छोड़कर पाण्डवों ने शेष तीन सूर्य वापस बुला लिए। पृथ्वी को मनुष्य जाति के निवास-योग्य बनाने के लिए महादेव ने बलिया को आज्ञा दी कि वह स्थान-स्थान पर वन, वृक्ष, कन्द, मूल, फल आदि उत्पन्न करे। बलिया ने बीज बो दिये। कुछ ही दिनों में पृथ्वी निवास-योग्य हो गई।

पृथ्वी को निवास-योग्य बनाने के बाद महादेव ने 'मनुष्य' बनाने का निश्चय किया। प्रयत्न करने पर भी महादेव को मनुष्य का बीज नहीं मिला। लाचार होकर उन्होंने वह चन्दन की नाव मँगवाई, और उसमें से लड़के और लड़की को निकाला। महादेव के पितृ-स्नेह की छाया में और पार्वती सरीखी माता पाकर वे दोनों दिन-दूने, रात-चौगुने बढ़ने लगे। चैत्र मास में महादेव ने कहा, "चलो, अब अन्न की चिन्ता करें।" खेत बनाकर महादेव ने उनके समीप ही एक झोंपड़ी बना दी। खेत की रखवाली के लिए बालक और बालिका को उसमें रहने की आज्ञा दी। दोनों ने कहा, "हम वहाँ कैसे सोएँगे? रात को हमें डर लगेगा।" महादेव ने कहा, "डरने की कोई बात नहीं है। आग जला लेना और उसके पास ही सोना।" रात्रि के समय महादेव ने सोचा, 'जब तक इन दोनों का संयोग नहीं होता मनुष्य जाति के बनने की कोई आशा नहीं है।' उन्होंने देखा कि भाई आग के एक ओर सोया है, बहन दूसरी ओर। वे शेर का रूप लेकर वहाँ गये, और उन्हें डराने लगे। बहन डर गई, परंतु भाई ने कहा, "शेर का क्या डर! सो जाओ।" बहन सो गई। कुछ देर बाद महादेव वहाँ साँप के रूप में गये। बहन फिर डरी, परन्तु भाई ने उसे पहले की तरह समझा दिया। जब उन्हें समीप लाने के महादेव के इस प्रकार के अनेक उपाय व्यर्थ हुए तो उन्होंने सहस्रों चींटियों का रूप धारण कर लिया और लड़की के शरीर से झूम गए। त्रस्त होकर उसने अपने भाई से कहा, "ये चींटियाँ मुझे खा लेंगी, मुझे बचाओ।" भाई ने कहा, "यहाँ मेरी ओर चींटियाँ नहीं हैं। तुम भी यहाँ आ जाओ।" दोनों को एकत्र देखकर महादेव प्रसन्न हुए। अब उन्हें मनुष्य जाति के निर्माण की कोई चिंता नहीं थी।

प्रातःकाल कन्या ने अपने-आपको गर्भवती पाया। जिस क्रिया में सामान्यतया नौ मास का समय लगता है, वह नौ कदम चलने में ही पूरी हो गई। वह लज्जित और दुखी होकर रोने लगी। माता पार्वती ने कहा, "तुम्हारे गर्भ में रत्नों की राशि है। तुम दुखी क्यों होती हो?" कन्या ने थोड़े ही समय में सहस्रों पुत्र-पुत्रियों को जन्म देकर मृत्यु की गोद का आश्रय लिया। महादेव और पार्वती के आश्रय में वे शिशु पलने लगे।

वन में बारह वर्ष तक निरंतर परिश्रम करके महादेव ने भिन्न-भिन्न प्रकार के

अस्त्र-शस्त्र, यंत्र-उपकरण आदि बनाए। उनके इस दीर्घ एकान्तवास से पार्वती के हृदय में कुशंकाएँ होने लगीं। नदी में स्नान करते हुए उन्होंने अपने शरीर के मैल से एक चीतल (एक प्रकार का बड़ा हरिण) बनाया, और आत्मिक शक्ति से उसमें प्राणों का संचार कर उससे कहा, "बेटा, जाकर पिता को लौटा ला।" वह महादेव के समीप जाकर 'टीह, टीह, टीह' चिल्लाने लगा। महादेव ने उसकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया। वह पार्वती के पास लौट आया। एक-एक करके पार्वती ने इस तरह चीता, साम्भर आदि वन के अनेक जीवों को बनाया और महादेव के पास भेजा, किन्तु महादेव पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। क्रुद्ध होकर पार्वती ने अपने शरीर के मैल से एक शेर बनाया; चावल के आटे, काजल, गेरू और हल्दी से उसके शरीर पर सफ़ेद, काले, लाल और पीले पट्टे बनाए, और उसमें प्राणों का संचार कर दिया। जीवन प्राप्त करते ही शेर दहाड़ा। पार्वती उससे डर गईं, किन्तु स्वयं उसके आज्ञा माँगने पर उन्होंने उसे पिता महादेव को वापस लाने का आदेश दिया। दहाड़ता हुआ शेर महादेव के पास पहुँचा। वन के प्राणी भयभीत होकर इधर-उधर भागने लगे। इस भय उत्पन्न करने वाले प्राणी की ओर ध्यान देने की आवश्यकता महादेव को भी प्रतीत हुई। एक लकड़ी के टुकड़े को लेकर उन्होंने सोन-कुत्ता बनाया। सोन-कुत्ते ने जीवन पाकर शेर का पीछा करना आरंभ किया। शेर ने जाकर माता पार्वती के आंचल में आश्रय लिया। पार्वती उस समय वर्तन माँज रही थीं। काले हाथों से उन्होंने सोन-कुत्ते के मुँह और पूँछ का स्पर्श करते हुए कहा, "तुम दोनों भाई हो, आपस में क्यों लड़ते हो?" उस दिन से सोन-कुत्ते का मुँह और पूँछ काली है। जंगल का राजा शेर केवल महादेव के बनाए सोन-कुत्ते से डरता है।

महादेव ने अपने बनाये हुए सब अस्त्र और उपकरण नदी में बहा दिए। जिन्हें हल मिला वे खेती करने वाले गोंड या दूसरी जाति हो गए। करघा पाने वाला कोष्टी हुआ। वाद्य-यन्त्र जिन्हें मिले वे बाजे वाले बन गए। नाई को उस्तरा मिला। इस प्रकार प्रत्येक जाति को अपना-अपना उद्योग और व्यवसाय मिल गया। एक व्यक्ति को केवल बाँस का एक टोकना मिला। वह धूल में पड़ा रो रहा था। महादेव ने उसे धनुष-बाण देकर कहा, "तुम जंगल में शिकार करो, तुम्हारी स्त्रियाँ बाँस के वर्तन बना सकती हैं।" वह कमार था।

उपर्युक्त कथा में हमें सृष्टि तथा जीवन आदि की उत्पत्ति के संबंध में एक लघु आदिवासी समाज के लोक-विश्वासों का परिचय प्राप्त होता है। भिन्न-भिन्न आदिवासी समाजों में इस तरह के अनेक लोक-विश्वास प्रचलित हैं।

एक ही अभिप्राय का रूप अलग-अलग समाजों में अलग-अलग हो जाता है। भीषण बाढ़ से जगत् का नाश एवं भाई-बहन के संयोग से पुनः मनुष्य जाति के जन्म का अभिप्राय हमें अनेक समूहों के लोक-विश्वासों में अनेक रूपों में मिलता है। उत्कल की शवर आदि-जाति के विश्वास के अनुसार महानाश के समय एक विशाल पर्वताकार कमंडल में एक भाई और बहन छिपे हुए थे। सम्पूर्ण सृष्टि का नाश हो गया, किन्तु कई वर्ष तक यह कमंडल पानी पर तैरता रहा। किट्टुंग महाप्रभु ने अपने शरीर के मैल से एक चील बनाई और उसे मनुष्य का पता लगाने का आदेश दिया। विश्राम के लिए चील उस पर्वताकार कमंडल पर बैठी, जहाँ उसे भाई-बहन की बातचीत की आवाज़ सुनाई पड़ी। उसने किट्टुंग महाप्रभु को यह सूचना दी। किट्टुंग ने एक मक्खी बनाई और एक चींटी, और दोनों को उस कमण्डल में भेजा। मक्खी ने लड़की के कानों में भनभनाना शुरू किया, और चींटी ने काटना। "भाई, मैं यहाँ नहीं सो सकती," बहन ने कहा। भाई ने उत्तर दिया, "तो यहाँ आकर मेरी खाट पर सो जाओ।" बहन उसके साथ सो गई। इस तरह वे पति-पत्नी बन गए। कुछ दिन बाद लड़की गर्भवती हो गई। किट्टुंग महाप्रभु ने जलराशि को वापस बुला लिया। पृथ्वी की सतह पर आकर कमण्डल के कई टुकड़े हो गए। पुरुष अपनी स्त्री के साथ बाहर आया। उनकी संतान से पृथ्वी की अनेक जातियों का जन्म हुआ।

संस्कृति-सम्पर्क की नई स्थिति ने आदिवासी लोक-विश्वासों को अनिवार्य रूप से प्रभावित किया है। उदाहरणार्थ, मध्य प्रदेश के मंडला ज़िले में रहने वाले आदिवासी चन्द्र और सूर्य के सम्बन्ध में कहते हैं, चन्द्र और सूर्य राम की दो आँखें हैं। लक्ष्मण योगी की मृत्यु से दुखित और क्रुद्ध होकर राम वन में गये और उन्होंने अपनी आंखें निकाल लीं। वे सूर्य और चंद्र बन गईं। बादल और तारों के संबंध में बैगा समाज में यह कथा प्रचलित है: "पृथ्वी का निर्माण तो हो गया किन्तु वह अस्थिर थी। भगवान् ने भीमसेन को आज्ञा दी कि वह उसे स्थिर कर दें। भीमसेन ने कहा, 'मैं पहले तम्बाखू पी लूँ, फिर देखूँगा कि पृथ्वी का क्या किया जा सकता है।' जैसे ही भीमसेन ने धूम्रपान करना आरम्भ किया, धुएँ के बादल आकाश में एकत्र होने लगे। उनसे ही आकाश बना। तम्बाखू के प्रज्वलित कण आकाश में तारे बन गए।"

आकाश के संबंध में कुछ गोंडों में निम्न लोक-विश्वास प्रचलित है: "पहले आकाश बहुत नीचा था। एक बुढ़िया थी। वह प्रति दिन सवेरे के समय अपने घर का आंगन झाड़ती थी। एक दिन जब वह आँगन साफ करने के लिए झुकी तो उसकी

पीठ आकाश से टकरा गई। उसने नाराज़ होकर उसी झाड़ू से उसे ठेलना शुरू किया। आकाश बुढ़िया से डरकर भागा, और वहाँ तक भागता गया जहाँ आज वह है।"

प्रकृति के जिन अंगों से आदि-मानव का प्रत्यक्ष सम्पर्क हुआ है, उनके सम्बन्ध में उसकी जिज्ञासा ने प्रश्न किये हैं, और उसकी कल्पना ने उन प्रश्नों के उत्तर दिये हैं। धातु, खनिज, वृक्ष, पशु, पक्षी और विभिन्न प्राणी, इन सबकी उत्पत्ति के संबंध में आदिवासियों के अलिखित पुराणों में सहस्रों कथाएँ मिलती हैं।

मानवीय संबंधों और संस्थाओं की उत्पत्ति पर भी उसने विचार किया है और उसका यह अस्फुट चिंतन लोक-विश्वासों के रूप में हमारी सांस्कृतिक परंपरा का एक अंग बन गया है। मानव के हाथ, पैर, केश, उरोज, गुप्त अंग, प्रत्येक की उत्पत्ति की शत-शत कथाएँ हमें लोक-विश्वास के संसार में मिलती हैं।

विज्ञान जिन प्रश्नों के उत्तर देने में असमर्थ है, आदिवासी लोग लोक-विश्वासों के आधार पर उनका उत्तर सहज विश्वास के साथ देते हैं। मृत्यु क्या है? क्यों आती है? उत्कल के जुआंग समाज का उत्तर होगा, "प्राचीन काल में कोई मनुष्य मरता नहीं था। एक मनुष्य की जीभ पर एक बाल निकल आया। कुछ ही दिनों में वह बारह हाथ लम्बा हो गया। जीभ के बाल से बेचैन होकर उसने महापूरब से प्रार्थना की कि वे उसे कष्ट से मुक्त करें। महापूरब ने उसके प्राण वापस बुला लिए। उस दिन से मनुष्य मरने लगा है।" इस तरह मृत्यु के रहस्य का वे अत्यंत सरल ढंग से स्पष्टीकरण करते हैं।

भारतीय मध्य प्रदेश के आदिवासी जानते हैं कि भुजबलसम्पन्न शक्तिशाली गुरु धनेत्तर बारह वर्ष के बाद हर मरे हुए आदमी को जीवित कर लेते थे। भगवान् को इस तरह मानव बनाने के लिए जीव ही नहीं मिलते थे। भगवान् ने सोने का साँप बनकर गुरु धनेत्तर को डस लिया। भगवान् की इस कुटिलता और छल के कारण अपनी मृत्यु को समीप जानकर गुरु धनेत्तर ने अपने शिष्यों से कहा, "मेरे माँस को पकाकर यदि तुम लोग खा लोगे तो मेरी शक्ति तुममें आ जायगी।" वे अपने गुरु की आज्ञा का पालन करने ही वाले थे कि भगवान् ने उनसे कहा, "तुम पागल तो नहीं हुए। कहीं कोई अपने पिता का माँस खाता है?" भगवान् के ऐसा कहने से पूर्व ही, माँस पका है अथवा नहीं यह देखने के लिए, सात शिष्यों में से एक ने गुरु धनेत्तर के माँस का एक-एक टुकड़ा प्रत्येक हांडी में से खाया था। उसके शरीर में गुरु धनेत्तर की कुछ शक्ति आ गई थी। शेष ने भगवान् के सुझाव पर गुरु का माँस न खाने का निश्चय किया। माँस की सातों हंडियाँ नदी में दहा

दी गईं। बहते-बहते वे एक ऐसे स्थान पर पहुँचीं जहाँ सात स्त्रियाँ स्नान कर रही थीं। उनमें से प्रत्येक ने एक-एक हंडी लेकर उससे माँस का एक-एक टुकड़ा खाया। इतने से ही उनमें टोने की शक्ति आ गई। इसके पहले कि वे गुरु धनेत्तर के माँस के और टुकड़े खाकर अधिक शक्ति प्राप्त करें, जिस शिष्य ने सातों हंडियों में से एक-एक टुकड़ा खाया था, अपनी शक्ति से उन्हें देख लिया। वह शीघ्र ही उस स्थान पर पहुँचा। उसने कहा, "तुमने एक-एक टुकड़ा ही खाया है, मैंने सात। मेरी शक्ति तुमसे सात गुनी है। यदि तुमने हंडियों को हाथ भी लगाया तो मैं तुम्हें नष्ट कर दूँगा।" स्त्रियों ने कहा, "नहीं गुरु ! तुम बड़े हो, हम छोटी हैं, सदा तुम्हारी आज्ञा मानेंगी।" तब से स्त्रियाँ टोना सीखकर अपनी माया का जाल बिछाती हैं, परन्तु गुरु धनेत्तर की विद्या जानने वाले गुनिया के मंत्र-बल के सम्मुख उनकी सदा ही पराजय होती है।

लोक-विश्वास का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। संस्कृति के एकीकरण में उनका बहुत हाथ होता है। लोक-विश्वास-निहित कथाएँ समाजीकरण और समाज-नियंत्रण के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य करती हैं। अतीत की परंपरा को वर्तमान तक लाना और उसे भविष्य तक विस्तारित करना उनका सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण उद्देश्य होता है। उनके अध्ययन से हमें संस्कृतियों के जीवन-दर्शन और मानव के मानव, प्रकृति और अदृश्य जगत् के अंतर्संबंधों की रूपरेखा मिलती है।

६

मानव और संस्कृति

एक

संस्कृति का निर्माण

संस्कृति की शास्त्रीय परिभाषा प्रस्तुत करते हुए यह कहा जा चुका है कि इस शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न कालों एवं संदर्भों में विभिन्न अर्थों में हुआ है। कतिपय कवियों और कलाकारों ने सौंदर्य-चेतना को संस्कृति का अनिवार्य चिह्न माना है और इसके विपरीत नीति-शास्त्रज्ञों ने सदाचार एवं सद्व्यवहार को उसके लक्षणों के रूप में प्रधानता दी है। दैनिक व्यवहार में सामान्यतः हम 'सुसंस्कृत' ऐसे व्यक्तियों को कहते हैं जिनमें व्यवहार-कुशलता होती है, जो समाज-स्वीकृत शिष्टाचार के नियमों का साधारणतः उल्लंघन नहीं करते तथा जो अपने आचरण में समाज की परंपरागत नीति-व्यवस्था का पालन करते हैं। इसके विपरीत संस्कृति के पर्यायवाची अंग्रेज़ी शब्द 'कल्चर' का प्रयोग कुछ लेखकों ने प्राथमिक लिपिहीन जातियों की जीवन-व्यवस्था के अर्थ में किया है। उनके मतानुसार विकसित सभ्यताओं को संस्कृति की सीमित परिधि में रखना अनुचित है। अनेक समाज-शास्त्रज्ञों के मतानुसार 'संस्कृति' हमें मानवीय उद्देश्यों की समष्टि को कहना चाहिए और 'सभ्यता' मानवीय साधनों की समष्टि को। इसी तरह कतिपय अन्य समाज-शास्त्रज्ञों का मत है कि 'संस्कृति' मानव के आन्तरिक गुणों की द्योतक है और 'सभ्यता' से मानव के बाह्य निर्माण-कार्य का बोध होता है। 'संस्कृति' को काव्य और साहित्य के धरातल से उठाकर विज्ञान के धरातल पर रखने का श्रेय नृतत्व को है। हम नृतत्व की वैज्ञानिक दृष्टि से संस्कृति की व्याख्या 'वातावरण का मानव-निर्मित भाग' के रूप में कर चुके हैं। दूसरे शब्दों में, हम उसे मानसिक, नैतिक, भौतिक, आर्थिक, सामाजिक, राजकीय, कलात्मक अथवा सारांश में मानव-जीवन के प्रत्येक पक्ष में सीखे हुए व्यवहार-प्रकारों की समग्रता कह सकते हैं।

संस्कृति के धरातल एवं विकास के स्तर तो अनेक हैं, किन्तु संस्कृति-विहीन मानव-समुदाय इस संसार में एक भी नहीं है। नृतत्व के विकास की प्रारम्भिक स्थिति में समय-समय पर ऐसे समाजों के विवरण मिलते थे जिनके संबंध में पर्यटकों अथवा अन्वेषकों का मत था कि वे पूर्णतः भाषा, सदाचार, धर्म, विवाह, शासन अथवा अग्नि विहीन थे। किन्तु वैज्ञानिक अनुसंधानों से यह स्पष्ट हो गया कि ऐसे विवरणों में कल्पना और अतिरंजना ही अधिक थी, सत्य कम। मर्डाक ने संस्कृति के कतिपय ऐसे सर्वसामान्य तथ्यों की सूची प्रस्तुत की है जो संसार के प्रत्येक मानव-समूह के जीवन में मिलते हैं। इन तत्त्वों में मुख्य ये हैं—आयु के आधार पर समूह-विभाजन, समुदाय-संगठन, परिवार-शासन-तंत्र, निकट सम्बंधियों में यौन-संबंध-निषेध, रक्त-संबंध, विवाह, उत्तराधिकार के नियम, सामाजिक स्तर-भेद, खेल-कूद, शरीर-सज्जा, गीत, नृत्य, कला, शिक्षा, नीति, शिष्टाचार, पौराणिक कथाएँ, पाक-विद्या, भोजन के निश्चित समय, अतिथि-सत्कार के नियम, निर्माण-कला, व्यक्तिगत नाम, जन्म-मरण के संस्कार, अदृश्य जगत्-संबंधी भावनाएँ, अदृश्य जगत् की शक्तियों पर अधिकार स्थापित करने के साधन, धार्मिक उत्सव, जादू-टोने-संबंधी विश्वासों द्वारा जनित क्रियाएँ, संपत्ति, व्यापार आदि। इस सूची में बिना विशेष प्रयत्न के अनेक तत्त्वों की वृद्धि हम सुविधापूर्वक कर सकते हैं। मानव-मात्र के प्रत्येक समूह में इन तत्त्वों को केन्द्र-विन्दु मानकर उनके चारों ओर जटिल भावनाओं, विश्वासों एवं व्यवहार-प्रकारों का जाल क्रमशः फैलने लगता है, जिसकी पूर्णता को हम संस्कृति कहते हैं। विस्तार के शब्दों में, सांस्कृतिक व्यवहार-प्रकारों के सभी भिन्न रूप—संसार की विभिन्न संस्कृतियाँ—इसी सर्वदेशीय-सर्वकालीन संस्कृति-प्रकार की आधार-शिला पर विकसित होते हैं। इन तत्त्वों का जन्म शारीरिक एवं मानसिक मानवीय आवश्यकताओं से होता है, किन्तु उनकी जड़ में इस मूलभूत एकता के होते हुए भी संस्कृतियों के स्वरूपों एवं मूल्यों में हमें अनेक महत्वपूर्ण तथा मौलिक भेद दिखलाई पड़ते हैं। दूसरे शब्दों में, जिन मूलभूत कारणों से 'संस्कृति' मानव के प्रत्येक समूह के लिए आवश्यक होती है, उन कारणों में प्रत्येक देश एवं काल में एक स्थिरता तथा एकरूपता रही है। साथ ही यह भी निश्चित है कि प्राणी-शास्त्रीय एवं मानसिक आवश्यकताओं की एक-सी जड़ों से जन्म पाकर भी प्रकट रूप में मानवीय संस्कृतियाँ भिन्न धरातलों तथा भिन्न रूपों में विकसित होती हैं। 'मानव-पूर्व' स्थिति से जब क्रमशः 'मानव' रूप में विभिन्न मानवीय समूहों का विकास हुआ, तब इस प्राणी की शारीरिक-मानसिक आवश्यकताओं तथा चेतनाओं में एक आश्चर्यजनक साम्य था, किन्तु अपने ऐतिहासिक-सामाजिक

विकास में वातावरण तथा दैनिक जीवन की तात्कालिक आवश्यकताओं एवं अनुभवों में भिन्नता होने के कारण जब उसकी संस्कृतियाँ विकसित हुईं तब उनमें अनेक महत्त्वपूर्ण असमानताएँ तथा अन्तर दृष्टिगत हुए।

डारविनवाद के प्रत्यक्ष प्रभाव के कारण स्वतः-स्फूर्त नैसर्गिक चेतनाओं (इंस्टिंक्ट्स) के आधार पर संस्कृति-निर्माण की समस्या पर प्रकाश डालने के अनेक प्रयत्न नृतत्व के विकास की प्रारंभिक स्थिति में किये गए। कुछ विचारकों का मत था कि मानव की कतिपय स्वतः-स्फूर्त नैसर्गिक चेतनाओं की अभिव्यक्ति के माध्यम ही क्रमशः जटिल संबंध विकसित कर लेते हैं और कालान्तर में संस्कृति का रूप ग्रहण कर लेते हैं। इन विकारकों के मतानुसार यौन-चेतना विवाह को जन्म देती है, आश्रय की खोज गृह-निर्माण को, और शासन-व्यवस्था सशक्त द्वारा अशक्त पर अधिकार किये जाने के प्राकृतिक नियम द्वारा उद्भूत है। प्राणी-जगत् के अन्य सदस्यों एवं मानव के जीवन की तुलना कर इन विचारकों ने अपने मत की पुष्टि करने के अनेक प्रयत्न किये। विशेषकर चींटी, दीमक, मधुमक्खी आदि 'सामाजिक' प्राणियों एवं मानव के जीवन में समताओं को दिखाकर उन्होंने समझ लिया कि उनके प्रमाण अकाट्य हैं। किन्तु ये अनेक समानताएँ, जिनका दिग्दर्शन उन्होंने कराया, सतही थीं। प्राणी-जगत् के मानव के अतिरिक्त अन्य जीवों की प्रत्येक शाखा में उनके जीवन-प्रकार पर भौगोलिक स्थिति अथवा काल का प्रभाव इतना व्यापक नहीं होता तथा स्वतः-स्फूर्त नैसर्गिक चेतना-जनित उनके क्रिया-कलापों में हमें एक सुनिश्चित योजना, स्थिरता एवं साम्य की झलक मिलती हैं। मानव के जीवन में सीखने का स्थान महत्त्वपूर्ण है। ज्ञान एवं अनुभव के आधार पर वह रुचि-वैभिन्न्य विकसित करता है। भिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में तथा एक भौगोलिक क्षेत्र में ही विभिन्न कालों में मानवीय व्यवहार-प्रकारों में जो अनेक परिवर्तन दिखलाई पड़ते हैं, उनमें सहज-बुद्धि-जनित व्यवहारों की स्थिरता कहीं भी दीख नहीं पड़ती।

उक्त सिद्धान्त के असंतोषजनक प्रमाणित होते ही नैसर्गिक प्रेरणाओं (इम्पल्स) के आधार पर संस्कृति के उद्गम स्थल के तत्त्वों की एकरूपता प्रमाणित करने के प्रयत्न भी किये गए। मानव की नैसर्गिक प्रेरणाओं, इच्छाओं, आवश्यकताओं तथा प्रवृत्तियों के द्वारा इस सर्वदेशीय-सर्वकालीन 'संस्कृति-प्रकार' की एकता स्पष्ट करने के अनेक प्रयत्न हुए हैं। सेमनर और केलर ने मानवीय संस्थाओं को चार मुख्य भागों में विभाजित किया है: स्वतः को जीवित बनाए रखने वाली, स्वतः की परंपरा को भविष्य में जीवित बनाए रखने वाली, स्वतः की तुष्टि के लिए उपादेयता। धार्मिक। इनका उद्गम समाजीकरण की चार महत्त्वपूर्ण शक्तियों में निहित है।

वे हैं क्रमशः भूख, प्रेम, अहम् और भय। नृतत्व के एक उल्लेखनीय आचार्य मैली-नास्की ने सामाजिक संस्थाओं के कार्यरत रूप का अध्ययन कर यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि वे किस प्रकार व्यक्ति तथा समूह की कतिपय मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। उक्त विचारधारा से हमें समस्या के स्वरूप को समझने में महत्त्वपूर्ण सहायता मिलती है, किन्तु केवल उनके आधार पर हम उसका पूर्ण विश्लेषण नहीं कर सकते। यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि भूख शान्त करने के लिए मानव भोजन की खोज करता है, गर्मी और सर्दी से बचने के लिए आश्रय की, तथा यौन-प्रवृत्तियों के कारण वह विवाह-संस्था का विकास करता है। इसी तरह उसकी हिंसात्मक वृत्तियों द्वारा हम लड़ाई-झगड़े, युद्ध आदि की उत्पत्ति का संतोषजनक उत्तर दे सकते हैं। किन्तु इसके साथ ही अनेक प्रश्न ऐसे भी उठते हैं जिनका संतोषजनक उत्तर देना उक्त मत के समर्थकों को अत्यन्त कठिन प्रतीत हो सकता है। मानव कला का विकास क्यों करता है? उसके संगठित जीवन में शिल्प, उद्योग तथा कौशल की इतनी विविधता क्यों दिखाई पड़ती है? स्वैर ढंग से अथवा ऋतु-सम्मिलन द्वारा भी वह अपनी मिथुन-कामना की तृप्ति कर सकता है, किंतु फिर भी वह परिवार का विकास क्यों करता है? क्या धर्म के प्रत्येक स्वरूप के मूल में केवल भय की भावना ही कार्य करती है? इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए मानव में अनेक अन्य प्रवृत्तियों को खोज निकालने के प्रयत्न निस्संदेह किये गए हैं। किन्तु शरीर-शास्त्र एवं मानस-शास्त्र के अनुसंधानों ने उनका समर्थन नहीं किया। उक्त विज्ञानों को अब भी सन्देह है कि मानव में निर्माण, मातृ-पितृत्व अथवा धर्मोल्लास की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। विशिष्ट व्यवहारों तथा संस्थाओं को किसी एक प्रवृत्ति से पूर्ण-रूपेण संबद्ध नहीं किया जा सकता। क्षुधा-तृप्ति के लिए हम भोजन करते हैं, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि भोजन का एकमात्र उद्देश्य यही है। हम स्वाद के लिए भी खाते हैं। यदि जीवन बनाए रखना ही भोजन का उद्देश्य होता तो हम कभी आवश्यकता से अधिक नहीं खाते, और न कभी ऐसे भोजन अथवा पेय ही ग्रहण करते जो स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होते हैं। प्रातःकाल यदि हम आवश्यकता से अधिक भोजन कर लें तो संध्या के समय भोजन की निश्चित घड़ी आने पर शारीरिक आवश्यकता न होते हुए भी भोजन की इच्छा होती है। और फिर हमारी अनेक संस्थाएँ ऐसी भी तो हैं जो एक साथ अनेक प्रवृत्तियों की तृप्ति का साधन होती हैं। विवाह-संस्था से केवल यौन-इच्छाओं की तृप्ति ही नहीं होती, परिवार का आर्थिक, शैक्षणिक एवं सामाजिक महत्त्व कम उल्लेखनीय नहीं है। मानव अपनी आदतों के कारण व्यवहार के जो विशिष्ट प्रकार अपने जीवन में

विकसित कर लेता है, उनका संतोषजनक विश्लेषण केवल मानव की स्वाभाविक प्रवृत्तियों एवं इच्छाओं के आधार पर नहीं किया जा सकता।

मनुष्य के कार्य और व्यवहारों का वर्गीकरण दो मुख्य श्रेणियों में किया जा सकता है :

प्रथम श्रेणी में स्वतः-स्फूर्त नैसर्गिक चेतनाओं (इंस्टिंक्ट्स) द्वारा जनित व्यवहार आते हैं, जो मानव को प्राणी-जगत् की एक विशिष्ट शाखा के रूप में प्रजनन द्वारा प्रकृति से प्राप्त होते हैं। विशिष्ट स्थितियों में ये चेतनाएँ मानव को स्वाभाविक रूप से विशेष प्रकार का व्यवहार करने के लिए विवश करती हैं।

दूसरी श्रेणी में आते हैं वातावरण तथा जीवन की अन्य परिस्थितियों के संदर्भ में विकसित 'स्वभाव' अथवा 'आदत' के अनुसार किये जाने वाले विशेष प्रकार के व्यवहार। प्राणी-जगत् के उच्च धरातल के अन्य सदस्यों की भाँति मनुष्य में भी यह योग्यता है और अत्यन्त विकसित रूप में है। जीवन की जिन स्थितियों में मनुष्य अपने-आपको इंस्टिंक्ट-विहीन पाता है, वहाँ वह क्रमशः द्वितीय श्रेणी के व्यवहार-प्रकार विकसित करता है। इन व्यवहार-प्रकारों का महत्त्व उसके जीवन में क्रमशः इतना अधिक बढ़ने लगता है कि वे उसकी मूल नैसर्गिक चेतनाओं के स्वरूप में परिवर्तन करने में सफल हो जाते हैं। संस्कृति का जन्म दूसरी श्रेणी के व्यवहार-प्रकारों में निहित है। संस्कृति मानव की जन्मजात विशेषता नहीं होती; उसे वह प्रजनन के माध्यम से नहीं मिलती। संस्कृति का निर्माण करना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है, किन्तु संस्कृति स्वयं मानव की कृति है और व्यक्ति संस्कृतिकरण की क्रिया द्वारा उसे अपनाता है। सीखे हुए व्यवहार-प्रकारों से वह या तो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अपनी प्राकृतिक इच्छाओं की तृप्ति करता है, या ऐसी स्थितियों का निर्माण करता है जिनमें उनकी तृप्ति हो सके। संस्कृति की उत्पत्ति उन तथ्यों में निहित है जिन पर मनुष्य की आदतें और तज्जनित व्यवहार अपने समाज द्वारा स्वीकृत एवं व्यवहृत प्रत्येक रूप में आश्रित रहते हैं। इनमें से भी समाज द्वारा पुरस्कृत व्यवहार-प्रकारों का संस्कृति के निर्माण में अत्यन्त उल्लेखनीय भाग रहता है। जीवन-यात्रा में नित्यप्रति उठने वाली स्थितियों का सामना करने के लिए तथा प्रतिदिन की नवीन समस्याओं का उचित समाधान खोजने के लिए, मानव को प्रकृति ने उचित परिमाण में बुद्धि एवं आविष्कार-शक्ति दी है। मानव न केवल अपनी तत्कालीन उलझनों का हल ही खोजता है, वरन् वह अपना ज्ञान समकालीन समाज को भी देता है और मौखिक अथवा किसी भी रूप में अंकित परम्परा द्वारा उसे भविष्य में आने वाली पीढ़ियों के लिए भी सुलभ कर देता है। मानव के मस्तिष्क का यह एक विशेष गुण है कि

वह अपने छोटे-बड़े आविष्कारों का आदान-प्रदान कर सकता है और उनमें से अधिकांश को, जो समाज के हितों में उपयोगी होते हैं, स्थिरता भी दे सकता है।

संस्कृति-निर्माण की योग्यता के बीज मानव के मानव-पूर्व पूर्वजों में भी थे। प्राचीन काल की प्रस्तरीकृत मानव-पूर्व एवं प्रारंभिक मानव-जातियों की संस्कृतियों के कतिपय अन्वेषण हमारे अध्ययन के लिए आज भी विद्यमान हैं। संसार से लुप्त जावा-पीकिंग निएण्डर्थल शाखा की मानव-पूर्व जाति की ईसा के ७,५०,००० से लेकर ४०,००० वर्ष पूर्व तक यूरोप तथा एशिया-अफ्रीका क्षेत्रों में वास करने वाली जातियों की, जमीन में मृतक को गाड़कर शव-संस्कार करने की प्रथा के चिह्न प्राग्-इतिहास के विद्वानों को मिले हैं। अधिकांश विद्वान् इस शाखा की गणना मानव-पूर्व जातियों में करते हैं। प्राचीन एवं नवीन प्रस्तर-युग की संस्कृतियों के अध्ययन द्वारा प्रारंभिक मानव के जीवन पर यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। मनुष्य ने अत्यन्त प्राचीन काल से ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति तथा इच्छाओं की तृप्ति के लिए संस्कृति-तत्त्वों की खोज एवं अनुसंधान का कार्य आरंभ कर दिया था। संस्कृति के कतिपय तत्त्वों का आविष्कार मानव ने अपने विभिन्न क्षेत्रों में स्वतंत्र रूप से किया, अनेक का आदान-प्रदान हुआ, और इस प्रकार विभिन्न समूहों के प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहयोग से संस्कृति क्रमशः विकसित, परिवर्धित तथा परिवर्तित होने लगी। मिट्टी के बर्तन बनाने की क्रिया का आविष्कार संभवतः प्राचीन जगत् (यूरोप, अफ्रीका, एशिया) तथा नवीन जगत् (अमरीका) में विभिन्न स्थितियों में स्वतन्त्र रूप से हुआ। प्राचीन जगत् में पहिये (चाक) की सहायता से मिट्टी के बर्तन बनाये गए, अमरीका में उसकी सहायता के बिना ही। कृषि की उत्पत्ति के संबंध में विद्वानों में मतभेद है, किन्तु यह संभव है कि भारत में जंगली केले को काटकर ग्राम की समीपवर्ती भूमि में पुनर्स्थापन द्वारा तथा मध्य-पूर्व एशिया में गेहूँ और जौ के आदिम घास-रूपों की खेती द्वारा विश्व में कृषि का सूत्रपात हुआ। इस तरह संस्कृति के कतिपय तत्त्वों का आविष्कार स्वतंत्र रूप से हुआ, किन्तु वे शेष संसार में अपनी उपयोगिता के कारण अपने उत्पत्ति-स्थल से क्रमशः फैलते गए। नवीन प्रस्तर-युग की संस्कृति का विशेष अध्ययन यूरोप के भौगोलिक क्षेत्र में हुआ है, किन्तु मानवीय शिल्प-उद्योग के इस आश्चर्य-जनक तथा क्रान्तिकारी आविष्कार का श्रेय पूर्व—संभवतः एशिया-माइनर—को मिलना चाहिए। आविष्कार के पश्चात् पत्थर को अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी एवं तीक्ष्ण बनाने की यह क्रिया तस्मानिया द्वीप को छोड़कर संसार के शेष सभी भागों में क्रमशः फैल गई। मानव की संस्कृतियाँ इस तरह पारस्परिक आदान-प्रदान से विकसित एवं बलवती होती हैं। संस्कृतियों के अन्तरावलंबन से मानव की

प्रगति को आश्चर्यजनक गति मिली है।

संस्कृति-तत्त्वों का आविष्कार प्रयत्नपूर्वक भी किया जाता है तथा आकस्मिक रूप से भी वे आविष्कृत हो जाते हैं। इनमें से द्वितीय का महत्त्व प्रथम की अपेक्षा किसी भी भाँति कम नहीं है। संभवतः प्रारम्भिक स्थिति में संसार के अधिकांश आविष्कार आकस्मिक रूप से ही हुए। आविष्कार के मूल कच्चे रूप में समूह ने व्यावहारिक दृष्टि से अनेक परिवर्तन-परिवर्धन किये। इस तरह उस विशिष्ट समूह के लिए आविष्कार के रूप में कुछ स्थिरता आई। अन्य संस्कृतियों ने जब इन तत्त्वों को ग्रहण किया, तब अपनी विशेष आवश्यकताओं तथा स्थिति के अनुकूल उसमें और भी परिवर्तन किये। संस्कृति के विकास की प्रारंभिक स्थिति में पूर्ण एवं अंतिम रूप में किसी व्यक्ति द्वारा संस्कृति के किसी भी तत्त्व का आविष्कार कर सकना प्रायः सम्पूर्णतः असंभव-सी घटना मानी जानी चाहिए। उस काल में आविष्कारों की गति अत्यंत धीमी थी। मंद गति से क्रमशः उनका विकास होता था, तथा अनेक व्यक्तियों का दीर्घकालीन प्रयत्न, ज्ञान और अनुभव उनके स्वरूप को पूर्णता और स्थिरता देता था। प्राचीन प्रस्तर-युग की निर्माण-शैली में मूलभूत परिवर्तन होने में लगभग ९,००,००० वर्ष लगे। आविष्कारों की गति में प्रगति तुलनात्मक दृष्टि से आधुनिक युग में ही हुई है।

मानव द्वारा आविष्कृत संस्कृति-तत्त्वों का सरल रूप क्रमशः जटिल होता जाता है। समानधर्मी तत्त्व क्रमशः एक-दूसरे के निकट आकर संस्कृति-तत्त्व-समूहों (कल्चर कांप्लेक्सिज) का रूप ग्रहण कर लेते हैं। कोई समूह जब अपने जीवन के प्रायः प्रत्येक पक्ष से संबंधित संस्कृति-तत्त्वों अथवा तत्त्व-समूहों को विकसित कर लेता है तब संगठित रूप से वे तत्त्व और तत्त्व-समूह उस समूह की विशिष्ट 'संस्कृति' का रूप ग्रहण कर लेते हैं। इकाई के रूप में 'संस्कृति' अपने-आप में पूर्ण रहती है, किन्तु नवीन तत्त्वों के आविष्कार तथा अन्य संस्कृतियों से पारस्परिक आदान-प्रदान द्वारा वे सशक्त एवं विकसित होती हैं। मानव की कतिपय मानसिक योग्यताओं तथा कार्य एवं विचार की दिशाओं में जो समताएँ हैं उनके कारण संस्कृति के तत्त्वों का स्वतन्त्र आविष्कार एवं समानान्तर विकास असंभव नहीं है, किन्तु अन्य प्रभावों से दूर रहकर संस्कृतियाँ न तो अपने विकास के स्तर को अधिक उच्च कर सकती हैं और न उसकी गति में ही वृद्धि कर सकती हैं। अत्यंत न्यून संस्कृति-संपर्क के कारण तस्मानिया तथा आस्ट्रेलिया के आदिवासियों तथा अफ्रीका की 'बुशमेन' जाति के सांस्कृतिक विकास में जो गति-अवरोध आ गया है वह इस सत्य को प्रमाणित करता है।

प्रारंभ में मनुष्य संस्कृति का निर्माण करता है और फिर संस्कृति मनुष्य के व्यक्तित्व के अनेक पक्षों को निर्मित करने लगती है। व्यक्ति और संस्कृति दोनों एक-दूसरे को क्रमशः प्रभावित करते हैं। संस्कृति व्यक्ति को एक विशेष साँचे में ढालती है। सामूहिक प्रयत्नों द्वारा व्यक्ति अपनी बुद्धि एवं आविष्कार-शक्ति तथा अभिरुचि एवं अनुभव का उपयोग कर संस्कृति के रूप को बदलने का प्रयत्न करते हैं। प्रायः प्रत्येक संस्कृति में अपनी परंपरा को बनाए रखने की शक्ति होती है, जैसा कि नवागत मानव-शिशु के क्रमिक विकास के साथ-ही-साथ अनिवार्य रूप से उसके संस्कृतिकरण द्वारा सिद्ध होता है। संस्कृतिकरण की यह क्रिया प्रत्यक्ष भी होती है और अप्रत्यक्ष भी। जीवन के प्रथम वर्षों में संस्कृतिकरण द्वारा शिशु अपनी मूलभूत प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति के समाज-स्वीकृत माध्यमों से परिचित होता है। व्यक्तिगत स्वच्छता, खानपान, बातचीत, निद्रा आदि संबंधी अपनी आदतें शिशु इसी आयु में सीखता है। उसके व्यक्तित्व के विकास में तथा शेष जीवन के क्रम पर उनका अत्यन्त व्यापक प्रभाव पड़ता है। बाल्यावस्था तथा वयःसंधि की आयु तक व्यक्ति अपनी संस्कृति के सिद्धान्तों और आदर्शों से परिचित हो जाता है। संस्कृति के मूल्यों के अनुसार व्यक्ति उचित तथा अनुचित, अनुकरणीय तथा उपेक्षणीय, प्रशंसा-योग्य तथा हेय कार्यों और व्यवहारों का भेद परिपक्व आयु होने तक भली भाँति समझने लगता है। अपने संबंधों, शैशवकालीन अनुभवों, अनुकरण आदि से शिशु का मस्तिष्क विचार तथा कार्य की विशिष्ट दिशाएँ विकसित करता है। युवावस्था तक बाह्य जगत् के प्रति उसका दृष्टिकोण संस्कृति द्वारा निर्देशित इन दिशाओं में विकसित होता है। मानसिक एवं भावनाओं की दृष्टि से परिपक्व होने तक वह संस्कृतिकरण के माध्यम से सांस्कृतिक स्थिरता के लिए आवश्यक सभी तथ्य पा लेता है, किन्तु इस क्रिया का अन्त मानव के अन्त के साथ ही होता है। मानसिक संतुलन पाने पर व्यक्ति नवनिर्मित परिस्थितियों में समाज-स्वीकृत मूल्यों की उपादेयता पर विचार करने योग्य हो जाता है। इस स्थिति में उसके व्यवहार-प्रकार, संस्कृति-स्वीकृत व्यवहार-प्रकार होते हैं, किन्तु परिवर्तित परिस्थितियों में उठने वाले नवीन व्यवहार-प्रकारों को स्वीकार अथवा अस्वीकार करने का महत्त्वपूर्ण निर्णय भी उसे ही करना होता है। उसकी स्वीकृति अथवा अस्वीकृति दोनों का संस्कृति की भावी प्रगति तथा परिवर्तन पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। इस तरह संस्कृति द्वारा निर्मित होकर भी मानव अपनी संस्कृति के नये सीमांतों तथा आदर्शों एवं मूल्यों का विकास करता रहता है।

दो
संस्कृति की रचना

संस्कृति के निर्माण द्वारा मानव अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन उपलब्ध कर जीवन-यापन की अपनी विशिष्ट परिपाटी निर्धारित करता है। मानवीय आवश्यकताओं को हम तीन प्रमुख वर्गों में विभाजित कर सकते हैं: प्रारंभिक आवश्यकताएँ, आश्रित आवश्यकताएँ तथा संगठन-संतुलन करने वाली आवश्यकताएँ।

उपर्युक्त तीनों प्रकार की आवश्यकताओं की नींव पर संसार की विभिन्न संस्कृतियों की रचना हुई है। मनुष्य की प्राणी-शास्त्रीय रचना में जो आवश्यकताएँ अनिवार्य रूप से निहित हैं उन्हें हम 'प्रारंभिक' आवश्यकताएँ कह सकते हैं। इस कोटि में जीवन-रक्षा, विशेष रूप से भूख-प्यास की तृप्ति तथा यौन-आवश्यकताओं को रखा जा सकता है। ये आवश्यकताएँ अनेक नई आवश्यकताओं को जन्म देती हैं। उदाहरणार्थ यौन-आवश्यकता की पूर्ति से संबद्ध गर्भाधान, संतानोत्पत्ति, पराश्रयी शिशु की देख-रेख और रक्षा आदि समस्याएँ अपने-आप एक के बाद एक आती जाती हैं और मानव को उनका सन्तोषजनक समाधान खोजना पड़ता है। वर्षा, ग्रीष्म और शीत के प्रकोपों से रक्षा के लिए मानव गृह-निर्माण करता है। जीवन-रक्षा के लिए दो भिन्न दिशाओं में वह प्रयत्न करता है—स्वयं अपने तथा आश्रित जनों के लिए भोजन-प्राप्ति और जंगली जानवरों और दूसरे शत्रुओं से रक्षा का यथोचित प्रबंध। इस तरह संस्कृति के संगठित माध्यम से मानव अपनी प्राणी-शास्त्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। द्वितीय श्रेणी की आवश्यकताएँ प्रारंभिक आवश्यकताओं से ही निकली हुई तथा उन पर आश्रित रहती हैं। परिवार के आश्रय के लिए घर आवश्यक होता है, और गृह-निर्माण के लिए कतिपय यंत्र और उपकरण आवश्यक होते हैं। भूख मिटाने के लिए मानव खाद्य-संकलन

अथवा शिकार करता है या मछलियाँ पकड़ता है। इनमें से प्रत्येक क्रिया के लिए उसे थोड़े-बहुत प्राथमिक उपकरण अथवा अस्त्र-शस्त्र आवश्यक होते हैं। इन सब आवश्यकताओं को हम आर्थिक आवश्यकताएँ कह सकते हैं। सामाजिकता मानव-जीवन की एक विशेषता है। मानव अनिवार्य रूप से अपने समूह के अन्य सदस्यों के निकट संपर्क में रहता है। स्वतंत्र समूह भी अपने-आप में पूर्ण नहीं होते। विशिष्ट ऐतिहासिक स्थितियों में वे अन्य समूहों से संपर्क, सहयोग अथवा संघर्ष करते हैं और इनमें से प्रत्येक का उनके विकास में बड़ा व्यापक और महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। मानव-जीवन के संघर्ष को कम करके, सहयोग के धरातल को अधिकाधिक विस्तृत करने के लिए संगठन और संतुलन की आवश्यकता होती है। इस दिशा में भी मानव उल्लेखनीय प्रयत्न करता है और अपना विशिष्ट जीवन और सामाजिक दर्शन विकसित करने के अतिरिक्त, जीवन के संक्रमण-कालों तथा दैवी दुर्घटनाओं का सामना करने के लिए अपने-आपको विशेष विचार-प्रकारों से सशस्त्र करता है। साथ ही वह उचित-अनुचित, गलत-सही आदि का मूल्यांकन करने के लिए सामाजिक नियम बनाता है। मानव-जीवन की ये तीनों प्रकार की आवश्यकताएँ एक-दूसरे पर आश्रित तथा एक-दूसरे की पूरक होती हैं। उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के विविध प्रयत्नों में ही क्रमशः मानवीय समूहों की जटिल संस्कृति का विकास होता है। आवश्यकता-पूर्ति के साधन तथा व्यवहार-प्रकार कालान्तर में संस्थाओं का रूप ले लेते हैं। संस्कृति का स्वरूप निर्धारित करने में इन संस्थाओं का बड़ा हाथ होता है। संस्कृति की रचना एवं गठन को समझने के लिए इन संस्थाओं तथा विचार और व्यवहार-प्रकारों के जटिल संबंधों के विभिन्न पक्षों को समझना अत्यन्त आवश्यक है।

नृतत्व-वेत्ताओं ने संस्कृति के विभिन्न अंग-प्रत्यंगों की अलग-अलग व्याख्या की है। सामान्य रूप से सारे विश्व की प्राथमिक संस्कृतियों एवं विशेष रूप से अमरीका की इंडियन संस्कृतियों पर जो महत्त्वपूर्ण सामग्री नृतत्व-विषयक अनुसंधानों में संग्रहीत हुई, उनके अध्ययन एवं विश्लेषण द्वारा सन् १९१७ में विस्लर ने अपनी 'मैन एण्ड कल्चर' नामक पुस्तक में संस्कृति की रचना का विश्लेषण कर उसके दो मुख्य अंगों का उल्लेख किया है। वे हैं संस्कृति-तत्त्व तथा संस्कृति-तत्त्व-समूह। संस्कृति-तत्त्व-समूहों की सुसंगठित तथा अपेक्षाकृत स्वयंपूर्ण योजना को हम संस्कृति की संज्ञा प्रदान करते हैं। इनके अतिरिक्त संस्कृति की रचना तथा विस्तार का विचार करते समय 'संस्कृति क्षेत्र' तथा 'संस्कृति-प्रकार' के संबंध में भी विचार करना आवश्यक है।

संस्कृति-तत्त्वों को हम संस्कृति के गठन की सरलतम व्यावहारिक इकाइयाँ मान सकते हैं। किन्तु यहाँ 'इकाई' शब्द का प्रयोग उसके व्यापक अर्थ में हुआ है,

क्योंकि एक ही संस्कृति-तत्त्व के निर्माण में अनेक विचार एवं व्यवहार-प्रकार सहायक होकर सदा के लिए उससे संबद्ध हो सकते हैं। इस तरह अनेक छोटे-छोटे तत्त्वों के एकीकरण से किसी एक संस्कृति-तत्त्व का निर्माण होता है। उदाहरणार्थ, अनेक आदि-संस्कृतियों में धनुष-बाण का स्थान महत्त्वपूर्ण होता है। धनुष-बाण उनकी संस्कृति के महत्त्वपूर्ण संस्कृति-तत्त्व माने जा सकते हैं। अब यदि हम धनुष-बाण बनाने और उनके उपयोग-संबंधी व्यवहारों और विचारों का विश्लेषण करें तो हमें ज्ञात होगा कि उनके निर्माण के लिए विशेष समय पर, वन और पर्वत के विशेष भागों से लकड़ी, लोहा आदि एकत्रित किये जाते हैं। इसके बाद विशेष विधियों से धनुष-बाण बनाए जाते हैं, और विशेष विधियों से उनकी परीक्षा होती है। इस परीक्षा के उपरान्त मंत्र आदि द्वारा उनमें दैवी अथवा अन्य चमत्कारी शक्ति भरने का प्रयत्न किया जाता है। इतना सब होने के बाद कहीं वे दैनिक उपयोग में लाए जा सकते हैं। इतना ही नहीं, समाज की परंपरा यह भी निश्चित करती है कि कौन कब उनका उपयोग कर सकता है, और कौन उनका स्पर्श भी नहीं कर सकता। जाति के प्रधान अथवा नायक यदि इन धनुष-बाणों का उपयोग करें तो उनकी शक्ति बढ़ जाती है, और इसके विपरीत रजस्वला स्त्री अथवा कुष्ठग्रस्त व्यक्ति का स्पर्श उन्हें सर्वथा निरुपयोगी भी कर सकता है। यह स्पष्ट है कि सरलतम संस्कृति-तत्त्व भी रचना की जटिलता से मुक्त नहीं है।

संस्कृतियों के गठन के विश्लेषण के लिए हमें ऐसे तत्त्वों को स्वतन्त्र इकाई के रूप में ही स्वीकार करना पड़ता है। भौतिक धरातल पर जहाँ हम पत्थर के चाकू, लोहे के भाले या लकड़ी के मकान को संस्कृति-तत्त्व मानते हैं, वहाँ भाव-जगत् में प्रत्येक प्रकार के लोक-विश्वास तथा धार्मिक क्रिया को भी इसी रूप में स्वीकार करना पड़ता है। मानवीय संस्कृति का प्रत्येक पक्ष इस प्रकार के अनेक तत्त्वों के सम्मिलन से गठित होता है।

'संस्कृति-तत्त्व-समूह', जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, समानधर्मी अथवा पूरक संस्कृति-तत्त्वों के सम्मिलन से बनते हैं। आसाम के कतिपय नागा समूहों की नरमुंड-प्राप्ति (हेड हंटिंग) की धार्मिक-सामाजिक क्रिया अनेक संस्कृति-तत्त्वों के एकीकरण से एक विशिष्ट 'संस्कृति-तत्त्व-समूह' के रूप में हमारे सम्मुख आती है। युद्ध, संगठन तथा संचालन, यौन-संगठन आदि के क्षेत्र में इस प्रकार के अनेक संस्कृति-तत्त्व-समूह स्वतन्त्र रूप से विकसित हो जाते हैं।

इन 'संस्कृति-तत्त्वों' और 'संस्कृति-तत्त्व-समूहों' के संगठन से जिस वैशिष्ट्य-पूर्ण स्वतन्त्र तथा प्रायः स्वयं-पूर्ण रचना का विकास होता है उसे ही हम संस्कृति

कहते हैं। संस्कृति का विवरण करते समय हम प्रायः किसी समूह के विशेषतापूर्ण विचार एवं व्यवहार-प्रकारों की रूपरेखा-मात्र उपस्थित करते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से जहाँ ऐसा करना स्वाभाविक एवं आवश्यक है, वहाँ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि संस्कृति एक अविराम क्रिया है, जिसका स्वरूप मानव के दिन-प्रतिदिन परिवर्तित होने वाले विचारों और व्यवहारों के साथ स्वयं भी परिवर्तित होता रहता है। इन विवरणों में बहुधा हम परंपरा-स्वीकृत मूल्यों और आदर्शों के आधार पर संस्कृति की रूपरेखा निर्धारित करते हैं। इस तरह संस्कृति का जो आदर्श चित्र हमारे सम्मुख आता है, पूर्ण रूप से अपने जीवन में उसे चरितार्थ करने वाले व्यक्ति उस समूह में बहुत थोड़े रहते हैं, किन्तु समूह के अधिकांश लोगों के जीवन-यापन की शैली इस आदर्श के आसपास ही विकसित होती है।

नृतत्व-वेत्ता द्वारा वर्णित संस्कृति, हमारे सम्मुख कतिपय ऐसी समाज-स्वीकृत स्थितियों के विवरण के रूप में आती है जिनका स्थान उस समूह के सदस्यों के व्यवहार-प्रकारों के निर्माण में उल्लेखनीय एवं महत्त्वपूर्ण होता है। समाज के सदस्यों की एक बहुत बड़ी संख्या का व्यवहार अथवा समाज के सामान्य सदस्यों का सामान्य व्यवहार इन स्थितियों का निर्माण करता है और उनके आधार पर ही कालान्तर में समाज अपने मूल्य तथा आदर्श विकसित करता है। संसार की प्रायः प्रत्येक संस्कृति में जीवन के ऐसे कुछ क्षेत्र अवश्य होते हैं जिनमें उनके सैद्धान्तिक आदर्श और व्यावहारिक यथार्थ में अन्तर होता है।

ऐतिहासिक संपर्क तथा भौगोलिक निकटता का संस्कृतियों के स्वरूप पर बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा है। मूल्यों और व्यवहारों के कतिपय क्षेत्रों में मूलभूत विभिन्नताएँ रखते हुए भी अन्य दिशाओं में समीपवर्ती संस्कृतियाँ प्रायः समानान्तर रूप से विकसित होती हैं तथा परस्पर संस्कृति-तत्त्वों का आदान-प्रदान करती रहती हैं। इस तरह कतिपय संस्कृति-तत्त्व या संस्कृति-तत्त्व-समूह एक विशेष भौगोलिक क्षेत्र में फैलकर 'संस्कृति-क्षेत्र' का निर्माण करते हैं। विसलर, क्रोबर आदि ने अमरीका के आदिवासी क्षेत्रों को स्वतन्त्र संस्कृति-क्षेत्रों में विभाजित करने के महत्त्वपूर्ण प्रयत्न किये हैं। अफ्रीका के लिए इसी तरह का प्रयत्न हर्स्कोविट्स ने किया है। उदाहरणस्वरूप अमरीका के कतिपय संस्कृति-क्षेत्रों की विशेषताओं का संक्षिप्त वर्णन किया जा सकता है। संपूर्ण अमरीका को नौ प्रमुख संस्कृति-क्षेत्रों में विभाजित किया जा सकता है। इनमें उत्तरी हिम प्रदेश के एस्किमो समूहों का अपना अलग संस्कृति-क्षेत्र है। इस क्षेत्र में बसने वाले प्रायः सभी समूह बाहरी दुनिया में एस्किमो नाम से ही जाने जाते हैं। इस क्षेत्र के सब समूहों में कतिपय सांस्कृतिक समानताएँ हैं, जिनके आधार

पर हम उक्त क्षेत्र को एक विशिष्ट संस्कृति-क्षेत्र मानते हैं। विश्लेषण के लिए निम्नलिखित सात प्रमुख समानताओं का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन किया गया है :

१. परिसर : आर्कटिक हिम प्रदेश, ग्रीष्म ऋतु में टुंड्रा के भीतरी भाग में स्थान-परिवर्तन ।

२. खाद्य-प्राप्ति के साधन : शीत ऋतु में समुद्र के स्तनपायी प्राणी तथा समुद्री मछलियाँ; ग्रीष्म ऋतु में 'केरीबाऊ' और ताजे पानी की मछलियाँ।

३. गृह-निर्माण : शीत ऋतु में बरफ के 'इग्लू' या खोदकर बनाये हुए मकान; ग्रीष्म ऋतु में चमड़े के तम्बू।

४. सामाजिक संगठन : गोत्र-संगठन का अभाव, स्वशासित छोटे-छोटे कबीले; प्रधान अधिक शक्ति-संपन्न नहीं; सुसंगठित शासन-व्यवस्था का अभाव।

५. धर्म : 'शामन' लोगों का प्रभाव; अनेक धार्मिक-सामाजिक बंधन; व्यक्तिगत रक्षक आत्माएँ; सार्वजनिक रूप से अपराधों की स्वीकृति; देवताओं के प्रतिनिधित्व के लिए चेहरों का उपयोग।

६. भौतिक संस्कृति : चमड़े की नौकाएँ, हार्पून, धनुष-बाण, कुत्ते द्वारा खींची जाने वाली स्लेज गाड़ियाँ, चमड़े के वस्त्र, बर्फ काटने के चाकू आदि का उपयोग।

७. कला : हाथीदाँत को काटकर या खोदकर बनाई हुई छोटी-छोटी मूर्तियाँ।

अमरीका के प्रमुख संस्कृति-क्षेत्रों की रूपरेखा निर्धारित करने के लिए होवेल ने इन्हीं सात वर्गों के तथ्यों की तुलनात्मक विवेचना की है। 'उत्तर-पश्चिमी तट' के संस्कृति-क्षेत्र में टिनजिट, हैदा, सिशियन, क्वाकीउट्ल, बेल्ला कूला, सालिए, नूटका, चिनुक आदि अनेक समूह रहते हैं। इन जातियों के परिसर की विशेषता है बुरी तरह कटा हुआ, खाइयों से भरा और फर के घने वनों से आच्छादित तट तथा नम और गर्म आबोहवा। इन समूहों के भोजन में सालमन मछली और अन्य समुद्री खाद्यों का प्राधान्य होता है। जंगली फल एकत्रित किये जाते हैं तथा यदा-कदा शिकार द्वारा भी खाद्य-प्राप्ति की जाती है। मछलियाँ धुएँ में सुखाकर रखी जाती हैं। गृह-निर्माण की शैली भी इन समूहों में प्रायः एक-सी है। वे सब लकड़ी के पहियों के चौकोर मकान बनाते हैं। सामाजिक संगठन की दृष्टि से इनमें से प्रत्येक समूह में व्यक्ति की सामाजिक स्थिति पर विशेष ध्यान दिया जाता है। अभिजात-वर्ग, जन-साधारण तथा दासों के वर्गों में, इन समूहों में असाधारण भेद दिखाई पड़ता है। परिवारों के लकड़ी की खुदाई किये हुए 'टोटम' चिह्न होते हैं, जिनमें परिवार की दंतकथाएँ अंकित होती हैं। गोत्र और गोत्र-समूह

दोनों इन समाजों में मिलते हैं। जीवन की एक स्थिति से दूसरी स्थिति में प्रवेश के लिए विशेष प्रयास किये जाते हैं। बदला लेने के लिए युद्ध की भावना इन समूहों में प्रबल रूप में देखी जाती है। समूह के प्रधान की स्थिति अत्यन्त उच्च होती है, किन्तु शासन-तन्त्र का संगठन प्रायः शक्तिहीन होता है। धर्म के क्षेत्र में परिवारों की अपनी रक्षक आत्माएँ होती हैं। धार्मिक उत्सवों में समूह की परंपरागत पौराणिक कथाएँ नाटक के माध्यम से उपस्थित की जाती हैं। तरह-तरह के चेहरों का इन समूहों में व्यापक रूप से प्रचलन है। इन समूहों में लकड़ी की खुदाई होती है और दैनिक उपयोग की अनेक सुन्दर वस्तुएँ बनाई जाती हैं। लकड़ी को खोदकर बड़ी-बड़ी नौकाएँ भी बनाई जाती हैं। बाँस के बर्तन बनाए जाते हैं, मिट्टी के नहीं। कला के क्षेत्र में विशिष्ट शैलियों के चित्र अंकित किये जाते हैं तथा कलात्मक खुदाई भी की जाती है। अमरीका तथा अफ्रीका के अन्य सांस्कृतिक क्षेत्रों का विभाजन इसी तरह सांस्कृतिक समताओं के आधार पर किया गया है।

संस्कृति-क्षेत्रों की धारणा सांस्कृतिक समताओं के आधार पर सांस्कृतिक तत्त्वों के भौगोलिक वितरण एवं विस्तार के अध्ययन के लिए उपयोगी है। इस प्रकार के अध्ययनों में संस्कृति के बाह्य स्वरूप एवं उपकरणों की तुलना ही अधिक की जा सकती है, उनके गठन और आन्तरिक संतुलन का अध्ययन नहीं। इसीलिए कार्यवादी नृतत्त्व-वेत्ताओं ने बाह्य समताओं के ऊपरी अध्ययन की अपेक्षा संस्कृतियों के गठन, उनके विभिन्न पक्षों के पारस्परिक संबंधों तथा पूर्ण संस्कृति के जीवन और कार्यों में उनके विभिन्न तत्त्वों के विशिष्ट कार्यों के अध्ययन को नृतत्त्व का उद्देश्य माना है। उनके मतानुसार संस्कृति केवल संस्कृति-तत्त्वों अथवा संस्कृति-तत्त्व-समूहों का संकलन-मात्र नहीं है। इस मत के एक महत्त्वपूर्ण समर्थक रेडक्लिफ-ब्राउन के मतानुसार "संस्कृति एक जीवित प्राणी-शारीरिक रचना के समान होती है। नृतत्त्व-वेत्ता का कार्य इस रचना के विकास अथवा प्रगति का अध्ययन नहीं है, वरन् उसके वर्तमान गठन तथा विभिन्न अंगों का अध्ययन है।" मैलिनोव्स्की के अनुसार "नृतत्त्व प्राथमिक समाजों के विशिष्ट परिवेश में उनकी विशिष्ट प्रथाओं तथा रूढ़ियों के 'कार्यों' का अध्ययन करता है। संस्कृति एक जटिल यंत्र के समान है, जिसके अंग एक-दूसरे पर आश्रित होते हैं और जो यदि एक साथ काम नहीं कर सकते तो पूरा यंत्र ही निरुपयोगी हो जाता है। ऐसा कोई भी अंग स्वयं अपने-आप में महत्त्वपूर्ण नहीं होता, व संपूर्ण यंत्र के परिचालन में सहायक होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकता।" संस्कृति-तत्त्वों की सूची हमें अधिक-से-अधिक उस संस्कृति

के अंगों का परिचय देगी, किन्तु यह जानने के लिए कि ये अंग क्यों और कैसे कार्य करते हैं और पूर्ण गठन में उनका क्या स्थान है, हमें संस्कृतियों के अध्ययन में अधिक गहराई तक जाना पड़ेगा। इस प्रकार के अध्ययन द्वारा हम संस्कृति के वास्तविक—जीवित एवं कार्यरत—रूप का परिचय कर सकेंगे और यह ठीक-ठीक समझ सकेंगे कि उसके माध्यम से मानव की बहुमुखी आवश्यकताओं की पूर्ति कैसे होती है।

'गेस्टाल्ट' मनोविज्ञान के सिद्धान्तों द्वारा प्रभावित होकर और मेलिनाव्स्की के संस्कृति-सिद्धान्त से उसका समन्वय कर रूथ बेनेडिक्ट ने 'संस्कृति-प्रकार' (कल्चर पैटर्न) का सिद्धान्त विकसित किया है। नृतत्व की यह विचार-धारा संस्कृति की उन मूलभूत प्रेरणाओं तथा आदर्शों का अध्ययन करती है, जो किसी संस्कृति के अंग-अंग को अनुप्राणित कर उसे एक विशेष दिशा तथा स्वरूप दे देते हैं। रूथ बेनेडिक्ट ने कहा है, "विभिन्न क्षेत्रों में आधुनिक विज्ञान का यह मत है कि भिन्न-भिन्न अंगों के योग को ही पूर्ण इकाई नहीं माना जा सकता। पूर्ण इकाई तो भिन्न-भिन्न अंगों की अभूतपूर्व योजना तथा उनके पारस्परिक संबंधों से बनती है, जिसके कारण एक सर्वथा नवीन अस्तित्व विकसित होता है।" अनेक संस्कृतियों में एक या अधिक प्रेरक सिद्धांत होते हैं। इनमें एक प्रधान होता है, और दूसरे उससे संबद्ध तथा गौण। ये प्रेरक सिद्धांत संस्कृति के कतिपय मूलभूत दृष्टिकोण, मूल्य अथवा आदर्श, संस्कृति के विभिन्न तत्वों की योजना निर्धारित कर उसका अंतिम रूप निश्चित करते हैं। प्यूब्लो इंडियन लोगों की संस्कृति में सुव्यवस्था तथा अनुशासन पर जोर दिया जाता है। भावना के प्रभाव से औचित्य की सीमा का अतिक्रमण तथा व्यक्तिगत दिखावे आदि को अनुचित माना जाता है। व्यक्ति की नई सूझ-बूझ और नये आविष्कारों को दबाकर सहयोग के सिद्धान्त का समर्थन किया जाता है। इस तरह इस समाज में व्यक्ति के जीवन का आदर्श होता है परंपरा-स्वीकृत प्रणाली में अपनी स्थिति के कार्यों को संतुलन से तथा औचित्य की सीमाओं के भीतर ही पूरा करना। इसके विपरीत यदि हम डोबू की संस्कृति की ओर दृष्टिपात करें तो वहाँ दूसरे ही प्रकार की जीवन-प्रणाली दिखाई देगी। वहाँ के लोग सशंक, धोखेबाज, अपने-आपको और अपनी धारणाओं को दूसरों से श्रेष्ठ मानने वाले तथा अपनी भावनाओं और आशंकाओं को गुप्त रखने वाले होते हैं। उनकी जीवन-दृष्टि में प्रकृति का भय, पड़ोसियों के प्रति सहज शंका तथा व्यक्तिगत संघर्ष की भावना इस तरह समा गई है कि उनका जीवन कल्पनाओं का ढेर बन गया है। प्यूब्लो इंडियन लोगों के शान्त, संयत जीवन-प्रकार के विपरीत डोबुअन लोगों का जीवन आँधी और तूफानों से भरा, अशान्त जीवन होता

है। उक्त दोनों संस्कृति-प्रकारों से अलग क्वाकीउट्ल संस्कृति सर्वथा भिन्न दिशा में विकसित हुई है। यहाँ व्यक्ति अपनी महत्ता के स्वप्न देखता है और अपना बड़प्पन दिखाने के लिए हर प्रकार के प्रदर्शन करता है। समाज की दृष्टि में अपना मूल्य बढ़ाने की स्पर्धा व्यक्तियों अथवा परिवारों में अनवरत रूप से चलती रहती है। दिखावे की परिपाटी इन समूहों के जीवन के प्रत्येक पक्ष को प्रभावित करती है। संस्कृतियों का वर्गीकरण करने तथा उनकी आत्मा को समझाने के लिए 'संस्कृति-प्रकार' प्रणाली के अध्ययन अत्यंत उपयोगी हो सकते हैं, किन्तु यह आवश्यक है कि किसी विशिष्ट सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में संस्कृति के तथ्यों को एक निश्चित योजना में संगठित करने का प्रयास हमें तथ्यों की तोड़-मरोड़ के लिए विवश न करे। चीनी नृतत्त्ववेत्ता ली-एन-चे द्वारा संग्रहीत सामग्री से हमें ज्ञात होता है कि ज़ुनी प्यूब्लो संस्कृति का जो चित्र हमें बेनेडिक्ट से मिला है उसमें कुछ ऐसे सांस्कृतिक तथ्यों का समावेश ही नहीं किया गया जो उनकी सैद्धान्तिक योजना में ठीक नहीं बैठते। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ अन्य तथ्यों में थोड़ी तोड़-मरोड़ कर उन्हें आदर्श चित्र के अनुरूप बनाने का यत्न भी किया गया है। संसार की बहुत थोड़ी संस्कृतियाँ ऐसी होंगी जिनमें एक विशिष्ट सिद्धान्त संस्कृति के प्रत्येक पक्ष को अनुप्राणित एवं पूर्ण रूप से संचालित करता हो। संस्कृति प्रकार के अध्ययन से जहाँ हमें संस्कृतियों के मूल्यों एवं आदर्शों को समझने में सहायता मिलती है वहाँ हमें उनके गठन के संबंध में भ्रम भी हो सकता है। संस्कृति-की सैद्धान्तिक आत्मा द्वारा परिचालित उसके शरीर के ये कार्यक्रम चित्र जितने सरल तथा आकर्षित प्रतीत होते हैं, वास्तविकता में संस्कृतियाँ उससे कहीं अधिक जटिल होती हैं और उनके जीवन की विभिन्न गतिविधियों एवं प्रवृत्तियों को किसी एक सिद्धान्त अथवा आदर्श-मात्र के द्वारा नहीं समझा जा सकता।

ओपलर ने बेनेडिक्ट के विचारों का परिमार्जन कर संस्कृति की प्रेरक मान्यताओं (थीम) संबंधी दृष्टिकोण उपस्थित किया है। संसार की बहुत थोड़ी संस्कृतियाँ ऐसी हैं जिनका प्रत्येक पक्ष एक विशिष्ट सिद्धांत द्वारा ही गठित होता है, किन्तु सभी संस्कृतियों में ऐसी प्रेरक मान्यताएँ पाई जा सकती हैं जो उसके विभिन्न पक्षों की योजना को संयोजित करती हैं। प्रेरक मान्यता हम संस्कृति की उन धारणाओं को कह सकते हैं जो व्यवहार-नियंत्रण के साथ कतिपय प्रकार के व्यवहारों को प्रेरित भी करती हैं। वे समाज में घोषित हो सकती हैं, या मौन रूप से स्वीकृत भी। इन मान्यताओं द्वारा कतिपय प्रकार के व्यवहारों को निश्चित रूप से प्रेरणा मिलती है, और इस प्रकार के व्यवहारों की पुनरावृत्ति सामाजिक जीवन के निकट-अध्ययन द्वारा देखी जा सकती है। उनके अध्ययन

से हम यह भली-भाँति समझ सकते हैं कि सैद्धांतिक धरातल पर संस्कृति अपने किन विशिष्ट पक्षों के कौनसे व्यवहार-प्रकारों को महत्त्व देती है। चिरिकाहुआ इंडियन-समूह के अपने अध्ययन में ऑपलर ने इस तरह की अनेक प्रेरक मान्यताओं का विश्लेषण किया है। उनमें से एक का उल्लेख यहाँ पर्याप्त होगा। उनकी एक मान्यता है: शारीरिक, मानसिक और नैतिक दृष्टियों से पुरुष स्त्री की अपेक्षा अधिक अच्छा होता है। यह मान्यता उनकी संस्कृति के हर पक्ष में लक्षित होती है, और उनके व्यवहारों को एक विशिष्ट दिशा देती है। भ्रूण में यदि चंचलता अधिक होती है तो उसे बालक माना जाता है। राजनीतिक पद पुरुषों को ही मिलते हैं। सामाजिक कार्यों और धार्मिक क्रियाओं में पुरुष का स्थान स्त्री से बहुत ऊँचा रहता है।

ऑपलर ने इस दिशा में हमारे चिन्तन को निश्चित रूप से आगे बढ़ाया है, यद्यपि उनका सिद्धान्त भी पूर्णतः दोषहीन नहीं है। अनुसंधान-विधि की दृष्टि से यह स्पष्ट नहीं है कि हम इन प्रेरक-मान्यताओं तक किस तरह पहुँच सकते हैं। परस्पर-विरोधी मान्यताओं की उपस्थिति भी उनके द्वारा ठीक तरह नहीं समझाई गई है।

संस्कृति की जटिल रचना को भली भाँति समझने के लिए बहुमुखी अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। संस्कृति-तत्त्व और संस्कृति-तत्त्व-समूह हमें उसके बाह्य रूप का परिचय देते हैं। 'संस्कृति क्षेत्र' के अध्ययन से हमें उसके विस्तार और व्यापकता का बोध होता है। 'संस्कृति प्रकार' के विश्लेषण द्वारा हम उसके मूल्यों, आदर्शों तथा जीवन-दृष्टि की गहराई में पहुँचते हैं। यदि इस प्रकार का प्रेरक सिद्धांत किसी संस्कृति में नहीं मिलता तो उसकी प्रेरक मान्यताओं द्वारा उसके सैद्धांतिक गठन का अध्ययन किया जा सकता है। वैसे यदि किसी संस्कृति में एक या अधिक प्रेरक सिद्धांत हों तो भी उनमें प्रेरक मान्यताएँ पाई जाती हैं, जिनका अध्ययन उपयोगी होता है। कार्यवाही-विश्लेषण द्वारा हम संस्कृति के वास्तविक गठन से परिचित होते हैं एवं उसके विभिन्न तत्त्वों की उपयोगिता तथा संगठन का ठीक-ठीक मूल्यांकन कर सकने में समर्थ होते हैं।

तीन

संस्कृतिकरण : व्यक्तित्व का विकास

'संस्कृतिकरण' उस प्रक्रिया को कहते हैं जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी संस्कृति के तत्त्वों को अपनाता है। मूलतः यह एक मानसिक प्रक्रिया है, यद्यपि इसके माध्यम द्वारा आत्मीकृत तत्त्वों की अभिव्यक्ति आंतरिक भी हो सकती है और बाह्य भी। समाज-शास्त्र समाज के संदर्भ में जिस प्रक्रिया को समाजीकरण कहता है, संस्कृति के संदर्भ में नृतत्व उसे ही संस्कृतिकरण कहता है। दोनों एक ही प्रकार की मानसिक-शैक्षणिक प्रक्रियाएँ हैं।

प्रत्येक संस्कृति और समाज में जीवन के विभिन्न पक्षों को नियमित करने वाले कतिपय सामान्यक होते हैं। समाज के अधिकांश व्यक्ति अपने विचारों, व्यवहारों और कार्यों की प्रणाली को इन्हीं सामान्यकों के अनुकूल रखने का प्रयत्न करते हैं। ये सामान्यक अलिखित होते हैं, किन्तु उनमें से अधिकांश के संबंध में सामाजिक ज्ञान स्पष्ट होता है। कतिपय सामान्यक 'अनिवार्य' होते हैं। ये नियम समाज के प्रत्येक व्यक्ति को स्वीकार करने पड़ते हैं। 'वैकल्पिक सामान्यक', जिनमें दो या अधिक व्यवहार-विधियों से व्यक्ति किसी एक को चुन सकता है, तीन प्रकार के होते हैं। 'सामान्य वैकल्पिक सामान्यक' उन्हें कहते हैं जिनमें एक से अधिक समाज-स्वीकृत व्यवहार-प्रकारों में साधारणतः व्यक्ति किसी एक को सामान्यतः अपनाते हैं। 'पुरस्कृत वैकल्पिक सामान्यक' उन व्यवहार-विधियों को कहेंगे जो एक से अधिक समाज-स्वीकृत व्यवहार-विधियों में दूसरों की अपेक्षा समाज को अधिक मान्य होते हैं। तीसरी श्रेणी में 'समान वैकल्पिक सामान्यक' आते हैं। इनमें एक से अधिक समाज-स्वीकृत व्यवहार-प्रकार होते हैं जो समान रूप से समाज को मान्य होते हैं। अनिवार्य और वैकल्पिक के अतिरिक्त सामान्यकों की एक तीसरी श्रेणी और होती है,

जिसे 'सीमित सामान्यक' कहते हैं। ये सामान्यक समाज के विशिष्ट सीमित अंशों के व्यवहार-प्रकारों को व्यवस्थित करते हैं। संस्कृतिकरण की प्रक्रिया द्वारा व्यक्ति अपने शारीरिक-मानसिक विकास की क्रमिक स्थितियों में अपनी स्थिति और कार्यों के अनुकूल सामान्यकों को आत्मीकृत करता है। इस तरह उसे विचार, व्यवहार और कार्यों के सामाजिक औचित्य का एक मानदण्ड मिल जाता है, और वह संस्कृति की स्वीकृत धाराओं में अपना स्थान पा जाता है। इस तरह व्यक्ति एक ओर मानव और समाज तथा दूसरी ओर मानव और अदृश्य जगत् के पारस्परिक संबंधों में अपना स्थान निर्धारित करता है अथवा अपना निर्धारित स्थान ग्रहण करता है। साथ ही मानव और प्रकृति के संबंधों के अंतर्गत आने वाले आवश्यक विचार, व्यवहार और कार्य-प्रकारों में अपने अनुकूल सामान्यकों की उपलब्धि भी उसे होती है।

संस्कृतिकरण की प्रक्रिया का धरातल मानसिक-सामाजिक होता है। उसे सांस्कृतिक तत्त्वों की उपलब्धि समाज की शैक्षणिक संस्थाओं और प्रक्रियाओं द्वारा होती है। अनेक सामान्यकों को वह सांस्कृतिक वातावरण से आत्मसात् करता है। परिवार, संबंधी, पड़ोसी, मित्र-समूह, स्थानीय समुदाय, विशिष्ट प्रकार की समितियाँ आदि सामाजिक इकाइयाँ प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से उसके इस प्रशिक्षण में भाग लेती हैं। संस्कृतिकरण की प्रक्रिया में प्रत्यक्ष प्रशिक्षण की अपेक्षा परोक्ष प्रशिक्षण का स्थान कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। व्यक्ति अनु-करण के माध्यम से भी अनेक सामान्यकों को अपनाता है। वैसे प्रत्यक्ष प्रशिक्षण देने वाली संस्थाएँ भी इस क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य करती हैं।

संस्कृतिकरण-समाजीकरण और समाज-नियंत्रण की प्रक्रियाओं में बड़ा निकट संबंध है। व्यक्ति के विचार और व्यवहार-प्रकार जब सामान्यकों द्वारा निर्धारित मानदण्डों का उल्लंघन करते हैं, तब समाज-नियंत्रण की प्रक्रियाएँ उसकी उच्छृङ्खलता का अवरोध कर उसे पुनः सामान्यकों की ओर जाने को बाध्य करती हैं। सामाजिक नियंत्रण चाहे प्रत्यक्ष हो या परोक्ष, चाहे वह परामर्श का मार्ग अपनाए या दण्ड का, उसका उद्देश्य एक ही होता है—व्यक्ति द्वारा सामान्यकों की स्वीकृति। इस तरह संस्कृतिकरण की प्रशैक्षणिक प्रक्रिया में समाज-नियंत्रण की प्रक्रियाओं का योग अत्यंत महत्त्वपूर्ण होता है।

प्रत्येक मानव कतिपय पक्षों में अन्य सभी मानवों के समान होता है, कतिपय पक्षों में कुछ और मानवों के समान, और कुछ पक्ष ऐसे भी होते हैं जिनमें वह अद्वितीय होता है। मानव-जीवन की कतिपय आवश्यकताएँ एवं प्रक्रियाएँ ऐसी होती हैं जो देश, समाज, संस्कृति की सीमाओं में न बंधकर,

संसार के किसी भी मानव में पाई जाती हैं। मानव की प्रकृति की पाँच देनें, जिनके कारण वह संस्कृति का निर्माण कर सका, और जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है, इसी श्रेणी में आती हैं। जन्म-मरण, भूख-प्यास तथा यौन-चेतना और उनकी तुष्टि के उपाय आदि अनुभव भी इसी कोटि के हैं। इन क्षेत्रों में हमें मानव-मात्र में समानता दीख पड़ेगी। साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि मनुष्य समूह में रहता है। इन समूहों की जीवन की विशिष्ट शैलियाँ होती हैं। समूह में रहने वाले व्यक्ति सामूहिक तत्त्वों को अपनाने के कारण अपने जीवन के अनेक पक्षों में एक-दूसरे के समान दीख पड़ते हैं। वेश-भूषा, भाषा, खानपान आदि में सामूहिक संस्कृति स्पष्ट रूप से लक्षित होती है। किन्तु इन सबके अतिरिक्त व्यक्ति में ऐसा बहुत-कुछ होता है जो केवल उसका अपना होता है। व्यक्ति के निर्माण में अनुभवों का बड़ा हाथ रहता है, और संसार में ऐसे दो व्यक्ति भी पा सकना असंभव है जिनके अनुभव सर्वथा समान हों। व्यक्ति का 'व्यक्तित्व' बनने में इन तीनों—अखिल मानवीय, सामूहिक और वैयक्तिक—प्रकार के कारकों का योग रहता है। तीनों के समन्वित प्रभावों से व्यक्तित्व का निर्माण होता है। 'व्यक्तित्व' हम व्यक्ति की आदतों, विचारों, दृष्टिकोण और विशेषताओं की उस समग्रता को कहते हैं जो वह अपने समुदाय के विभिन्न समूहों में अपनी स्थिति और कार्यों से प्राप्त करता है।

व्यक्तित्व का एक महत्त्वपूर्ण भाग व्यक्ति को प्रकृति से मिलता है। प्रजनन के माध्यम से उसे शरीर का आकार-प्रकार, रंग-रूप तथा कतिपय विशिष्ट क्षमताएँ आदि उपलब्ध होते हैं। इन शारीरिक विशेषताओं और मानसिक क्षमताओं का उसके व्यक्तित्व के विकास पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।

सांस्कृतिक प्रभाव भी व्यक्तित्व के निर्माण की दिशा निर्देशित करते हैं। मनोविश्लेषण के आधुनिक सिद्धान्तों से प्रभावित व्यक्तित्व और संस्कृति के अध्येताओं का मत है कि मानव-शिशु को जीवन के प्रथम वर्षों में जो संस्कृति-जनित व्यवहार मिलता है वह बड़े सशक्त ढंग से उसकी मनोवृत्तियों और मूलभूत दृष्टिकोण का निर्माण करता है। शिशु की शारीरिक आवश्यकताएँ, जैसे खाद्य और पेयों की उपलब्धि अथवा मल-मूत्र-त्याग की सुविधाएँ, और मानसिक आवश्यकताएँ, जैसे स्नेह, ध्यान, मनोरंजन, प्रशंसा आदि, संस्कृति-स्वीकृत ढंगों से पूरी की जाती हैं। अलग-अलग संस्कृतियों में इन आवश्यकताओं की पूर्ति के ढंग अलग होते हैं; और इस कारण भिन्न-भिन्न संस्कृतियों में भिन्न प्रकार के व्यक्तित्वों का निर्माण होता है। साथ ही यह भी स्मरण रखना

आवश्यक है कि एक ही संस्कृति के अंतर्गत इन ढंगों में पर्याप्त एकरूपता होती है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि उनके प्रभाव से जिस प्रकार के व्यक्तित्व का निर्माण होता है उसकी मनोवृत्ति और मूलभूत दृष्टिकोण में समानता हो। संस्कृति का प्रभाव शिशु-पालन की शैलियों तक ही सीमित नहीं है। प्रत्येक संस्कृति की अपनी प्रशैक्षणिक संस्थाएँ और प्रक्रियाएँ होती हैं, जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष ढंग से व्यक्ति को संस्कृति के सामान्यकों को आत्मीकृत करने में सहायक होती हैं। इन संस्थाओं और प्रक्रियाओं द्वारा प्रभावित होकर जो व्यक्तित्व विकसित होते हैं उनमें कतिपय पक्षों में एकरूपता होना सहज ही संभव है। इस प्रकार के सामाजिक-सांस्कृतिक कारक, जो समूह के प्रत्येक व्यक्ति को समान रूप से प्रभावित करते हैं, व्यक्तित्व के विकास के 'सामूहिक कारक' माने जा सकते हैं। परन्तु एक ही संस्कृति में भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यक्तित्व भी देखे जाते हैं। इस व्यक्तित्व-वैभिन्न्य के लिए भी कतिपय सांस्कृतिक कारण उत्तरदायी होते हैं। भिन्न सामाजिक स्थितियों एवं कार्यों के संदर्भ में सांस्कृतिक सामान्यक भी भिन्न होते हैं। इसके फलस्वरूप किसी एक स्थिति अथवा कार्य में संस्कृति-जनित प्रभावों से एक ही प्रकार के व्यक्तित्व का विकास होता है, और उस स्तर के व्यक्तित्वों में महत्वपूर्ण समानताएँ पाई जाती हैं। संस्कृति में अनेक स्थितियों और कार्यों के अस्तित्व के कारण, उसी संस्कृति के अंतर्गत उनके आधार पर विभिन्न प्रकार के व्यक्तित्वों का विकास हो सकता है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि प्रत्येक व्यक्तित्व अद्वितीय होता है। सांस्कृतिक कारक जहाँ व्यक्तित्व को एकरूपता देने का यत्न करते हैं, प्राकृतिक और अनुभवजन्य कारक उसे अन्य व्यक्तित्वों से भिन्न बना देते हैं। प्रकृति द्वारा दिया हुआ बाह्य रूप और मूलभूत क्षमताएँ व्यक्तियों में एक-सी नहीं होतीं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति की अनुभूति और उसके अनुभव भी मौलिक होते हैं। अपने चारों ओर के संसार और उसकी घटनाओं को मानव कतिपय सूक्ष्म मानसिक प्रक्रियाओं से ग्रहण करता है।

मानसिक पृष्ठभूमि की भिन्नता के कारण एक ही घटना को अलग-अलग व्यक्ति अलग-अलग रूपों में ग्रहण करते हैं। ग्रहणशीलता में भिन्नता होने के कारण सम-अनुभवों की मानसिक प्रतिक्रिया हर व्यक्तित्व में अलग प्रकार की होती है। इस कारण प्रत्येक व्यक्ति की मनोवृत्ति और दृष्टिकोण का विकास नई दिशा लेता है।

मूलतः भिन्न होते हुए भी यदि एक संस्कृति के अन्तर्गत विकसित हुए व्यक्तित्वों में समानता दीख पड़ती है तो उसका श्रेय हमें संस्कृतिकरण की प्रक्रिया

को देना चाहिए।

संस्कृतिकरण के संदर्भ में दो अन्य संबंधित प्रक्रियाओं का उल्लेख भी आवश्यक है। यह संभव है कि ऐसे व्यक्ति, जिनका संस्कृतिकरण हो चुका है, किन्हीं कारणों से आत्मीकृत सांस्कृतिक तत्त्वों को एक-एक कर छोड़ते जायें। इस प्रक्रिया को हम अनसंस्कृतिकरण कहेंगे। ऐसा अधिकांशतः असामान्य स्थितियों में ही होता है। एक संस्कृति के सामान्यकों को आत्मीकृत करने के बाद यदि व्यक्ति को अपनी संस्कृति से भिन्न किसी अन्य संस्कृति में नये सिरे से उसके तत्त्वों को आत्मीकृत करना पड़े तो यह प्रक्रिया पुनर्संस्कृतिकरण कही जायगी। एक देश को छोड़कर भिन्न संस्कृति के दूसरे देश में स्थायी रूप से जा बसने वाले व्यक्तियों को कम-से-कम आंशिक रूप से अपना पुनर्संस्कृतिकरण करना पड़ता है

चार

संस्कृति-परिवर्तन

संस्कृति जड़ नहीं होती, गतिशीलता उसकी एक उल्लेखनीय विशेषता है। मानव-जीवन की आवश्यकताओं और समय-समय पर प्राकृतिक एवं सामाजिक परिसर में होने वाले परिवर्तनों में सामंजस्य बनाए रखना उसका एक मुख्य उद्देश्य है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि संस्कृति के गठन और उसके मूल्यों में समय-समय पर परिवर्तन हों। गतिशीलता का अभाव संस्कृतियों को विघटन की दिशा में उन्मुख कर उनके क्रमिक ह्रास और मृत्यु का कारण होता है। अधिकांश संस्कृतियाँ समयानुकूल परिवर्तनों द्वारा अपनी उपयोगिता बनाए रखने के लिए सतत प्रयत्नशील रहती हैं।

नृतत्व के अध्येताओं ने संस्कृति के सैद्धान्तिक पक्षों पर विचार करके संस्कृति-संवर्धन और संस्कृति-परिवर्तन के संबंध में अनेक सिद्धान्त संस्थापित किये हैं। इस संबंध में पहले 'सांस्कृतिक विकास' और 'सांस्कृतिक प्रसार' के सिद्धान्तों पर विचार करना आवश्यक है।

विकासवाद

'सांस्कृतिक विकास' के सिद्धान्तों पर स्पष्टतः डारविनवाद का प्रभाव पड़ा था, यद्यपि यह कहना उचित न होगा कि उक्त सिद्धांत सांस्कृतिक डारविन-वाद ही है। नृतत्व के विकास की आरंभिक स्थिति में यह माना जाता था कि मानव की प्रत्येक संस्कृति क्रमिक विकास के कतिपय अनिवार्य स्तरों से गुजरती है। साथ ही यह भी माना जाता था कि विकास के ये स्तर संसार के प्रत्येक भाग में एक-से थे। इस आधार पर इस दल के विचारकों की यह धारणा थी कि संस्कृतियाँ जिस क्रम में इन स्तरों से होकर प्रगति करती हैं, उस क्रम में भी सारे

संसार में एकरूपता है। इस एकमार्गी विकास का प्रमुख कारण मानवीय मानसिक प्रवृत्तियों और क्षमताओं की एकरूपता को माना जाता था। दूसरे शब्दों में, मानवीय मस्तिष्क का स्वाभाविक तर्क और उसकी शक्ति की आवश्यक सीमाएँ विकास की इन सर्वदेशीय अनिवार्य स्थितियों की सृष्टि करती थीं।

मॉर्गन ने एकमार्गी विकास के सिद्धांत को स्पष्ट रूप से विकसित किया है। उनके अनुसार, "मानव-जाति का इतिहास अपने उद्गम में एक है, अनुभव में एक है, और प्रगति में एक है।" मानव-जाति के सांस्कृतिक इतिहास को उन्होंने दो मुख्य भागों में विभाजित किया है: सभ्यता-पूर्व भाग और सभ्यता के बाद का भाग। सभ्यता-पूर्व भाग का विभाजन 'सैवेजरी' के निम्न, मध्य और उच्च स्तरों, और बर्बरता के निम्न, मध्य और उच्च स्तरों में किया गया है। सभ्यता इस तरह बर्बरता के बाद की विकास की स्थिति है। निम्न 'सैवेजरी' के युग में मानव में मानवीयता के लक्षण प्रकट ही हुए थे। अपनी क्षमताओं के उपयोग से उसने क्रमशः अपना प्राविधिक और सामाजिक विकास किया। विवाह और परिवार की संस्थाओं को एकमार्गी विकासवादी क्रमशः नियमहीन यौन-संबंध, समूह-विवाह, बहु-पतित्व, बहु-पत्नीत्व और एक-पति-पत्नीत्व की स्थितियों से विकसित मानते हैं। इसी तरह धर्म और कला के विकास को भी विभिन्न स्थितियों द्वारा समझाने के कतिपय यत्न किये गए हैं, परन्तु उनके संबंध में विचारकों में पर्याप्त मतैक्य नहीं है। इस विचार-धारा के समर्थकों के अनुसार मानव के सब समूह अपने सांस्कृतिक विकास की मात्रा में एक-सी गति न रख पाने के कारण आज के संसार में भी प्रगति की इन विभिन्न मंज़िलों का प्रतिनिधित्व करते हैं। सांस्कृतिक विकास के ये विभिन्न स्तर आज भी देखे जा सकते हैं।

आज के नृतत्त्व को यह सिद्धांत मान्य नहीं है, क्योंकि इसका ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक आधार भ्रांतिपूर्ण सिद्ध हो चुका है। इस मत के समर्थकों द्वारा वर्णित विकास-स्तरों की सार्वदेशिकता संदिग्ध है। ऐसे भी अनेक उदाहरण मिले हैं जिनसे ज्ञात होता है कि संस्कृतियों ने निम्न स्तरों से आरंभ कर, मध्य स्तरों को छोड़, एकाएक उच्च स्तरों की सांस्कृतिक विशेषताएँ प्राप्त कर लीं। वैसे इस सिद्धांत का प्रयोग व्यापक रूप से संस्कृति पर करने की अपेक्षा, संस्कृति के विशिष्ट अंगों, जैसे प्राविधिक विकास, विवाह-परिवार के विकास, अथवा धर्म या कला के विकास, पर ही किया गया है, और इसलिए इसे व्यापक सांस्कृतिक विकास के सिद्धांत के रूप में प्रतिष्ठित करना उचित प्रतीत नहीं होता। अपने सरल एवं आकर्षक रूप तथा मार्क्सवादी साहित्य में व्यवहृत होने के कारण इस मत को लोकप्रियता अवश्य मिली है, परन्तु आज के नृतत्त्व में उसका महत्त्व

केवल ऐतिहासिक रह गया है। संस्कृति के संबोध को विकसित करने और संस्कृति के विज्ञान को निर्मित करने के प्रथम प्रयत्नों का श्रेय अवश्य उसे प्राप्त है, जो उसके ऐतिहासिक महत्त्व को बढ़ाता है।

सांस्कृतिक विकास के कतिपय नये अध्ययनों में एकमार्गी विकास-सिद्धांत के दोषों को दूर करने का यत्न किया गया है। इस क्षेत्र में जूलियन स्टीवर्ड का कार्य उल्लेखनीय है। उन्हें 'बहुमार्गी विकास' के सिद्धांत का एक प्रमुख प्रवर्तक माना जा सकता है। वे यह नहीं मानते कि संस्कृति के विकास-क्रम की स्थितियाँ सारे संसार में एक-सी रही हैं। उनके मतानुसार संस्कृति के विकास का अनुक्रम विभिन्न क्षेत्रों के लिए निश्चित किया जा सकता है; एक ही मार्ग द्वारा उनके विकसित होने की धारणा का समर्थन ज्ञात तथ्यों द्वारा नहीं होता। अपने अध्ययनों में उनका उद्देश्य विभिन्न क्षेत्रों में सांस्कृतिक विकास की नियमितताओं का अध्ययन-मात्र है। उन्हें यह प्रमाणित करने में पर्याप्त सफलता मिली है कि कतिपय सुनिश्चित किन्तु विभिन्न मार्गों से संस्कृतियों ने विकसित होकर एक-सी स्थितियाँ प्राप्त की हैं। वे यह सम्भव नहीं मानते कि हिम-प्रदेश, मरुस्थल, मैदानों और वनों की संस्कृतियाँ विकास का एक ही मार्ग अपना सकती हैं। पुरातत्त्वीय दृष्टि से भली भाँति परिचित कतिपय क्षेत्रों के समानान्तर सांस्कृतिक विकास का तुलनात्मक अध्ययन स्टीवर्ड ने किया है। पेरू, मेसो-अमरीका, मेसोपोटेमिया, मिस्र और चीन की उच्च संस्कृतियों के विकास-अनुक्रम का अध्ययन कर उन्होंने यह दिखाया है कि ये संस्कृतियाँ कृषि-पूर्वयुगीन सांस्कृतिक स्थिति से आरम्भ होकर क्रमशः प्राथमिक कृषि, संस्कृति-निर्माण एवं स्थायित्व-काल, क्षेत्रीय विकास और चक्रीय विजयों के अनुक्रम से विकसित हुई हैं। इस तरह हम देखते हैं कि तुलना-योग्य क्षेत्रों के सांस्कृतिक विकास के अनुक्रम का अध्ययन कर स्टीवर्ड ने विकासवादी अध्ययनों की परंपरा को न केवल आगे बढ़ाया है वरन् उसे एक नया मोड़ भी दिया है।

लेस्ली ह्वाइट ने सांस्कृतिक विकास का अध्ययन एक नई दृष्टि से किया है। वे 'नव-विकासवाद' और 'संस्कृतिवाद' के प्रवर्तक माने जाते हैं। वे संस्कृति को एक अतीन्द्रिय यथार्थ मानते हैं। मनुष्य का सांस्कृतिक विकास उसकी ऊर्जा (एनर्जी) पर अवलंबित है। अपने उपयोग के लिए जिस गति से मानव ऊर्जा पर नियंत्रण करता है, उसी गति से उसका सांस्कृतिक विकास होता है। आदि-संस्कृतियों के विकास की प्राथमिक स्थितियों में मनुष्य का ऊर्जा पर अधिकार अत्यंत सीमित रहता है। इसका प्रभाव उनकी संस्कृतियों की सरल रचना में स्पष्टतः देखा जा सकता है। पशु और यंत्र-शक्ति पर नियंत्रण मानव को अधिक

ऊर्जा पर अधिकार देता है। इसके परिणामस्वरूप सांस्कृतिक विकास के परिमाण और गति में उल्लेखनीय वृद्धि होती है। ऊर्जा पर ज्यों-ज्यों मनुष्य का अधिकार बढ़ता है, उसकी संस्कृति परिवर्तित और परिवर्धित होती रहती है। ह्वाइट ने ऊर्जा-वृद्धि और सांस्कृतिक विकास के इस अंतरावलंबन को परिमाणात्मक ढंग से भी सिद्ध करने का यत्न किया है।

प्रसारवाद

संस्कृति-परिवर्तन और संस्कृति-परिवर्धन के सिद्धांतों को विकसित करने में प्रसारवाद का योग अत्यंत महत्त्वपूर्ण रहा है। इस सिद्धांत के समर्थकों का मत है कि मानव की आविष्कार-शक्ति अत्यंत सीमित होती है, किन्तु उसकी ग्रहण-शक्ति प्रायः अपरिमित होती है। दूसरे शब्दों में, एक ही प्रकार के आविष्कार की एक से अधिक स्थानों में होने की संभावनाएँ जहाँ अत्यंत न्यून होती हैं, वहाँ आविष्कृत तत्त्व आश्चर्यजनक गति से अनेक संस्कृतियों में प्रसारित हो जाते हैं।

आविष्कृत संस्कृति-तत्त्वों के प्रसार से संस्कृतियों में परिवर्तन होते हैं, इस मत से किसी का विरोध होना असंभव है, किन्तु प्रसारवाद के कतिपय प्रवर्तकों का सैद्धान्तिक आग्रह इतना एकांगी और अवैज्ञानिक था कि नृतत्व में उनके मतों का प्रबल विरोध हुआ। इस संदर्भ में इलियट स्मिथ का उल्लेख आवश्यक है। प्रसारवादियों में इस लेखक की मान्यताओं का बड़ा प्रचार हुआ, और काफ़ी समय तक वे बहुत लोकप्रिय रहीं। इलियट स्मिथ का मत था कि संसार में मिस्र ही एक ऐसा देश है जहाँ संस्कृति के उद्भव की आदर्श परिस्थितियाँ उपस्थित थीं। इसी क्षेत्र में संस्कृति के सभी प्रमुख तत्त्वों का जन्म हुआ, और यहीं से वे शेष संसार में फैले। उनका विश्वास था कि कृषि, धर्म, नृत्य, नाटक, मिट्टी के बर्तन बनाने की कला, सिंचाई आदि शेष संसार को मिस्र की देन हैं। अपने सिद्धांत के समर्थन में उन्होंने कई ऐसे तर्क भी उपस्थित किये जो आज बड़े हास्यास्पद प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ, उन्होंने आस्ट्रेलिया के टोटमवाद को प्राचीन मिस्र की कतिपय प्रथाओं का परिवर्तित रूप माना, अथवा पिरामिड बनाने की कला के संबंध में यह कहा कि वह मिस्र से कंबोडिया होते हुए अमरीकी इंडियन समूहों में पहुँची।

सभी प्रसारवादी अपने सिद्धांत के संबंध में इतना अनियंत्रित उत्साह नहीं रखते थे। भौगोलिक-ऐतिहासिक दृष्टि से संस्कृति-तत्त्वों के प्रसार के अनेक संयत अध्ययन भी किये गए हैं। इनमें दो का उल्लेख किया जा सकता

है। वियना के नृतत्व-वेत्ताओं ने इसी आधार पर गहन अध्ययन कर संसार के प्रमुख 'संस्कृति-वृत्तों' संबंधी मान्यताएं स्थापित की हैं। संस्कृति-तत्त्वों और उनके संकुलों की विशिष्ट योजना से, जो भौगोलिक एवं ऐतिहासिक प्रसार से प्रभावित रहते हैं, इन संस्कृति-वृत्तों का निर्माण होता है। भिन्न धरातल पर इसी प्रकार का प्रयत्न अमरीकी प्रसारवादियों ने भी संस्कृति-क्षेत्रों के सिद्धांत को विकसित करने में किया है।

पर-संस्कृति-ग्रहण

बिना किसी संदेह के यह माना जा सकता है कि आविष्कार और प्रसार द्वारा संस्कृतियों का स्वरूप परिवर्तित होता है। एक संस्कृति में आविष्कृत तत्त्व ऐसी कई संस्कृतियों में भी प्रसारित हो सकते हैं जिनसे उसका कोई प्रत्यक्ष सम्पर्क न हो। परन्तु प्रत्यक्ष संपर्क सांस्कृतिक आदान-प्रदान की संभावनाओं को बहुत बढ़ा देता है। दो संस्कृतियों के संपर्क की स्थिति में यदि एक संस्कृति दूसरी संस्कृति के तत्त्वों को अपनी इच्छा से या किसी दवाव से ग्रहण करे तो इस प्रक्रिया को हम पर-संस्कृति-ग्रहण कहेंगे। यदि ये संस्कृतियाँ एक-दूसरे से संस्कृति-तत्त्वों का आदान-प्रदान करें तो यह प्रक्रिया पारस्परिक संस्कृति-ग्रहण कही जायगी। विशुद्ध पर-संस्कृति-ग्रहण के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं, यद्यपि अनेक स्थितियाँ ऐसी अवश्य होती हैं जिनमें एक संस्कृति लेती अधिक है और देती कम है।

अन्य संस्कृतियों के तत्त्व कई कारणों से ग्रहण किये जाते हैं। कभी-कभी शासन या अधिकारियों की ओर से उन्हें स्वीकार करने का दवाव होता है। ऐसी स्थिति में नये तत्त्वों को और उनके द्वारा परिवर्तन को स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है। जब उन्हें स्वीकार अथवा अस्वीकार करना व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर रहता है, तब उनकी स्वीकृति अथवा अस्वीकृति-संबंधी निर्णयों को अनेक कारक प्रभावित करते हैं। कुछ नवीन तत्त्व केवल उनकी नवीनता के लिए स्वीकार किये जाते हैं, कुछ सुविधा के लिए, और कुछ लाभ के लिए। ऐसे तत्त्व, जिनसे लाभ की आशा हो, जो सुविधापूर्वक अपनाए या सीखे जा सकें, और जो व्यक्तिगत तथा सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति में संस्कृति में उपलब्ध पुराने तत्त्वों की अपेक्षा अधिक उपयोगी हों, शीघ्र ही अपना लिये जाते हैं। प्रतिष्ठा-वृद्धि के लिए भी नवीन सांस्कृतिक तत्त्व ग्रहण किये जाते हैं।

संस्कृति के संवर्धन और विकास के लिए नवीन तत्त्वों का ग्रहण करना आवश्यक होता है, किन्तु अनेक स्थितियों में अनियंत्रित पर-संस्कृति-ग्रहण

विघातक भी सिद्ध हो सकता है। तात्कालिक लाभ अथवा प्रतिष्ठा के लिए अपनाये गए अन्य संस्कृतियों के तत्त्व, यदि संस्कृति के गठन और मूल्यों से सामंजस्य स्थापित नहीं कर सकते तो उनका प्रभाव हानिकारक होता है। शक्ति-पूर्वक स्वीकार कराये गए परिवर्तन अनेक विनाशकारी प्रभावों को जन्म देकर संस्कृतियों की जीवन-शक्ति का ह्रास कर सकते हैं।

बाह्य तत्त्वों का स्वीकरण अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित करता है। प्रायः प्रत्येक संस्कृति के संघटन में कुछ केन्द्रीय तत्त्व और मूल्य होते हैं। बाह्य तत्त्वों का मूल्यांकन इन्हीं के आधार पर किया जाता है, और स्वीकरण की स्थिति में इन दोनों प्रकार के तत्त्वों—परंपरागत केन्द्रीय तत्त्वों और नवीन तत्त्वों—में सामंजस्य स्थापित होना आवश्यक है। नवीन का मूल्यांकन अधिकांशतः संस्कृति के परंपरागत मानदंड के आधार पर होता है। स्वीकरण की स्थिति में बाह्य संस्कृति के तत्त्व, अपने नये परिवेश में नये अर्थों में ग्रहण किये जाते हैं। कभी-कभी उन्हें स्वीकार करने वाली संस्कृति उन्हें अपने अनुभवों की परिधि में आये समानांतर तत्त्वों के स्थान पर प्रतिस्थापित करती है। नये तत्त्वों में प्राचीन मूल्य और अर्थ देखने की प्रवृत्ति अनेक संस्कृतियों में पाई जाती है। इसके विपरीत कभी-कभी प्राचीन तत्त्वों में नये मूल्यों और अर्थों को भी देखा जाता है। सामान्यतः प्रत्येक संस्कृति के कुछ पक्ष कोमल होते हैं, अन्य कठोर। कोमल पक्षों में परिवर्तन सरलतापूर्वक हो सकते हैं; संस्कृति के कठोर पक्ष परिवर्तनों को उतनी सरलता से ग्रहण नहीं करते। संस्कृति के एक पक्ष में आया परिवर्तन उसके अन्य पक्षों में सह-परिवर्तनों को जन्म देता है। परिवर्तन और तज्जनित सह-परिवर्तन जब पूरी तरह संस्कृति में समन्वित हो जाते हैं, तब यह कहा जा सकता है कि किसी तत्त्व का पूर्ण स्वीकरण हो गया।

उत्प्रेषण : संस्कृति-परिवर्तन का आधार

मनोवैज्ञानिक-समाज-शास्त्रीय धरातल पर संस्कृति-परिवर्तन का एक नया विश्लेषण बार्नेट ने प्रस्तुत किया है। वे उत्प्रेषण (इनोवेशन) को संस्कृति-परिवर्तन का आधार मानते हैं। उनके अनुसार उत्प्रेषण से मानसिक धरातल के ऐसे प्रत्येक विचार-संगठन का बोध होता है जो गुणात्मक दृष्टि से नवीन माना जा सके। कार्य और प्रविधि, उनके अनुसार, मूलतः विचार ही हैं, यद्यपि इस कोटि के विचार व्यावहारिक अभिव्यक्ति पाते हैं। उत्प्रेषण मानव की 'इच्छाओं' द्वारा जनित होते हैं। इच्छा शब्द का प्रयोग यहाँ एक विशिष्ट शास्त्रीय अर्थ में किया गया है। इन इच्छाओं की दो मुख्य धाराएँ हैं। पहले

प्रकार की इच्छाएँ उस स्थिति में जन्म लेती हैं जब व्यक्ति समाज के रूढ़ व्यवहार-प्रकारों को स्वीकार करते हुए भी, उनमें अपना उचित स्थान न पाने अथवा अपना कार्य समुचित रूप से न कर सकने के कारण असंतुष्ट होता है। दूसरे प्रकार की इच्छाएँ उस परिस्थिति में उत्पन्न होती हैं जब वह समाज के रूढ़ व्यवहार-प्रकारों को स्वीकार करने में अपने-आपको असमर्थ पाता है। दोनों ही स्थितियों में वह 'रूढ़' के स्थान पर 'नवीन' की इच्छा करता है। इन इच्छाओं से अनुप्रेरित विचार-संगठन या उनके संकुल को उत्प्रेषण की संज्ञा दी जा सकती है।

उत्प्रेषण संस्कृति-परिवर्तन के कारण होते हैं, किन्तु स्वयं वे भी सांस्कृतिक परिस्थितियों और कारकों से अप्रभावित नहीं रहते। संस्कृति के अंतर्गत विभिन्न प्रकार के तत्त्वों की उपस्थिति उसमें हो सकने वाले उत्प्रेषणों को सीमित कर सकती है और प्रेरित भी। अणुबम-जैसा आविष्कार सीमित ज्ञान वाले आदि-वासी समूहों में संभव नहीं है, क्योंकि उनकी संस्कृति में वे आधारभूत तत्त्व ही नहीं पाए जाते जिन पर इस कोटि का उत्प्रेषण विकसित हो सके। जिन संस्कृतियों में विचारों का एकत्रीकरण और प्रयत्नों में सहयोग उपलब्ध होते हैं, उनमें उच्च धरातल के उत्प्रेषणों की संभावना अधिक रहती है। विचार-वैभिन्न्य, प्रतियोगिता, विचार और आविष्कार-स्वातंत्र्य तथा आधारभूत आवश्यक तत्त्वों का अभाव आदि कारक भी उत्प्रेषणों की संभावना, गति और दिशा निर्धारित करने में सहायक होते हैं। यदि समाज में विचार-परिवहन के पर्याप्त साधन हों, और उसके मूल्य नवीन विचारों को उत्तेजना देते हों, तो स्वाभाविक रूप से उत्प्रेषणों का परिमाण ऐसे समाजों में बढ़ जाता है।

उत्प्रेषणों के लिए एक सीमा तक असंतोष की उपस्थिति आवश्यक है; किन्तु ऐसे व्यक्ति, जो हर अन्य व्यक्ति और हर स्थिति से असंतुष्ट रहते हैं, अच्छे उत्प्रेषक नहीं बन सकते। उत्प्रेषणों को स्वीकार करने वाले व्यक्तियों में रूढ़ के कतिपय पक्षों के प्रति असंतोष की एक निश्चित भावना रहती है। उनमें कुछ ऐसे होते हैं जो समाज के कतिपय रूढ़ व्यवहार-प्रकारों को स्वीकार नहीं कर पाते। दूसरी श्रेणी ऐसे व्यक्तियों की होती है जो रूढ़ के प्रति विशेष लगाव नहीं रखते, और इसलिए जिनमें नवीन के विरुद्ध रूढ़ के लिए विशेष आग्रह नहीं रहता। तीसरी श्रेणी में ऐसे व्यक्ति रखे जा सकते हैं जो पहले रूढ़ के किसी अंग से लगाव रख चुकने पर अपने अनुभवों के कारण उससे विमुख हो चुके हैं। चौथी और अंतिम श्रेणी में वे रखे जायँगे जो रूढ़ की परिधि में जीवन की उच्च उप-लब्धियों की सम्भावना न पाकर उसके प्रति विद्रोह की भावना विकसित कर

लेते हैं।

यह मानसिक असन्तोष की स्थिति उत्प्रेषणों को स्वीकार करा लेने में सहायक होती है, किन्तु केवल इसी कारक की उपस्थिति पर्याप्त नहीं होती। 'रूढ़' और 'नवीन' के समर्थकों का व्यक्तित्व, नवीन के सामाजिक अर्थ और महत्त्व की व्याख्या, और उनकी उपयुक्तता-सम्बन्धी धारणाएँ भी उत्प्रेषण की स्वीकृति के निर्णय को प्रभावित करते हैं। अनुपयुक्त समर्थक कई स्थितियों में लाभदायक उत्प्रेषणों के प्रसार में सहायक के स्थान पर बाधक हो सकते हैं। यदि उत्प्रेषण के समर्थक का व्यक्तित्व प्रभावशाली है, उसे सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त है, और वह समाज के अधिकांश भाग से मानवीय धरातल पर अच्छे सम्बन्ध रखता है, तो वह उत्प्रेषण को समाज में स्वीकृत कराने में बड़ा सहायक हो सकता है। उचित समर्थन के अतिरिक्त सामाजिक स्वीकृति पाने के लिए यह भी आवश्यक है कि उस उत्प्रेषण की आवश्यकता और महत्त्व को समझा जाय। यदि वह लाभ, सुविधा, आनन्द, उपयोगिता आदि की दृष्टि से ग्रहण-योग्य होगा, तो वह न केवल सरलतापूर्वक स्वीकार ही कर लिया जायगा वरन् उसे शीघ्र ही संस्कृति में स्थायित्व भी मिलेगा।

उत्प्रेषण, आविष्कार और उनका प्रसार संस्कृति-परिवर्तन के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारक हैं। परिवर्तन प्रत्येक संस्कृति की अनिवार्य आवश्यकता है, किन्तु उचित गति-नियंत्रण अथवा दिशा-निर्देश न मिलने की स्थिति में वह एक जटिल मानवीय समस्या का रूप भी ग्रहण कर सकता है।

७

आदिवासी भारत

एक

आदिवासी भारत

सम-सामयिक भारतीय समाज अनेक प्रजातीय तत्त्वों के मिश्रण से बना है। इस उप-महाद्वीप की जनसंख्या को वेश-भूषा, भाषा, सामाजिक-सांस्कृतिक विकास के स्तर, धार्मिक विश्वास तथा जीवन-मूल्य आदि की दृष्टि से अनेक सांस्कृतिक स्तरों में विभाजित किया जा सकता है। ऐतिहासिक प्रभावों और आर्थिक-सामाजिक शक्तियों ने देश की अधिकांश जन-संख्या को एक-दूसरे के समीप लाकर उनके जीवन के कतिपय पक्षों में बाह्य और सीमित अंशों में आन्तरिक एकरूपता प्रदान की है। भारत की जन-संख्या का एक अल्प भाग इन शक्तियों से अपेक्षाकृत अप्रभावित रहा है। इस भाग के अन्तर्गत अधिकांशतः भारत के प्राचीनतम निवासियों के वंशजों के छोटे-बड़े समूह आते हैं जो आज भी संस्कृति के प्राथमिक धरातल पर जीवन-यापन करते हैं। इन समूहों को 'आदिवासी' अथवा 'आदि-जाति' की संज्ञा दी जाती है।

सन् १९५१ की भारतीय जनगणना के अनुसार देश की जनसंख्या का ५·३६ प्रतिशत भाग संस्कृति के इस धरातल का प्रतिनिधित्व करता है। देश में आदिवासियों की संख्या १९,१११,४९८ है जो २१२ अनुसूचित आदिवासी समूहों में विभाजित है। आदिवासियों की संस्कृतियों के विभिन्न पक्षों में अन्तर होते हुए भी उनकी संस्कृतियों की निम्न विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं :

१. आदिवासी क्षेत्रीय समूहों में रहते हैं, और उनकी संस्कृतियाँ अनेक दृष्टियों से 'क्षेत्रीय संस्कृतियाँ' मानी जा सकती हैं।

२. उनका सांस्कृतिक विश्व अपेक्षाकृत सीमित होता है, और उनकी संस्कृति अधिकांशतः परंपरा द्वारा स्वीकृत एवं पुरस्कृत मूल्यों पर आधारित रहती है।

३. उनमें ऐतिहासिक जिज्ञासा का अभाव होता है, और ऊपर की कुछ पीढ़ियों का यथार्थ इतिहास जातीय पुरावृत्त में मिल जाता है।

४. वर्ग एवं स्तर-भेद की अपेक्षाकृत न्यूनता तथा अनुभव-क्षमता के सीमित विश्व के कारण विभिन्न व्यक्तियों के सांस्कृतिक ज्ञान तथा अनुभवों में बहुत अधिक अन्तर इन संस्कृतियों में नहीं मिलते।

५. पर-संस्कृतियों से संबंध रखते हुए भी इस धरातल की अधिकांश संस्कृतियों में अपनी विशिष्ट परंपरागत रूढ़ियों, विश्वासों और जीवन-शैलियों पर चलने का विशेष आग्रह रहता है।

इन समताओं के होते हुए भी आदिवासी संस्कृतियों में अनेक महत्त्वपूर्ण भेद पाए जाते हैं।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि सम-सामयिक आदिवासियों के भिन्न-भिन्न समूहों में तीन प्रजातियों में से किसी एक के तत्त्वों का बाहुल्य पाया जाता है। नृतत्व-वैज्ञानिकों का मत है कि आदिवासियों के अधिकांश समूह नीग्रिटो, प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड अथवा मंगोलॉयड प्रजातियों के वंशज हैं, यद्यपि नीग्रिटो प्रजाति के वंशजों के संबंध में कुछ मतभेद हैं।

भाषा की दृष्टि से भी विभिन्न आदिवासी समूहों में बड़ा अंतर दीख पड़ता है। उनमें प्रचलित अनेक बोलियाँ अथवा लोक-भाषाएं मुख्यतः तीन भाषा-परिवारों में से किसी एक की सदस्य हैं। गोंड, कोंध, उरांव आदि समूह द्रविड़ भाषा-परिवार की भाषाएं बोलते हैं। संथाल, मुंडा, हो, खाड़िया, भूमिज, कोरकू, गदबा, सवरा आदि आस्ट्रिक परिवार की भाषाएँ बोलते हैं। उत्तर-पूर्व क्षेत्र के आदिवासी समूह तिब्बती-बर्मी परिवार की भाषाएँ बोलते हैं। संस्कृति-संपर्क के कारण आदिवासियों की भाषाओं के स्वरूप में परिवर्तन हुए हैं। कई समूहों ने नई भाषाएँ भी अपनाई हैं, परन्तु अनेक समूहों ने थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ अपनी विशिष्ट बोलियों को जीवित रखा है।

भौगोलिक दृष्टि से आदिवासी भारत के मानचित्र को चार प्रमुख भागों में विभाजित किया जा सकता है :

१. उत्तर और उत्तर-पूर्व क्षेत्र।

२. मध्य क्षेत्र।

३. पश्चिम क्षेत्र।

४. दक्षिण क्षेत्र।

उत्तर और उत्तर-पूर्व क्षेत्र के मुख्य आदिवासी समूह हैं : भोटिया, थारू, लेपचा, नागा, गारो, खासी, डाफ़ला, कुकी, अबोर, मिकिर, गुरुंग आदि।

उपर्युक्त समूहों में प्रथम दो उत्तर प्रदेश के हिमालय से लगे क्षेत्र में वास करते हैं। लेपचा सिक्किम और समवर्ती भारतीय क्षेत्रों के निवासी हैं। शेष समूह आसाम, उत्तर-पूर्वी सीमांत क्षेत्र तथा कमेंग नागा पर्वत-क्षेत्र में पाए जाते हैं। इनमें से कतिपय समूह ऐसे हैं जिनका पर-संस्कृति-संपर्क अत्यन्त सीमित है, और जो जातीय गर्व से अपनी विशिष्ट जीवन-प्रणाली को अपनाये हुए हैं।

आदिवासी जन-संख्या की दृष्टि से मध्य क्षेत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बिहार के संथाल, मुंडा, उरांव और बिरहोर, उत्कल के बोंडो, खोंड, सवरा तथा जुआंग, मध्य प्रदेश के गोंड, बैगा, कोल, कोरकू, कमार, भुंजिया आदि, राजस्थान के भील तथा दक्षिण पठार के चेंचू, कोलाम, कोया, राजगोंड समूह आदि इस विस्तृत आदिवासी क्षेत्र के निवासी हैं।

पश्चिम क्षेत्र में सह्याद्रि के आदिवासी समूह, जैसे वार्ली, कटकरी, महादेव कोली तथा भीलों के कतिपय समूह आते हैं। दक्षिण क्षेत्र में अनेक अल्पसंख्यक आदिवासी समूह वास करते हैं। इनमें टोडा, बडागा, कोटा, इरुला, काडर, कुरुंबा इत्यादि उल्लेखनीय हैं।

आर्थिक संगठन, सामाजिक गठन एवं विशिष्ट सांस्कृतिक प्रथाओं तथा धार्मिक संगठन के आधार पर आदिवासी समूहों का वर्गीकरण करने के यत्न नृतत्व-वेत्ताओं ने किये हैं। इस भाग के शेष अध्यायों में आदिवासी भारत के जीवन के इन पक्षों की रूपरेखा प्रस्तुत की जायगी।

आदिवासी भारत की सांस्कृतिक स्थिति तथा समस्याओं को समझने के लिए यहाँ यह कह देना अत्यन्त आवश्यक है कि इस श्रेणी के सब समूह पुरातन अवस्था का परंपरागत जीवन व्यतीत कर रहे हैं। पर-संस्कृति-संपर्क के कारण उनकी जीवन-शैलियों में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन भी हुए हैं। इन प्रभावों को ध्यान में रखकर भारत के आदिवासी समूहों का वर्गीकरण पाँच मुख्य भागों में किया जा सकता है :

१. पर-संस्कृति-संपर्क से अछूते अथवा अत्यंत न्यून मात्रा में प्रभावित आदिवासी समूह।

२. पर-संस्कृति-संपर्कों द्वारा प्रभावित एवं अन्य संस्कृतियों से सुनिश्चित संबंध रखने वाले, किन्तु सामुदायिक संगठन एवं सांस्कृतिक वैशिष्ट्य बनाए रखने वाले आदिवासी समूह।

३. जाति की भाँति अपना विशिष्ट सामुदायिक संगठन बनाए रखकर, अन्य जातियों और धार्मिक समूहों के साथ मिल-जुलकर रहने वाले आदिवासी समूह।

४. ऐसे समूह जो मूलतः आदिवासी होते हुए पर-संस्कृति-संपर्क के प्रतिकूल प्रभावों के कारण हिन्दू समाज में अस्पृश्य जातियों के समकक्ष हीन सामाजिक स्थिति ग्रहण करने को बाध्य हुए हैं।

५. ऐसे आदिवासी समूह जो अपनी उच्च आर्थिक स्थिति तथा राजनीतिक प्रभावों के कारण सम-सामयिक भारतीय समाज में ऊँचा स्थान पा सके हैं।

उपर्युक्त वर्गीकरण आदिवासी भारत में होने वाली सांस्कृतिक प्रक्रियाओं को स्पष्ट करने के अतिरिक्त आदिवासियों की आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक स्थिति का वास्तविक मूल्याङ्कन करने तथा उनकी समस्याओं का समुचित समाधान खोजने में भी सहायक हो सकता है।

दो

आर्थिक संगठन

आधुनिक भारत के आदिवासी समाज में आर्थिक दृष्टि से आदि-संस्कृति के तीन मुख्य स्तर पाए जाते हैं :

१. खाद्य-संकलन का स्तर ।

२. अस्थिर प्राथमिक कृषि का स्तर ।

३. स्थिर प्राथमिक कृषि का स्तर ।

इनके अतिरिक्त तीन अन्य वर्ग और हैं, जो संख्या की दृष्टि से महत्त्व-पूर्ण न होते हुए भी उल्लेखनीय हैं :

१. पशु-पालन करने वाली आदि-जातियाँ ।

२. विशेष शिल्प अथवा उद्योग से जीवन-यापन करने वाली आदि-जातियाँ ।

३. जीविका के लिए 'अपराध' पर आश्रित रहने वाली आदि-जातियाँ ।

प्रारंभ में ही यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि उपर्युक्त वर्गों में कोई भी वर्ग स्वयं पूर्ण नहीं है । खाद्य-संकलन-स्तर के अंतर्गत आने वाले समूहों में उनकी जीविका का अधिकांश संकलन द्वारा प्राप्त होता है, किन्तु अल्प परिमाण में उनमें अस्थिर कृषि, पशु-पालन अथवा शिल्प-उद्योग भी पाए जा सकते हैं । इसी तरह अस्थिर कृषि-स्तर की आदि-जातियों में भी अल्प परिमाण में खाद्य-संकलन किया जाता है, तथा उनमें पशु-पालन, गृह-शिल्प आदि का विकास हो जाता है ।

भारतीय आदिवासी समाज का पुरातनतम तत्त्व आधुनिक काल की कतिपय ऐसी छोटी-छोटी आदि-जातियों में अवशिष्ट है, जो खाद्य-संकलन तथा शिकार आदि से अपना जीवन-यापन करती हैं । इस प्रकार के आर्थिक संगठन वाली आदि-जातियों की संख्या अधिक नहीं है । बिहार के बिरहोर और खड़िया,

आसाम के कूकी, कोन्यक आदि, बस्तर के पार्वतीय माड़िया गोंड, उत्कल के कतिपय जुआँग-समूह, हैदराबाद के चेंचू, दक्षिण-भारत के काडर तथा त्रावणकोर के माला-पांतारम आदि की गणना ही उपर्युक्त वर्ग के अंतर्गत की जा सकती है। इस स्तर के प्रत्येक समूह की जन-संख्या अत्यन्त सीमित है तथा कुछ आदि-जातियाँ तो ऐसी हैं जिनकी पूर्ण संख्या कुछ हजार से अधिक नहीं है। सामान्य रूप से उनके संबंध में यह कहा जा सकता है कि उनका जीवन और संगठन अत्यन्त सरल है। उनके ग्राम छोटे होते हैं, और अधिकांश ग्रामों में तो दस-पन्द्रह परिवारों से अधिक का पाया जाना प्रायः असंभव होता है। उनके सामाजिक संगठन तथा संस्कारों एवं धार्मिक उत्सवों में भी हमें यही सरलता दीख पड़ती है। इनमें से अधिकांश समूह पाषाण-युग की संस्कृति से अधिक विकसित नहीं हो सके हैं। अतः यह स्वाभाविक ही है कि उनकी भौतिक संस्कृति भी समान अनुपात में अल्प-विकसित है। उनके घर छोटे-छोटे होते हैं, और जीवन की सीमित आवश्यकताओं के अनुकूल उनकी पूर्ति के साधन भी सीमित होते हैं। इस स्तर के आदिवासियों के आर्थिक संगठन की इकाई 'परिवार' तो होता ही है, किन्तु उसके अनेक पक्षों में 'ग्राम' अथवा 'ग्राम-समूह' भी संगठित इकाई के रूप में कार्य करते हैं। ऋतुओं के अनुसार उनका खाद्य एवं खाद्य-संकलन का क्रम भी बदलता रहता है। उनकी जीविका के प्रमुख साधन निम्न होते हैं :

१. खाद्य-संकलन।
२. शिकार।
३. मछली मारना।

प्रकृति ने आदि-मानव की उसकी खाद्य-आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपने वनों में अनेक प्रकार के कन्द, मूल, फल, पौधे, शाक आदि की सृष्टि की है। प्रत्येक ऋतु में संकलन के स्तर पर जीवन-यापन करने वाली आदि-जातियों को वन के विभिन्न भागों से विभिन्न प्रकार का भोजन प्राप्त होता रहता है। महुआ को तो हम भारतीय आदिवासियों का कल्पवृक्ष मान सकते हैं, क्योंकि अनेक आदिवासी समूहों की अर्थ-व्यवस्था तथा उनके दैनिक भोजन में उसका स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। जंगली आम, बड़, पीपल, तेंदू, चार आदि-फलों से भी उन्हें आंशिक रूप से दैनिक खाद्य-सामग्री की प्राप्ति होती है। वनों में अनेक प्रकार के कन्द, मूल आदि भी उपलब्ध हैं, जिनमें से अनेक स्वादिष्ट और मीठे, कुछ स्वादहीन तथा कुछ कड़वे और अरुचिकर होते हैं। विषैले कन्दों को छोड़कर बाकी प्रत्येक प्रकार के कन्दों का उपयोग ये आदिवासी अपने भोजन में करते हैं। मीठे स्वादिष्ट कन्दों का तो वे सदा ही स्वागत करते हैं, किन्तु स्वादहीन

कन्दों को भी वे मधु, मीठे फल, महुआ आदि से मिलाकर स्वादिष्ट तथा रुचिकर बनाने का प्रयत्न करते हैं। प्रयत्नपूर्वक कड़वाहट दूर कर, कड़वे कन्दों का भी वे खाद्य के रूप में उपयोग कर लेते हैं। अनेक वृक्षों की कोपलों, पत्तों तथा छाल का भी उपयोग भोजन के लिए किया जाता है। दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तो इस सामग्री का संकलन किया ही जाता है। निकट भविष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उनका संचय भी किया जाता है। आवश्यकताओं से अधिक सामग्री का उपयोग ये जातियाँ विक्रय तथा परिवर्तन के लिए करती हैं तथा उनके माध्यम से जीवन की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। मधु तथा अन्य रुचिकर फलों एवं औषधि के रूप में उपयोगी कन्दों का संकलन विशेष रूप से विक्रय के लिए ही किया जाता है। खाद्य-संकलन के लिए उन्हें एक प्राथमिक प्रकार की कुदाल (डिगिंग स्टिक), जिसका फल पत्थर अथवा लोहे का हो, तथा बाँस के टोकरे, इन्हीं दो वस्तुओं की आवश्यकता होती है। शहद इत्यादि एकत्रित करने के लिए भी उन्हें इनके अतिरिक्त अन्य वस्तुओं की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसीलिए चेंचू अथवा बिरहोर परिवार की झोंपड़ी में हमें दैनिक उपयोग की वस्तुओं की संख्या अधिक नहीं दिखलाई पड़ती। मिट्टी की हंडियाँ, बाँस के टोकने, कुदाल और धनुप-बाण, यह उनकी सारी सम्पत्ति होती है। किन्तु उनके भोजन का एक महत्त्वपूर्ण भाग दो अन्य साधनों से भी प्राप्त होता है। वे साधन हैं: शिकार और मछली पकड़ना। भोजन के अनेक पोषक तत्त्व उन्हें इन साधनों से प्राप्त होते हैं। शिकार वे अधिकांशतः धनुप-बाण से करते हैं, यद्यपि अनेक आदिजातियों को विशाल फन्दे बनाने का भी ज्ञान है, जिनके द्वारा जीवित अथवा मृत जानवर प्राप्त किये जा सकते हैं। शिकार या तो वे व्यक्तिगत रूप से करते हैं, या सामूहिक रूप से। संकलन-क्षेत्रों की भाँति, प्रत्येक ग्राम अथवा समूह के शिकार-क्षेत्र भी निश्चित रहते हैं। पक्षी, खरगोश, छोटे हरिण आदि का शिकार व्यक्तिगत रूप से किया जा सकता है, किन्तु बड़े जानवरों के शिकार के लिए किसी योग्य तथा अनुभवी व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के नेतृत्व में संगठित रूप से सामूहिक प्रयत्न करने की आवश्यकता होती है। अधिकांश खाद्य-संकलन के आर्थिक स्तर वाले आदिवासी समूहों की परंपरा के अनुसार सामूहिक प्रयत्नों में संग्रहीत खाद्य का विभाजन पूर्ण ग्राम में किया जाता है, और ऐसे व्यक्ति भी, जो स्वास्थ्य अथवा अन्य किन्हीं कारणों से सामूहिक शिकार में भाग नहीं ले सकते, ग्राम द्वारा प्राप्त किये गए शिकार में से हिस्सा पाते हैं। इन आदि-जातियों में, जहाँ प्रकृति ने इसके लिए सुविधा दी है, मछली मारकर भी खाद्य प्राप्त

किया जाता है। मछलियाँ जाल से भी पकड़ी जाती हैं, फंदों में भी। वन के विषैले फलों, छालों, जड़ों अथवा पत्तों से विशाल जल-क्षेत्र की मछलियों को नशे में कर, रात के समय प्रकाश से उन्हें आकर्षित कर धनुष-बाण से मारने का ढंग विशेष रूप से उल्लेखनीय है। व्यक्तिगत प्रयत्नों से मारी हुई मछलियों पर केवल व्यक्ति के परिवार का अधिकार होता है, किन्तु सामूहिक एवं संगठित प्रयत्नों से जो मछलियाँ मारी जाती हैं उनका विभाजन किया जाता है तथा संस्कृति की स्थानीय इकाई (ग्राम) के प्रत्येक सदस्य को उसमें हिस्सा मिलता है।

अस्थिर प्राथमिक कृषि के स्तर का विभाजन तीन भागों में किया जा सकता है:

१. कुदाल या डिगिंग-स्टिक से कृषि करने वाले समूह।

२. 'हो' अथवा मनुष्य-शक्ति द्वारा व्यवहृत प्राथमिक हल से कृषि करने वाले समूह।

३. 'हो' द्वारा कृषि करने वाले वे समूह, जिन्होंने सिंचाई की समुचित व्यवस्था का विकास भी कर लिया है।

इनमें से प्रथम या द्वितीय वर्ग खाद्य-संकलन के अधिक स्तर वाले समूह के अधिक समीप हैं। उनकी अर्थ-व्यवस्था में खाद्य-संकलन का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है, किन्तु वे पूर्ण रूप से उसके ऊपर ही अवलंबित नहीं रहते। संकलन के अतिरिक्त वे प्राचीन प्रस्तर-युग की पुरातन प्रणाली से कृषि भी करते हैं और उससे अपने खाद्य-प्राप्ति के साधनों में एक महत्वपूर्ण साधन की वृद्धि कर लेते हैं। इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था वाले समूहों में छत्तीसगढ़ के कमार, हैदराबाद दक्षिण के कोंडा रेड्डी, मध्य प्रदेश के मण्डला क्षेत्र की बैगा आदि-जाति आदि उल्लेखनीय हैं। भारत में इन समूहों की 'पोडू', 'बेवार' तथा 'डाही' आदि की कृषि-प्रणालियाँ नृतत्व के साहित्य में अनेक लेखकों द्वारा वर्णित की जा चुकी हैं। कमार, बैगा आदि भूमि का एक छोटा-सा खण्ड चुन लेते हैं। ग्रीष्म में वे छोटे-छोटे वृक्ष और बड़े वृक्षों की डालियाँ काटकर उस क्षेत्र में सूखने के लिए फैला देते हैं। वर्षा के कुछ सप्ताह पूर्व वे उन लकड़ियों को जलाते हैं। वर्षा ऋतु के आरंभ होते ही कुदालों से जमीन में जगह-जगह छोटे-छोटे गड्ढे बनाकर उनमें बीज बोए जाते हैं। जिन समूहों में 'हो' का प्रचलन है, उनमें 'हो' की सहायता से परिवार अपने खेत को जोतने का प्रयत्न करते हैं। 'पोडू' की कृषि-प्रणाली में पहाड़ के ढालों पर छोटे-छोटे खेत बनाए जाते हैं तथा उपर्युक्त ढंग से खेती की जाती है। हैदराबाद के कोंडा रेड्डी, उत्कल के कुटिया कोंध, बस्तर के माड़िया आदि इस ढंग से खेती करते हैं। यह कार्य श्रम-साध्य है।

परिवार के सदस्यों की संख्या सीमित होने के कारण जिस भूमि-खण्ड पर खेती की जाती है उसका क्षेत्रफल भी सीमित रहता है। राख में बोए हुए बीज, सामान्य खेतों में बोए हुए बीज की अपेक्षा उपज अवश्य ही अधिक देते हैं। इस कृषि-प्रणाली में थोड़ी-थोड़ी अवधि के पश्चात् खेतों का बदलना आवश्यक हो जाता है। अस्थिरता तथा इस प्रणाली द्वारा होने वाले वन-नाश का विरोध वन-विशेषज्ञों तथा शासकों द्वारा समय-समय पर किया गया है। किन्तु इस वर्ग के अधिकांश व्यक्ति ऐसे हैं जो परंपरा द्वारा स्वीकृत इस प्रणाली में परिवर्तन करने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं। मण्डला की बैगा आदि-जाति के पुरावृत्त में अस्थिर 'बेवार' प्रणाली को ही मान्यता प्राप्त है। वे हल और बैलों का प्रयोग कर, धरती माता के वक्ष पर अत्याचार करना अनुचित समझते हैं।

खाद्य-संकलन करने वाले समूह तथा उपर्युक्त प्रणाली द्वारा प्राथमिक कृषि करने वाले समूहों की संस्कृति में कोई विशेष अंतर देखने में नहीं आते। दोनों अर्थ-व्यवस्थाओं में पूजा और धर्म का एक निश्चित व्यावहारिक पक्ष दिखलाई पड़ता है। 'कमार' आदि-जाति की भिन्न-भिन्न पूजाओं में सृष्टि की अदृश्य शक्तियों से जो प्रार्थना की जाती है उसमें अधिकांश में यही कामना रहती है कि उन्हें वनों में शिकार, कन्द, मूल, फल इत्यादि यथेष्ट मात्रा में मिलते रहें, हिंस्र पशु उन्हें और उनके जानवरों को नुकसान न पहुँचाएँ, या उनके अस्थायी खेतों में पैदावार अच्छी हो।

भारतीय समाज की रूपरेखा को जिन आर्थिक, सामाजिक, राजकीय तथा सांस्कृतिक शक्तियों ने परिवर्तित एवं प्रभावित किया है, भारत के आदिवासी समाजों की संस्कृतियाँ भी उनसे प्रभावित हुई हैं। इन आदि-जातियों की पुरातन स्वयं-पूर्ण अर्थ-व्यवस्था आंशिक रूप से विशृङ्खलित हो चुकी है। शिकार तथा खाद्य-संकलन पर शासन-व्यवस्था द्वारा समय-समय पर लगाये गए अनेक प्रतिबन्ध, तथा विभिन्न राज्यों द्वारा अस्थिर कृषि पर लगाई गई रोक आदि ने उन्हें आजीविका के नये साधन खोजने के लिए बाध्य किया है। वे क्रमशः हल और बैल द्वारा की जाने वाली स्थिर कृषि की ओर प्रवृत्त हो रहे हैं। वन की सामग्री को बाहरी बाज़ारों के लिए एकत्रित करने, जंगल के ठेकेदारों के यहाँ मजदूरी करने और पशु-पालन आदि की ओर भी कतिपय आदिवासी समाज अग्रसर हुए हैं। बैगा, कमार, चेंचू आदि समूह बाँस के बर्तन प्राचीन काल से ही बनाते आए हैं। वे अब इस कला का उपयोग आर्थिक लाभ के लिए करने लगे हैं। अन्य शिल्प तथा उद्योगों का इन वर्गों में अभाव है। उत्कल के आदिवासी बोंदो बुनने का कार्य करते हैं। बढ़ईगिरी का काम प्रायः प्रत्येक समूह के लोगों

को आता है, और कलात्मक अभिरुचि रखने वाले व्यक्ति सुन्दर ढंग से लकड़ी की खुदाई भी करते हैं।

आर्थिक विकास के प्रत्येक स्तर पर इन समूहों की संस्कृति में भी हमें महत्त्वपूर्ण भेद दिखलाई पड़ते हैं। आर्थिक विकास के निम्नतम धरातल पर जीवन-यापन करने वाले खाद्य-संकलन-स्तर के समूहों की संस्कृति की वाह्य रूप-रेखा सरलतम होती है। न उनके संगठन में जटिलता होती है, न उनकी संस्थाओं और प्रथाओं में। कुदाल से खेती करने वाली आदि-जातियों की अपेक्षा 'हो' से खेती करने वाली आदि-जातियों में संगठन की जटिलता वढ़ जाती है, तथा उनके आमोद-प्रमोद, नृत्य और कलाएँ, धार्मिक विचार तथा उत्सव एक भिन्न धरातल के प्रतीत होते हैं। इन आदि-जातियों की तुलना में सिंचाई की व्यवस्था करने वाले आपा-टनी आदि आसाम के आदिवासी तथा स्थायी ढंग की कृषि करने वाले मध्य प्रदेश एवं दक्षिण के आदिवासियों की संस्कृतियाँ सर्वथा एक भिन्न धरातल की प्रतीत होती हैं। पहाड़ी 'टेरेसों' की सिंचाई के लिए पहाड़ों पर वहने वाले पानी का समुचित उपयोग कर आसाम की कतिपय आदि-जातियों ने प्राथमिक निर्माण-काल का एक अभूतपूर्व एवं सफल उदाहरण प्रस्तुत किया है। संतोषजनक खाद्य-स्थिति का प्रभाव उनकी संस्कृति के अन्य पक्षों पर भी पड़ा है। भोजन-संग्रह के कार्य के अतिरिक्त बचे हुए समय का भी उपयोग इन आदि-जातियों ने अपनी संस्कृतियों में विविधता, रोचकता तथा पूर्णता लाने के लिए किया है। भारतीय मध्य प्रदेश, पूर्वी भारत तथा दक्षिण भारत के स्थिर एवं स्थायी कृषि करने वाले गोंड, मुण्डा, उराँव आदि समूहों की संस्कृतियाँ भी अपेक्षाकृत अधिक विकसित हैं। इस वर्ग के अंतर्गत आने वाली आदि-जातियाँ वहुसंख्यक हैं। उनके आर्थिक जीवन एवं संगठन में सामूहिक अधिकार तथा सामूहिक कार्य का स्थान अत्यंत सीमित है। आर्थिक दृष्टि से उनका जीवन-क्रम ग्रामीण भारत के शेष अंश से अधिक भिन्न नहीं है, किन्तु उनकी ग्रामीण संस्कृति निःसंदेह वैशिष्ट्यपूर्ण है। हैदराबाद दक्षिण के खाद्य-संकलन करने वाले चेंचू, उनसे कुछ अधिक विकसित हैं। अस्थिर कृषि करने वाले कोंडा रेड्डी अथवा कोलाम तथा उक्त दोनों वर्गों से सर्वथा भिन्न राजगोंड, इन तीनों वर्गों की संस्कृति के भेद महत्त्वपूर्ण हैं। राजगोंडों की अपनी समस्याएँ हैं, किन्तु उनकी जीवन-यापन की शैली, लोक-विश्वास, प्रथाएँ तथा आमोद-प्रमोद, नृत्य आदि का धरातल ही भिन्न एवं उच्च स्तर का है। संतोषजनक आर्थिक स्थिति ने उन्हें अपनी संस्कृति में विविधता एवं जटिलता विकसित करने की सुविधा दी है। शीत काल में जव उन्हें कृषि-कार्य से अवकाश रहता है तो वे बड़ी धूमधाम से

उत्सव मनाते हैं, जो कई सप्ताह तक चलते हैं।

जीविका के लिए संपूर्ण रूप से पशु-पालन पर अवलंबित रहने वाली आदि-जातियां तो भारत में हैं, किन्तु ऐसे आदिवासी समाज बहुत कम हैं। दक्षिण के नीलगिरि पर्वत की टोडा आदि-जाति इस नियम का एक उल्लेखनीय अपवाद है। इस आदि-जाति की अर्थ-व्यवस्था पशु-पालन और विशेष रूप से भैंस पालने के कार्य पर केंद्रित है। उनके धार्मिक विश्वास तथा प्रथाओं में भी भैंस-सम्बन्धी पौराणिक परंपराओं एवं परिपाटी का स्थान महत्त्वपूर्ण है। विशेष शिल्प-व्यवसाय अथवा उद्योग पर आश्रित रहने वाले आदिवासी समूह भारत में अपेक्षाकृत अधिक संख्या में मिलते हैं। बिहार की विनाशोन्मुख 'असुर' आदि-जाति प्राचीन साहित्य में वर्णित लोहे का काम करने वाली इसी नाम के समूह की अवशिष्ट संतति है। यह आदि-जाति अभी भी अपने पुरातन कार्य द्वारा जीवन-यापन करने का प्रयत्न करती है। मध्य प्रदेश के आदिवासी क्षेत्रों में बिखरी 'अगरिया' आदि-जाति का भी यही परंपरागत व्यवसाय है, और वह 'असुर' समूह से सम्बन्धित प्रतीत होती है। बस्तर की कुरुख आदि-जाति मछली मारने का पेशा करती है। इसी भांति परधान आदि-जाति विशाल गोंड-संस्कृति का एक पूरक अंग है। वे गोंडों की पौराणिक गाथाओं के गायन तथा प्राथमिक वाद्य-यंत्रों के वादन से गोंड संस्कृति को पूर्णता देते हैं, और बदले में गोंडों का संरक्षण तथा आश्रय पाते हैं। इस तरह यह कहा जा सकता है कि वे जीविका के लिए अपने परंपरागत संगीत-व्यवसाय पर आश्रित हैं। जिप्सी-वर्ग की कंजर आदि अनेक भ्रमणशील आदि-जातियां भारत में हैं, जिनका व्यवसाय सूअर पालना, रस्सी बटना, बन्दर-रीछ के खेल दिखलाना तथा वेश्यावृत्ति आदि हैं। कतिपय आदि-जातियों को सामूहिक रूप से 'अपराध' को अपना व्यवसाय बनाना पड़ा है।

तीन
समाज-व्यवस्था

भारत में एवं संसार के अन्य आदिवासी क्षेत्रों में निवास करने वाले मानव-समाजों के सामाजिक संगठन की बाह्य रूपरेखा में सर्वत्र बड़ी समानता दिखाई पड़ती है। भारत का आदिवासी समाज अनेक आदि-जातियों में विभाजित है। इनमें से कतिपय समूह (उदाहरणार्थ गोंड, मुंडा, संथाल आदि) बहुसंख्यक हैं, तथा अनेक (जैसे असुर, बिरहोर, कमार, भुँजिया, टोडा, कादर आदि) की संख्या अत्यंत न्यून है। मानव-मात्र के प्रत्येक समूह की भाँति भारत की आदिम संस्कृतियों में भी 'परिवार' सामाजिक संगठन की मूलभूत इकाई है। परिवार जहाँ एक ओर 'संबंधी-वर्ग' जैसे विशाल परिवार का सदस्य होता है, वहाँ दूसरी ओर वह किसी विशिष्ट 'गोत्र' का भी सदस्य होता है। संबंधी वर्ग तथा गोत्र की सदस्यता के अतिरिक्त परिवार को संस्कृति की स्थानीय इकाई 'ग्राम' तथा उसके विस्तृत रूप 'ग्रामीण समुदाय' की सदस्यता भी अनिवार्यतः स्वीकार करना आवश्यक होता है। स्वयं गोत्र भी अनेक आदिवासी संस्कृतियों में 'गोत्र-समूह' के अंग होते हैं। जिन समाजों में द्वि-संगठन होता है उनमें ये 'गोत्र-समूह' समाज के दो मुख्य उपभागों में से किसी एक के अंग होते हैं। सामाजिक संगठन की इन मूल इकाइयों के अतिरिक्त प्रत्येक समाज में भिन्न स्तरों की कतिपय अन्य संस्थाएं भी विकसित होती हैं। वे हैं—सामाजिक स्तर तथा वर्ग-भेद, आयु तथा यौन-आधार पर संगठन, गुप्त समितियाँ तथा 'क्लब', और सामाजिक-राजनैतिक सत्ता का उपयोग करने वाली संस्थाएँ। भारत में इन संस्थाओं के स्वरूप तथा उनके पारस्परिक संबंधों में अपनी कुछ निजी विशेषताएँ हैं जो उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण हैं।

भारत के आदिवासी समाजों में हमें प्रायः प्रत्येक प्रकार के परिवार-संगठन

दृष्टिगत होते हैं। पैतृक, पितृ-स्थानीय एवं पितृ-वंशीय परिवारों का वाहुल्य निःसंदेह देखने में आता है, किन्तु मातृक, विशेषकर मातृ-स्थानीय तथा मातृ-वंशीय समूहों के भी अनेक उदाहरण भारत में सहज ही उपलब्ध हैं। विवाह-संस्था के स्वरूप के आधार पर परिवार-संस्था के जितने रूप संभव हैं वे भी प्रायः अधिक या कम परिमाण में भारत में देखे जा सकते हैं। बहु-पतित्व, बहु-पत्नीत्व, एक-पति-पत्नीत्व तथा समूह-पति-पत्नीत्व, चारों के आधार पर गठित परिवार हमें आदिवासी भारत में मिलते हैं। सामाजिक संगठन की अन्य इकाइयों का अध्ययन करने के पूर्व परिवार के विभिन्न स्वरूपों का विश्लेपण करना आवश्यक है।

भारत में आज भी अनेक मातृक समाज अवशिष्ट हैं। इनका गठन जिन सिद्धांतों पर आधारित है उनका उल्लेख 'परिवार और विवाह' शीर्षक अध्याय में किया जा चुका है। ये मातृक समाज तीन प्रमुख क्षेत्रों में पाए जाते हैं। वे क्षेत्र हैं—ब्रह्मपुत्र के दक्षिणी तट पर वास करने वाले खासी और गारो समूहों का क्षेत्र, केरल क्षेत्र, जिसकी नायर जाति की यह विशिष्ट समाज-व्यवस्था नृतत्व एवं समाज-शास्त्र के क्षेत्रों में अनेक वार वर्णित हो चुकी है; और तीसरा दक्षिण भारत का वह क्षेत्र, जिसमें काडर, इरूला, पुलायान आदि आदिवासी समूह एवं होलेया, मादिगा, वेल्लेस्ना आदि अस्पृश्य जातियाँ रहती हैं। मातृक परिवारों की विशेषताओं को भली भाँति समझने के लिए उनके कतिपय उदाहरणों का निकट अध्ययन आवश्यक है। आसाम की खासी आदि-जाति में विवाह के वाद पुरुष अपनी पत्नी के साथ उसकी माँ के घर में रहता है। जब तक पत्नी अपनी माँ के मकान में रहती है, उसकी पूरी कमाई माँ के हाथों में जाती है जो उसे परिवार के कामों में अपनी इच्छानुसार खर्च करती है। एक-दो बच्चों के जन्म के वाद यदि पति-पत्नी के पारस्परिक संवंध संतोषजनक होते हैं तो वे अलग मकान में स्वतंत्र रूप से रहने लगते हैं। इस स्थिति में पति-पत्नी की आय का उपयोग सम्मिलित रूप से परिवार के पोषण के लिए किया जाता है। गर्डान, जिन्होंने खासी आदि-जाति पर एक पुस्तक लिखी है, सिंटेंग आदि-जाति और मओशी क्षेत्र के लोगों के वारे में कहते हैं कि वहाँ की स्थिति ही दूसरी है। वहाँ पति अपनी सास के साथ स्थायी रूप से नहीं रहता, वह वहाँ केवल पत्नी से भेंट करने के लिए ही जाता है। पति अंधकार होने के वाद ही सास के घर जाता है, और वहाँ खाना-पीना आदि कुछ भी नहीं करता, क्योंकि उसकी व्यक्तिगत आय का कोई भी अंश उस घर के व्यय के लिए नहीं जाता। सिंटेंग आदि-जाति में दिन के समय किसी परिवार में विवाहित कन्याओं के पतियों का मिलना प्रायः असंभव है, यद्यपि उस परिवार के विवाहित पुत्र वहाँ अवश्य ही मिल सकते हैं। खासी

आदि-जाति में उत्तराधिकार स्त्रियों की पंक्ति में माँ की ओर से होता है, और उसकी सम्पत्ति के अधिकांश भाग की अधिकारिणी उसकी सबसे छोटी पुत्री होती है। इस आदि-जाति में वंश-परंपरा का परिचय भी माँ की ओर से ही दिया जाता है। उनमें एक कहावत है कि स्त्री से ही कुल का जन्म होता है। किसी परिवार का उल्लेख करते समय यह कहा जाता है कि उक्त परिवार के लोग अमुक स्त्री के पुत्र-पुत्री अथवा पौत्र-पौत्रियाँ हैं। उनके अनुसार परिवार में पति का स्थान केवल 'यु शोंग खा' अथवा संतति देने वाले का होता है। जातीय संगठन के सिद्धान्तों के अनुसार पति अपनी पत्नी के कुल का अंग नहीं माना जाता, और वह उक्त परिवार के उत्सवों और कुलाचार में कोई भाग नहीं ले सकता। खासी जाति की धार्मिक प्रथाओं में स्त्रियों का स्थान मुख्य एवं महत्त्वपूर्ण होता है। उत्तराधिकार में 'धर्म' माता की सबसे छोटी पुत्री को मिलता है, और इसीलिए पारिवारिक सम्पत्ति के अधिकांश की उत्तराधिकारिणी भी वही होती है। उसे पारिवारिक धार्मिक उत्सवों तथा कुलाचार का व्यय-साध्य उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना पड़ता है, इसलिए माता की सम्पत्ति का श्रेष्ठतम भाग उसे ही मिलता है। अन्य पुत्रियों को भी कुछ भाग मिलता अवश्य है, किन्तु माता के मूल्यवान आभूषण, मकान और उसकी अधिकांश वस्तुएँ सबसे छोटी लड़की को ही मिलती हैं। वह पारिवारिक मकान को अपनी अन्य बहनों के एकमत से दी गई स्वीकृति के बिना किसी दूसरे को बेच नहीं सकती। साथ ही प्रत्येक बड़ी बहन का यह उत्तरदायित्व होता है कि वह छोटी बहन के मकान की मरम्मत समय-समय पर अपने खर्च से कराती रहे। सबसे छोटी बहन की मृत्यु होने अथवा उसके धर्म-परिवर्तन कर लेने पर, या कुकृत्य के कारण समाज द्वारा बहिष्कृत होने पर, पारिवारिक सम्पत्ति उससे बड़ी किन्तु शेष अन्य बहनों से छोटी बहन को मिलती है। विवाह के पूर्व पुरुष अपने परिश्रम से जो सम्पत्ति अर्जित करता है उस पर उसकी माँ का अधिकार होता है। विवाह के पश्चात् उसकी मृत्यु होने पर उसकी सम्पत्ति उसकी पत्नी और बच्चों को मिलती है, यद्यपि इस स्थिति में भी उसकी सबसे छोटी लड़की का भाग ही सबसे बड़ा रहता है। गारो आदि-जाति में सम्पत्ति का उत्तराधिकार माँ से ही ग्रहण किया जाता है, किन्तु परंपरा के अनुसार पुत्री का अपने पिता की बहन के पुत्र से विवाह करना अनिवार्य होता है। इस तरह सम्पत्ति का अधिकार एक परिवार में माता से पुत्री को जाता है तो दूसरे परिवार में उसका नियंत्रण मामा के बाद भांजे के हाथ जाता है। मामा की मृत्यु के बाद भांजे को अपनी सास से भी, जिसकी पुत्री से वह पहले ही विवाह कर चुका है, विवाह करना अनिवार्य होता है। खासी और गारो आदि-

जातियों में न बहु-पतित्व का प्रचलन है, न बहु-पत्नीत्व का। नायर जाति मातृक है। यद्यपि इस जाति की गणना आदिवासी वर्गों में नहीं की जा सकती, तो भी उसके विशिष्ट प्रकार के पारिवारिक संगठन का उल्लेख आवश्यक है। इस जाति में स्त्री के एक से अधिक पति हो सकते हैं, और यह आवश्यक नहीं है कि उसके पति एक-दूसरे से संबंधित हों। आयप्पन का मत है कि बहुपतित्व 'इ ग्रानगू' (जिस समूह में विवाह-संबंध समाज-स्वीकृत होते हैं) तक ही सामान्यतः सीमित रहता था। बहुपतित्व की प्रथा वाले मातृ-प्रधान समाजों में सन्तति का पितृत्व निश्चित करना प्रायः असंभव होता है एवं माता की पंक्ति में ही वंश-निर्णय सुगमतापूर्वक किया जा सकता है।

भारत की बहुसंख्यक आदि-जातियों में परिवार पैतृक, पितृ-वंशीय तथा पितृ-स्थानीय होते हैं। अपवादस्वरूप कुछ पैतृक, पितृ-वंशीय, किन्तु मातृ-स्थानीय परिवार भी देखने में आते हैं, क्योंकि कुछ व्यक्ति विवाह के पश्चात् अपने ससुर के घर 'घर-जमाई' के रूप में रहना स्वीकार कर लेते हैं। जौनसार बावर के खस लोगों में बहुपतित्व का रिवाज है। उनके परिवार सम्मिलित ढंग के हैं, जिनमें सब भाई अपनी एक या अधिक पत्नियों के साथ रहते हैं। यदि अनेक भाइयों के बीच एक ही पत्नी हो तो इस प्रथा को हम बहुपतित्व ही कहेंगे, किन्तु एक से अधिक भाई अपनी एक से अधिक पत्नियों के साथ रहते हों तो यह रिवाज 'समूह-विवाह' के अन्तर्गत आएगा। इस प्रकार के परिवारों में सन्तति का 'सामाजिक पितृत्व' उनके वास्तविक पितृत्व से भिन्न हो सकता है। सामान्यतः प्रथम सन्तान बड़े भाई की मानी जाती है, भले ही वास्तविक रूप से उसका पिता कोई अन्य भाई हो। शेष बच्चे क्रमशः अन्य भाइयों के माने जाते हैं। यदि कोई छोटा भाई दूसरा विवाह कर ले और अलग रहने लगे तो पहली स्त्री के बच्चे उसके साथ नहीं जाते। वे अपनी माँ तथा अपने पितृ-समूह के सबसे बड़े भाई के साथ रहते हैं। सम्पत्ति-विभाजन के अवसर पर बालक सम्पूर्ण पिता-समूह की सम्पत्ति में से भाग पाने का अधिकार रखते हैं। जौनसार बावर में कुटुम्ब के मकान पर सबसे बड़े भाई का अधिकार रहता है। भूमि, बाग-बगीचे और परिवार की अन्य चल और अचल सम्पत्ति पर बड़े भाई का अधिकार होता है। गृह-कार्य उसी के नियंत्रण में चलते हैं। छोटे भाई बहुधा उसके इस शासन को स्वीकार करते हैं। यह देखा गया है कि यदि कोई छोटा भाई घर के प्रधान की आज्ञाओं की अवज्ञा करता है और विद्रोह करके पारिवारिक सम्पत्ति का विभाजन चाहता है, अथवा किसी एक पत्नी पर केवल अपना ही अधिकार चाहता है, तो वह पत्नी भी उसका साथ नहीं देती। मजुमदार के अनुसार, इस क्षेत्र की

नारी सम्पत्तिशाली पिता के इकलौते बेटे की अपेक्षा, एक गरीब परिवार के दो-तीन भाइयों से सम्मिलित रूप से विवाह करना अधिक पसंद करेगी, क्योंकि परिवार के पूरे काम का उत्तरदायित्व अकेले अपने ऊपर लेना उसे स्वीकार नहीं होता। नीलगिरि की टोडा आदि-जाति में भी बहुपतित्व की प्रथा है। इस समाज में भी वंश-परंपरा पुरुष-पंक्ति में चलती है एवं सम्पत्ति का उत्तराधिकार भी पिता से पुत्रों को प्राप्त होता है। इस जाति की परम्परा के अनुसार शिशु के वास्तविक और सामाजिक या विधिक पिता का एक ही होना आवश्यक नहीं है। सन्तति का पितृत्व एक विशेष रस्म पूरी करने से ही किसी व्यक्ति को प्राप्त होता है। स्त्री के पतियों में से कोई एक, अथवा उसके अविवाहित रहने या पतियों में से किसी एक के भी न आ सकने की स्थिति में कोई अन्य पुरुष भी यह रस्म पूरी कर सकता है। स्त्री के प्रथम गर्भ के अवसर पर यह रस्म की जाती है। स्त्री के पतियों में से कोई एक, अथवा कोई अन्य पुरुष, जो इस रस्म को पूरी करने का उत्तरदायित्व लेता है, उसे कतिपय अन्य संबंधियों के साथ समीपवर्ती वन में ले जाता है। वहाँ एक वृक्ष के तने में वर्गाकार छेद बनाता है और उसमें एक जलता हुआ दीप रखता है। इसके पश्चात् वह लकड़ी के छोटे-छोटे धनुष-बाण बनाकर स्त्री को भेंट करता है, और साथ ही उसे एक बछड़ा देने का वायदा भी करता है। स्त्री उन धनुष-बाणों को धीरे से उठाकर मस्तक से लगाती है, और जब तक दीप बुझ नहीं जाता, एकटक उसकी ओर देखती रहती है। पुरुष इसके पश्चात् भोजन तैयार करता है। खा-पीकर दोनों वन में ही रात्रि व्यतीत करते हैं। इस रस्म के बाद उस स्त्री के जितने भी बच्चे होंगे, कानूनी दृष्टि से उनका पिता वही व्यक्ति होगा जिसने उसमें भाग लिया था, चाहे वह वास्तविक रूप में उनका जनक हो अथवा नहीं। जब स्त्री का दूसरा पति अथवा पुरुष यह रस्म फिर से पूरी करता है तो वह बाद में होने वाली सन्तान का पिता माना जाता है। सम्पत्ति का उत्तराधिकार भी पुरुषों की पंक्ति में होता है। मृत व्यक्ति की सम्पत्ति उन सबको मिलती है जो सामाजिक और विधिक दृष्टि से उसके पुत्र होते हैं।

यह कहा जा चुका है कि आदिवासी भारत के अधिकांश समूहों में परिवार पैतृक तथा पितृ-स्थानीय होते हैं। परिवार में पति-पत्नी बहुधा अपने नाबालिग बच्चों के साथ रहते हैं। बच्चे क्रमशः बड़े होते हैं। पुत्रियाँ विवाह के पश्चात् अपने पति के घर चली जाती हैं। पुत्र विवाह के बाद कुछ दिन तक तो माता-पिता के साथ सम्मिलित रूप से रहते हैं, किन्तु पारिवारिक जीवन की उलझनें और कलह उन्हें अपना अलग घर करने के लिए विवश कर देते हैं।

वयोवृद्ध माता-पिता को आश्रय देने का उत्तरदायित्व उनकी संतान पर रहता है, और यदि इस दिशा में वे अपने कर्तव्य से विमुख होवे हैं तो आदि-जाति के नेता उनका ध्यान इस ओर आकर्पित करते हैं। इन समाजों में कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि वृद्धा माँ अपने एक बेटे के साथ रहती है और वृद्ध पिता दूसरे के साथ। उत्सवों तथा संस्कारों के अवसर पर कुटुम्ब के सब स्वतंत्र उपभाग एक स्थान पर एकत्रित होते हैं और कार्य की समाप्ति के बाद फिर पूर्ववत् अपने-अपने स्थानों को लौट जाते हैं। कुटुम्बों का रूप और गठन, दोनों आदि-समाजों की परंपरा, सदस्यों की रुचि और स्वभाव तथा परिवार की आर्थिक स्थिति आदि पर अवलंबित रहते हैं।

परिवार तो मानव-मात्र के सामाजिक संगठन की मूलभूत इकाई है, किन्तु उसके अतिरिक्त सामाजिक संगठन की अन्य इकाइयों का स्वरूप तथा महत्त्व भिन्न समाजों एवं क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न है। अनेक आदिवासी समूह ऐसे हैं जो नाममात्र के लिए एक होकर भी अनेक स्वतंत्र उपभागों में विभक्त हैं। ये उपभाग अपने-आप में स्वयं पूर्ण इकाइयाँ हैं, और समूह के सदस्य उस विशिष्ट उपभाग के बाहर विवाह-संबंध करने के लिए स्वतंत्र नहीं रहते। उदाहरणार्थ, भारत की विशाल गोंड आदि-जाति उत्तर प्रदेश के दक्षिणी मिर्ज़ापुर से लेकर दक्षिण में हैदराबाद राज्य के आदिलाबाद और वरंगल ज़िलों तक फैली है। अपनी मूल भाषा में वे जिन्हें भी 'कोइतुर' कहते हैं, वे सब गोंड आदि-जाति के अंतर्गत ही आते हैं, किन्तु भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में उनकी भाषा और संस्कृति के अनेक रूप आज देखने में आते हैं, और पूरी गोंड आदि-जाति अनेक स्वतंत्र आदि-जातियों में विभक्त है। मण्डला के गोंड, बस्तर के मुरिया और माड़िया, आदिलाबाद के राजगोंड और वरंगल के कोया, सब एक ही विशाल परिवार के स्वतंत्र सदस्य हैं। माड़िया और मुरिया में विवाह नहीं हो सकता, तथा राजगोंडों और कोया में भी नहीं। दक्षिण छत्तीसगढ़ के सीमित क्षेत्र में गोंडों के तीन ऐसे अन्त-र्विवाहिक समूह हैं : अमात गोंड, धुर गोंड और जड़िया राजगोंड। इनमें से प्रत्येक का जाति के रूप में स्वतंत्र एवं पृथक् अस्तित्व है। आसाम की नागा आदि-जाति में इस प्रकार के अनेक स्वतंत्र समुदाय हैं। विभिन्न आदि-जातियों के इस प्रकार के उपभागों में जो सांस्कृतिक भिन्नताएँ पाई जाती हैं, वे इतनी अधिक होती हैं, तथा उसी परिवार के अन्य समूहों के साथ विवाह एवं खान-पान के इतने तीव्र निपेध उनमें प्रचलित रहते हैं, कि उन्हें स्वतंत्र समूह मानना ही उचित होगा।

प्रत्येक स्वतंत्र आदिवासी समूह का अपना विशेष आन्तरिक संगठन होता

है। अनेक समूहों में आन्तरिक विभाजन का आधार द्विदल-संगठन होता है। समाज दो प्रमुख विभागों में विभाजित रहता है, जिनके अनेक स्तर और कई प्रकार के अन्य उपभाग होते हैं। यदि समाज 'क' और 'ख' मुख्य विभागों में विभाजित हुआ तो यह आवश्यक है कि 'क' भाग के व्यक्ति विवाह-संबंधों के लिए 'ख' भाग में जायँ और इसी प्रकार 'ख' भाग के लोग 'क' भाग में आएँ। घुर्ये का मत है कि दक्षिण भारत में प्राचीन काल में द्विदल-संगठन का प्रचलन रहा होगा, यद्यपि विख्यात नृतत्व-वेत्ता कापर्स ने इसका विरोध किया है। उत्कल की बोंदो आदि-जाति के विषय में वैरियर एल्विन ने जो अनुसंधान किये हैं, उनसे ज्ञात होता है कि उक्त आदि-जाति इसी प्रकार के दो प्रमुख विभागों—'ओंताल' और 'किल्लो'—में विभाजित है। यद्यपि आज यह अनिवार्य नहीं है कि विवाह-संबंध इन भागों के बाहर ही किये जायँ, फिर भी एल्विन का मत है कि सम्भवतः अतीत में ऐसा रहा होगा; क्योंकि विवाह-नियंत्रण के जिन दो सिद्धान्तों का प्रचलन समसामयिक बोंदो समाज में है, वे पड़ोसी जातियों और आदिवासी समूहों से लिये हुए प्रतीत होते हैं। वे सिद्धान्त हैं : संस्कृति की एक ही भौगोलिक इकाई—ग्राम—में विवाह-संबंधों का निषेध, तथा जाति के नौ 'कुड़ा' या गोत्रों के भीतर विवाह-संबंधों का निषेध। इसमें से प्रथम का पालन कड़ाई से किया जाता है। दूसरे के संबंध में काफी शिथिलता दिखाई पड़ती है। यद्यपि आज इन विभागों में अन्तर्विवाह-निषेध दिखाई नहीं पड़ता, तो भी उनकी परंपरा निःसंदेह प्राचीन है। वे संबंधियों को जिन शब्दों से संबोधित करते हैं उनके अध्ययन से भी इसी धारणा की पुष्टि होती है कि संभवतः बोंदो आदि-जाति में द्विदल-संगठन प्रचलित था। सतपुड़ा पर्वत की उपत्यकाओं में रहने वाले गोंडों के संबंध-शब्दों का अध्ययन भी कुछ ऐसे ही निष्कर्षों की ओर संकेत करता है, किन्तु उसके आधुनिक सामाजिक संगठन की स्थिति को देखकर इस संबंध में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

अधिकांश आदि-जातियों में गोत्र-समूह और गोत्र हमें सामाजिक संगठन की महत्त्वपूर्ण इकाइयों के रूप में दिखाई पड़ते हैं। सामान्यतः व्यक्ति न अपने गोत्र के भीतर विवाह कर सकता है, और न अपने गोत्र-समूह के अन्य गोत्रों में। आदिलाबाद के राजगोंडों में गोत्र-समूह और गोत्रों का विभाजन इस प्रकार है :

गोत्र-समूह	गोत्र
१. येर वेन सगा (सात भाइयों का गोत्र-समूह)	मड़ावी, पुरका, कोरवेट्टा, मासेकोला, पाण्डेरा, वर्मा, मेश्राम।

२. सार वेन सगा (छः भाइयों का गोत्र-समूह)
(क) पाण्डवेन सगा—
अत्राम, गेड़ाम, तोड़ोसाम, कोट नाका, कोरेंगा, अड़ाम, कोड़ाम, दानाम, दुगाम, काचीमूर, वेलाडी, कोचेरा, विका, पेन्दुर, काटेले, उखेन्ता, कुड़मेन्ता, वाडे।
(ख) मर्पे सगा—
तुमराम, कोडापा, राय-सिराम, वेटी, मवाम, मारापा, हेरे कुमरा, मण्डाड़ी।

३. सिवेन सगा (पाँच भाइयों का गोत्र-समूह)
(क) कुमरा, दरांजा, आलम, अड़का आड़ा, गेड़ाम, किनाका, सुड़पम।
(ख) कुरसेंगा, कानाका, अनावा, जुंगनाका, वल्कल, पुसनाका, करपेटा, धुरवा, गोयाम, कोर्चा, काचाल, चिकराग, सड़ातल, पड़ातल।

४. नाल्वेन सगा (चार भाइयों का गोत्र-समूह)
पर्तसाकी, शेरमाकी, सिराम, नैताम, मारपंची, सकाती, मंगाम, पुसाम, तालांदा, पोयाम, कुसराम, केड़ाम, टेकाम, कोवा।

अनेक आदि-जातियाँ ऐसी भी होती हैं जिनमें केवल गोत्र-विभाजन होता है, गोत्र-समूह का पृथक् संगठन नहीं होता। उदाहरणार्थ, छत्तीसगढ़ के कमार नामक आदिवासी समूह में निम्नलिखित गोत्र हैं:

१. जगत्।
२. नेताम।
३. मरकाम।
४. सोरी—
  क. बाघ सोरी।
  ख. नाग सोरी।
५. कुंजाम।
६. मरई।
७. छेदइहा।

गोत्र और गोत्र-समूह दोनों का संबंध अनेक समाजों में किसी विशिष्ट टोटम (गण-चिह्न) से भी देखा जाता है। टोटम-वस्तु (गण-वस्तु) वृक्ष, लता, पशु, पक्षी आदि कुछ भी हो सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि गोत्र अथवा

गोत्र-समूह अपनी उत्पत्ति टोटम-वस्तु से ही मानें, किन्तु पौराणिक गाथाओं तथा परंपरागत लोक-विश्वासों में उक्त समूहों का उन विशिष्ट वस्तुओं से कोई विशेष संबंध होना अत्यंत आवश्यक है। कमारों में उपर्युक्त गोत्रों की उत्पत्ति के संबंध में निम्नलिखित कथा प्रचलित है :

सृष्टि के निर्माण के पश्चात् पुनः एक बार जल-प्लावन हुआ। कमारों के निवास-क्षेत्र में चारों ओर से पानी आने लगा। जीवन-रक्षा के लिए कमार भागने लगे। भगवान् का भेजा हुआ यह जल-प्लावन गति में जंगली कमारों से कहीं अधिक तेज़ था, इसलिए शीघ्र ही उनका क्षेत्र चारों ओर से पानी से घिर गया। वे इस अनन्त जल-राशि को तैरकर पार नहीं कर सकते थे, इसलिए उन्होंने सहारे की खोज आरंभ की।

कमारों का एक दल कछुए की पीठ पर बैठकर पार हुआ। वे नेताम गोत्र के कहलाए, और आज भी इस गोत्र के लोग अपने पूर्वजों के प्रति की गई इस कृपा के बदले अपनी कृतज्ञता दर्शित करने के लिए कछुए को न तो मारते हैं और न उसका माँस खाते हैं। एक अन्य दल मगर की पीठ पर बैठकर जल-राशि पार करने का प्रयत्न कर रहा था। बीच समुद्र में मगर ने कहा, "मुझे भूख लगी है। मैं तुम सबको खा लूंगा।" भयभीत होकर वे पानी में कूद पड़े। कुछ को मगर ने खा लिया, और कुछ अपने प्राण बचाकर कछुए के पास पहुँचे। "हमें भी पार ले चलो," उन्होंने कछुए से प्रार्थना की। "नहीं, मेरे ऊपर पहले से ही बहुत बोझ है," कछुए ने उत्तर दिया। "मामा, हम पर दया करो। किसी तरह हमारे प्राण बचाओ," वे गिड़गिड़ाकर बोले। "अच्छा, तुम सब मेरे भांजे हो। तब कोई हर्ज नहीं, तुम भी आ जाओ," कछुए ने कहा। इस दल के लोग बाद में मरकाम गोत्र के हुए। आज भी इस गोत्र का मगर से परंपरागत वैर है और कछुए से स्नेह। वे मगर को मारकर खाते हैं, कछुए को नहीं। सोरी गोत्र के लोग एक जंगली लता की सहायता से पार उतरे। दूसरे लोगों ने इसी तरह अपने-अपने सहारे खोज लिए। भूमि पर पहुँचकर उन्होंने एक वन में अस्थायी निवास-स्थान बना लिए। एक सोरी स्त्री गर्भवती थी। वन में उसके दो पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें एक शेर था, दूसरा सर्प। तब से सोरी गोत्र की दो शाखाएँ हैं—बाघ-सोरी और नाग-सोरी। एक वृद्ध कमार अपने पुत्र के लिए वधू लाया था। उसके पुत्र और पुत्र-वधू में अभी वैवाहिक संबंध स्थापित नहीं हो पाए थे कि सबको जल-प्लावन के कारण भागना पड़ा। वधू एक दिन सवेरे के समय अपने अस्थायी निवास-स्थान का आँगन साफ कर रही थी। बूढ़ादेव का काला बकरा घूमते-फिरते वहाँ पहुँचा। युवती के सुडौल

शरीर की ओर आकर्षित होते हुए उसने सोचा, 'अभी तक इस शरीर का स्पर्श किसी ने नहीं किया।' वासना से प्रेरित होकर वह उसके पास गया। पहले तो युवती ने हट-हट चिल्लाकर उसे भगा देना चाहा, किन्तु थोड़ी देर बाद वह स्वयं उसके प्रति आकर्षित होने लगी। उसने पूछा, "और यदि बच्चे हुए तो ?" "तो क्या ?" बकरे ने उत्तर दिया, "वे सब कुंजाम गोत्र के होंगे।" वे दोनों समीपवर्ती वन में चले गए। तीन दिन बीत गए। चौथे दिन कुछ लोगों ने युवती को बकरे के साथ देखा और उसे गाँव में वापस लाए। वह गर्भवती हो चुकी थी। उसकी संतति कुंजाम गोत्र की है। इस आदि-जाति की एक शाखा वन में चारों ओर भटकती फिर रही थी, उसे जगत्-गोत्र मिला। भूख और थकावट से विवश होकर एक दल एक मरे हुए जानवर को खाने में जुट गया, उसे मरई गोत्र मिला, और बिना विशेष रूप से मारे गए जानवरों को छोड़कर अन्य मरे हुए जानवरों का मांस खाने का निषेध कर दिया गया। बच्चों का एक दल असहाय अवस्था में पाया गया, उसे छेदइहा गोत्र दिया गया।

गोत्र-संगठन का स्वरूप और महत्त्व आदिवासी भारत के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न प्रकार का है। संथालों में १०० से अधिक गोत्र हैं, हो आदि-जाति में लगभग ५० और मुंडा आदि-जाति में ६४। अनेक गोत्रों के नाम और टोटमो में आश्चर्यजनक समता है। मध्य प्रदेश के गोंड, परधान आदि में गोत्र तथा उनसे संबंधित विश्वास एवं व्यवहार-प्रकार उल्लेखनीय हैं। हैदराबाद की कोलाम आदि-जाति में स्थानीय संगठन था, गोत्र-विभाजन नहीं, किन्तु गोंडों के संपर्क तथा प्रभाव के कारण उन्हें यह संगठन अपनाना पड़ा। कमार आदि-जाति के गोत्र-विभाजन के संबंध में भी यही कहा जा सकता है। संभवतः इसी कारण इन आदि-जातियों की धार्मिक परंपरा में 'गोत्र' का स्थान उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि गोंड आदि-जाति में, जिसकी संस्कृति में उक्त संस्था का स्थान प्राचीन काल से ही अत्यंत महत्त्वपूर्ण रहा है। आदिलाबाद के राजगोंडों में गोत्रों के अपने विशेष दैव तथा पौराणिक नायक होते हैं, जिनके सम्मान में वर्ष में एक या अधिक बार मेले, उत्सव अथवा विशेष प्रकार की पूजा का आयोजन किया जाता है। गोत्र के 'टोटम' के लिए भी ऐसे उत्सव हो सकते हैं। 'टोटम' संबंधी जो कतिपय अन्य व्यवहार-ग्रन्थियाँ हमें भारतीय आदिवासियों में दीख पड़ती हैं, वे 'टोटम' प्राणी के न मारने तथा उसके मांस, फल आदि न खाने, टोटम प्राणी की मृत्यु पर नाम-मात्र के लिए इस प्रकार शोक प्रकट करने जैसे किसी निकट संबंधी की मृत्यु पर किया जाता है, अथवा 'टोटम' वस्तु के किसी अंश को या उसके चित्र को अपने गणचिह्न के रूप में उपयोग करने से सम्बन्ध

रखती हैं। कतिपय कमारों में गोत्र-उत्पत्ति के संबंध में जो लोक-विश्वास प्रचलित है उससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि 'नेताम' कछुए को न मारते हैं न खाते हैं, और इसी तरह 'कुंजाम' बकरे को मारते या खाते नहीं हैं। शेर के मरने का समाचार सुनकर बाघ-गोत्री शोक प्रकट करते हैं, घर में पानी छिड़कते हैं और एक हांडी बाहर कर देते हैं। 'नाग-गोत्री' सर्प की मृत्यु पर यही करते हैं। इस प्रकार के विश्वास भारत के सैकड़ों आदिवासी समूहों में बहुत बड़ी संख्या में पाए जाते हैं। गोत्रों में यह विश्वास भी पाया जाता है कि उनके टोटम का प्राणी या वस्तु संकट के समय रक्षा प्रदान करेगा, भविष्य बताने में सहायक होगा और भावी दुर्घटनाओं के संबंध में उन्हें पूर्व-सूचना भी देता रहेगा। 'गोत्र' सामाजिक संगठन की इकाई के रूप में अन्तर्विवाह का निषेध अवश्य करता है। यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि कतिपय आदि-जातियाँ ऐसी भी हैं जिनके गोत्रों का नामकरण प्राणियों अथवा वृक्षादि के नाम पर है, किन्तु उनमें टोटम-वादी विश्वास एवं व्यवहार-परंपराओं का सर्वथा अभाव है। उदाहरणार्थ, बंगाल के बागदी, कोरा आदि लोगों में गोत्रों का नाम विभिन्न प्राणियों के नामों पर है, किन्तु उनके विश्वासों और प्रथाओं में गोत्रों और प्राणियों का कोई भी विशेष पारस्परिक सम्बन्ध लक्षित नहीं होता।

जिन समूहों में वैवाहिक सम्बन्धों का नियंत्रण गोत्र द्वारा नहीं होता, उनमें यह कार्य संस्कृति की स्थानीय इकाई 'ग्राम' द्वारा किया जाता है। उत्कल के आदिवासी समूहों में इस प्रथा का प्रचलन है। वहाँ के जुआंग और कोंढ अपने गाँव की लड़की से कभी विवाह नहीं कर सकते। वैरियर एल्विन द्वारा वर्णित बोंदो आदि-जाति में यह विश्वास है कि एक ही 'गोत्र' की स्त्रियाँ गाँव के पुरुषों की माता और बहन के समान होती हैं, अतः उनसे विवाह करने की कल्पना भी असंभव है। जहाँ 'ग्राम' अथवा 'स्थानीय समूह' इस प्रकार विवाह-संबंधों पर नियंत्रण नहीं करता, वहाँ भी संस्कृति एवं सामाजिक संगठन की इकाई के रूप में उसका महत्त्व कम उल्लेखनीय नहीं होता। धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्थानीय समूह एक संगठित दल की भांति कार्य करता है। अनेक उत्सव सम्पूर्ण स्थानीय समूह की ओर से आयोजित किये जाते हैं। मंत्र-तन्त्र के प्रयोग से हैजे तथा भूत-प्रेतों के अवांछनीय प्रभावों को भी स्थानीय समूह अपने संघटित प्रयत्न से दूर करता है। सामाजिक जीवन में नित्यप्रति की समस्याओं को पड़ोसी ही सुलझाते हैं। स्थानीय समूह के विभिन्न सदस्य परिवारों का पारस्परिक अन्योन्यावलंबन उल्लेखनीय होता है। शिशु के सामाजिक सांस्कृतिक विकास की पृष्ठभूमि तथा प्रेरणा का स्रोत यही स्थानीय समूह होता है। व्यक्ति

का समाजीकरण और संस्कृतिकरण इसी भूमि में होता है। व्यक्ति के संस्कृति-स्वीकृत गुणों और कार्यों को पुरस्कृत करके तथा उसके अनुचित कार्यों की भर्त्सना करके और उनके लिए उसे दण्डित करके स्थानीय समूह संस्कृति में संतुलन बनाए रखने में सहायक होता है। कतिपय आदिवासी समाज ऐसे हैं जिनमें यदि सामाजिक अपराधों को रोकने में स्थानीय समूह तत्परता नहीं दिखाता या उन्हें छिपाने का प्रयत्न करता है, तो जातीय सत्ता पूरे गाँव को ही दण्डित करती है। आर्थिक क्षेत्र में भी इस स्थानीय समूह का महत्त्व कम नहीं होता। आखेट तथा संकलन करने वाली आदि-जातियों में सम्पूर्ण ग्राम द्वारा खाद्य-प्राप्ति के अनेक सामूहिक एवं संगठित प्रयत्न किये जाते हैं। सीमित क्षेत्र में स्थानीय समूह की जो महत्ता है, अपेक्षाकृत विशाल क्षेत्र में वही महत्ता ग्रामीण समुदाय की है, जिसका निर्माण अनेक स्थानीय समूहों के पारस्परिक सहयोग और सम्पर्क से होता है।

परिवार, गोत्र, गोत्र-समूह, द्विदल-संगठन तथा स्थानीय समूह के अतिरिक्त भारत की आदिवासी संस्कृतियों के सामाजिक संगठन की जिस इकाई का विश्लेषण करना आवश्यक है, वह है 'सम्बन्ध-प्रथा'। भारत के अधिकांश आदिवासी समूहों की संबंध-प्रथा में वर्गीकृत संज्ञा-व्यवस्था है, विशिष्ट संज्ञा-व्यवस्था नहीं। रक्त-सम्बन्धियों तथा विवाह-सम्बन्धियों में भेद तो किया जाता है, किन्तु एक सीमा के बाद ये पंक्तियाँ धुँधली पड़ जाती हैं। विशिष्ट संज्ञा-व्यवस्था में व्यक्ति जिससे सम्बन्धित होता है, उसके साथ अपने सम्बन्ध को विशिष्ट सम्बोधन द्वारा स्पष्ट करता है। इसके विपरीत दूसरी व्यवस्था में वह केवल यह प्रकट करता है कि सम्बोधित व्यक्ति कतिपय सुनिश्चित सम्बन्धी-वर्गों में से किसी विशेष वर्ग का है। टोडा आदि-जाति की सम्बन्ध-प्रथा के अध्ययन से इस संबंध-संगठन की विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती हैं। उदाहरणार्थ, 'पिता' शब्द के अंतर्गत व्यक्ति के नैसर्गिक अथवा सामाजिक-विधिक पिता के अतिरिक्त, पिता के सब भाई, गोत्र में पिता के आयु-वर्ग के अन्य पुरुष तथा मौसियों (माता की बहनों) के पति भी आएँगे। उक्त सभी वर्गों के व्यक्ति एक-दूसरे के बच्चों को 'बेटा' या 'बेटी' मानेंगे। ये सब एक-दूसरे को 'भाई' अथवा 'बहन' कहकर सम्बोधित करेंगे। भाइयों और बहनों के सम्बोधन में आयु के अनुसार सम्बन्ध व्यक्त करने के शब्दों में अवश्य थोड़ा अन्तर होता है। अपने से बड़ों के लिए एक शब्द, समवयस्कों के लिए दूसरा शब्द और छोटों के लिए तीसरे ही शब्द का प्रयोग किया जाता है। किन्तु आयु पर आधारित विशेषण सम्बन्ध-प्रथा के मूलभूत आधार को नहीं बदलते। दो भाइयों अथवा दो बहनों के बच्चे एक-

दूसरे को इस तरह भाई-बहन ही मानते हैं, किन्तु भाई और बहन के बच्चों क पारस्परिक संबंध सर्वथा अन्य धरातल के होते हैं। सामान्यतः वे एक-दूसरे से विवाह कर सकते हैं, और इस प्रकार के विवाह को समाज विशेष रूप से औचित्यपूर्ण मानता है। अतः उनमें वास्तविक रूप से विवाह हो अथवा न हो, आदि-जाति के संबंध-संगठन में वे 'पति' या 'पत्नी' के वर्ग में आते हैं। ससुर के पर्यायवाची शब्द का प्रयोग वास्तविक ससुर के अतिरिक्त माँ के भाइयों तथा पिता की बहनों के पतियों के लिए भी किया जाता है। अन्तिम दो श्रेणियों में आने वाले व्यक्ति एक-दूसरे के बेटों को 'दामाद' और बेटियों को 'बहू' मानेंगे। विशिष्ट संज्ञा-व्यवस्था का सीमित प्रभाव सम्बन्ध-संगठन पर भी देखा जा सकता है। सगी बहन के बच्चों को वे 'मेरी बहन के बच्चे' कहेंगे और गोत्र और सम्बन्ध-वर्ग की अन्य बहनों के बच्चों को 'हमारी बहन के बच्चे' कहेंगे। भारत के अन्य अनेक आदिवासी समूहों में अल्प-परिवर्तित रूप में यही समाज-व्यवस्था प्रचलित दिखाई पड़ती है। एक ही पीढ़ी तथा समान लिंग एवं समान सामाजिक स्थिति के अनेक सम्बन्धियों के लिए समान संबंध-द्योतक शब्द का प्रयोग इस संबंध-व्यवस्था के अंतर्गत किया जाता है। संबंध व्यक्तियों की अपेक्षा वर्गों में होता है, और इस कारण अनेक संबंधियों को एक ही संबंध-द्योतक शब्द से संबोधित किया जाता है। उदाहरणार्थ 'अज़ा' शब्द सेमा नागा लोगों में माँ, पिता के भाई की पत्नी और माँ की बहन के लिए व्यवहृत होता है। उसी समाज में 'आपु' शब्द से एक साथ पिता, पिता के भाई और माँ की बहनों के पति का बोध होता है। आसाम के अंगामी नागा लोगों में 'चि' शब्द का प्रयोग इन सम्बन्धियों के लिए किया जाता है—पत्नी का बड़ा भाई, पत्नी के बड़े भाई की पत्नी, माँ के भाई की पत्नी, पिता के भाई की पत्नी, बड़े भाई की पत्नी आदि। छत्तीसगढ़ की कमार आदि-जाति के भी कतिपय ऐसे शब्द लीजिए। इस आदि-जाति में 'दादी' शब्द का प्रयोग पिता के पिता, पिता के पिता के भाइयों, माँ के पिता की बहनों के पति, माँ के मामा तथा पत्नी या पति की माँ के पिता के लिए समान रूप से किया जाता है। इसी तरह 'चाचा' शब्द का प्रयोग पुरुषों द्वारा दामाद के अतिरिक्त बहन के पुत्र, पत्नी के भाई के पुत्र, मामा के बेटे के बेटे तथा फूफी के बेटे के बेटे के लिए किया जाता है। इस प्रकार एक शब्द से अनेक सम्बन्धियों को संबोधित किया जा सकता है, और इसके अनेक उदाहरण आदिवासियों की सम्बन्ध-संज्ञाओं में बिना विशेष प्रयत्न के सहज ही मिल सकते हैं।

संबंध-व्यवस्था केवल संबंध-संज्ञाओं तक ही सीमित नहीं है। उसके अंत-

गंत विभिन्न प्रकार के संबंधियों के बीच परंपरा द्वारा विकसित एवं अपेक्षित विशेष प्रकार की भावनाओं की स्थिति, कतिपय संबंधियों के बीच प्रत्यक्ष सम्पर्कों का निषेध एवं कतिपय अन्य संबंधियों के बीच अतिनैकट्य आदि समस्याएँ भी आती हैं। भारतीय आदिवासी समाज में भी आयु, पीढ़ी, संबंध, सामाजिक स्थिति तथा विशेष ज्ञान एवं अनुभव आदि एक व्यक्ति को दूसरे की दृष्टि में आदरणीय बनाते हैं। आदरणीण व्यक्ति के प्रति आदर करने वाला व्यक्ति अपनी सम्मान-भावना अनेक रूपों में व्यक्त करता है—उनके आने पर सदा खड़े होकर, विशेष अवसरों पर उनके चरणों का स्पर्श करके, उनके सम्मुख बीड़ी आदि न पीकर, उनके सामने धीरे बोलकर, आदि। एक-दूसरे का जूठा खाने एवं एक-दूसरे का व्यक्तिगत नाम लेने आदि के संबंध में भी संबंध-व्यवस्था के अंतर्गत अनेक जटिल नियम रहते हैं, जिनका स्वरूप आदिवासी भारत के विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न है। मध्य-देश के अधिकांश आदिवासियों में एक ओर पुरुष एवं उसके छोटे भाइयों की पत्नियों में तथा दूसरी ओर उसके और उसकी पत्नी की बड़ी बहनों में प्रत्यक्ष सम्पर्क-संबंध का निषेध रहता है। उनमें घनिष्ठता की अपेक्षा तो की ही नहीं जाती, उनका एक-दूसरे से बोलना, स्पर्श करना अथवा किसी समय मकान में अकेले एक साथ रहना भी अनुचित समझा जाता है। इसके ठीक विपरीत कुछ संबंध ऐसे भी रहते हैं, जिनमें अति-नैकट्य, सख्य तथा हँसी-मज़ाक न केवल परम्परा द्वारा स्वीकृत ही रहते हैं, वरन् आवश्यक भी माने जाते हैं। पुरुष का अपनी भावज (बड़े भाई की पत्नी) तथा साली (पत्नी की छोटी बहन) से इस प्रकार का संबंध प्रायः समस्त आदिवासी भारत तथा हिन्दू और मुस्लिम समाजों में उचित माना जाता है। विनोद के औचित्य की सीमाएँ इन समाजों में भिन्न हैं, किन्तु उपर्युक्त श्रेणियों के संबंधियों के बीच हँसी-मसखरी का रिश्ता अवश्य रहता है। समधियों तथा समधिनों (वर-वधू के माता-पिता) के बीच भी ऐसा ही संबंध रहता है। इसी तरह पूर्वी भारत के हिन्दू समाज तथा मध्य प्रदेश एवं पूर्वी भारत के आदिवासियों में व्यक्ति और उसके पौत्र-पौत्रियों में भी विनोद का संबंध रहता है। कमार आदि-जाति में व्यक्ति का नाती-नातिन के साथ जो विनोद-संबंध पाया जाता है उसके विश्लेषण से इन पंक्तियों का लेखक इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि इस आदि-जाति में ये विनोद-संबंध केवल उन श्रेणियों के व्यक्तियों में होते हैं जिनमें व्यावहारिक दृष्टि से नहीं तो केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से ही विवाह-संबंधों का निषेध नहीं होता। यथा, व्यक्ति अपने पुत्र के पुत्र को दादी कहेगा और उसे अपना भाई मानेगा। वह अपने पुत्र की पुत्री को बहन मानेगा। इन दोनों से उसका विनोद-संबंध नहीं

होगा। इसके विपरीत वह अपनी कन्या की पुत्री को अपनी सखी मानेगा और कन्या के पुत्र को अपना समधि। इन दोनों से उसका विनोद का संबंध होगा। स्त्री अपने पुत्र के पुत्र-पुत्री को क्रमशः समधि और सखी मानेगी और उनसे विनोद कर सकेगी, किन्तु वह अपनी पुत्री के पुत्र-पुत्री को भाई-बहन मानेगी और उनसे हँसी-मजाक न कर सकेगी। आयु के बड़े अन्तर के कारण पितामह और पौत्री में विवाह होना तो प्रायः असंभव ही होता है, किन्तु कमार आदि-जाति में जिन पितामह-पौत्री में विनोद की अनुमति है, उनमें यदि विवाह भी हो जाय तो वह परम्परा-सम्मत एवं उचित ही माना जायगा, नियम-बाध्य नहीं।

आदिवासी संस्कृतियों की समाज-व्यवस्था में वर्ग-भेद, आयु-भेद आदि के आधार पर जो संस्थाएँ संगठित होती हैं तथा जो विशेष प्रकार के गुप्त समाज-समितियाँ एवं क्लब आदि विकसित होते हैं, इन संस्कृतियों में उनका स्थान एवं महत्त्व भिन्न धरातल का होता है। उसी भाँति राजकीय संगठन, सत्ता तथा न्याय-व्यवस्था आदि भी आदिजातीय समाज-व्यवस्था के अन्तर्गत अपना विशेष स्थान रखते हैं। उनके महत्त्व के अनुकूल उनका पृथक् विश्लेषण आवश्यक है।

जीवन-पथ के संस्कार

मानव की प्रायः प्रत्येक संस्कृति में व्यक्ति की जीवन-यात्रा के विभिन्न संक्रमण-कालों का विशेष महत्त्व होता है। जन्म, विवाह एवं मरण, इस प्रकार की तीन मुख्य स्थितियाँ हैं जिनके आसपास मानव-समूह विश्वासों, रीति-रिवाजों और व्यवहार-प्रकारों का एक ऐसा जटिल ताना-बाना बुन लेता है कि उनके वास्तविक स्वरूप को समझे बिना उस संस्कृति का पूर्ण चित्रण प्राप्त ही नहीं किया जा सकता। इनके अतिरिक्त नामकरण, वयःसंधि, रजोदर्शन आदि की स्थितियाँ भी महत्त्वपूर्ण होती हैं और अनेक संस्कृतियों की समाज-व्यवस्था में उन्हें पार करने से व्यक्ति की सामाजिक स्थिति एवं उसके अधिकारों और कर्तव्यों में मूलभूत पतिवर्तन हो जाते हैं। समाज-संगठन का यह पक्ष मानव के उत्तरोत्तर परिवर्तित होने वाले उत्तरदायित्वों एवं कार्यों की दिशा निश्चित करता है।

जन्म

भारत में ऐसी कोई भी आदिवासी संस्कृति नहीं है जिसे संतानोत्पत्ति का रहस्य ज्ञात न हो, और जो ट्रोब्राइंड द्वीप के वासियों की भाँति इस सम्बन्ध

में पूर्ण अज्ञान की घोषणा करती हो। गर्भाधान के लिए स्त्री और पुरुष का यौन-सम्बन्ध आवश्यक माना जाता है, किन्तु यह अवश्य है कि उनके मतानुसार केवल यही संतानोत्पत्ति के लिए पर्याप्त नहीं माना जा सकता। उदाहरणार्थ छत्तीसगढ़ की कमार आदि-जाति का विश्वास है कि जब तक भगवान् जीव को किसी विशिष्ट स्त्री के गर्भ से जन्म का आदेश नहीं देते, या जब तक परिवार के पुरखों में से किसी का जीव पुनः उस परिवार में जन्म लेने के लिए आतुर नहीं होता, स्त्री-पुरुष में नियमित यौन-सम्बन्ध होने पर भी सन्तानोत्पत्ति संभव नहीं होगी। भारत की आदिवासी संस्कृतियों में इस प्रश्न से संबंधित अनेक प्रकार के लोक-विश्वास पाए जाते हैं। सिक्किम की लेपचा आदि-जाति के अनुसार "गर्भाधान होते ही शिशु का जीवन प्रारम्भ हो जाता है। स्त्री और पुरुष, दोनों द्वारा स्खलित तरल जैसे ही मिलते हैं, स्वर्ग अथवा देवताओं के स्थान से आत्मा आ जाती है। पुरुष के वीर्य से बालक के मस्तिष्क और हड्डियों का निर्माण होता है, स्त्री के स्खलन से रक्त और माँस का। गर्भ के प्रथम माह में शिशु की आँखें बनती हैं। आँखों के आसपास क्रमशः बालक का सिर बनता है और उसके बाद शरीर का शेष भाग। पाँचवें माह के अन्त तक शरीर का प्रत्येक अंग केश तक पूर्ण हो जाता है।" गोरर का कथन है कि पाँचवें माह से ही स्त्री अपनी भावी संतति के संबंध में चिंता करना तथा परम्परागत निषेधों का पालन करना शुरू करती है। शिशु-जन्म-संबंधी विश्वासों में इस तरह लोक-विश्वास और लोक-अनुभव दोनों का समावेश दिखाई पड़ता है। स्त्री और पुरुष के संसर्ग के अतिरिक्त दैवी कृपा अथवा पितरों की पुनः उस परिवार में जन्म लेने की इच्छा सन्तति के जन्म के लिए आवश्यक होती है।

प्रायः गर्भ का आभास होते ही माता को सावधानीपूर्वक कुछ नियमों का पालन करना पड़ता है। व्यावहारिक दृष्टि से आगे आने वाली परिस्थिति के लिए उपयुक्त प्रबन्ध करने के अतिरिक्त धार्मिक क्रियाओं तथा जादू-टोने द्वारा निर्विघ्न गर्भ की अवधि समाप्त करने तथा कष्टहीन, दुर्घटनाहीन प्रसव करने के प्रयत्न इन संस्कृतियों में किये जाते हैं। समाज-व्यवस्था के अंतर्गत यह निश्चित कर दिया जाता है कि गर्भवती स्त्री क्या करे, क्या न करे। इस स्थिति में छत्तीसगढ़ की कमार स्त्रियाँ श्मशान के समीप नहीं जातीं। वे अस्थिर कृषि के खेतों के भीतर भी नहीं जा सकतीं। जंगल में, मध्याह्न के समय और अंधेरा होने के बाद उनका घूमना उचित नहीं समझा जाता। प्रथम गर्भ के समय तो उन्हें अनेक परंपरागत निषेधों का पालन करना पड़ता है। उन्हें पैरों से चलकर धान कूटने की ढेंकी नहीं लाँघनी चाहिए। यदि वे नागर (हल) लांघेंगी तो

उनका बच्चा नागर चलाने वालों की भाँति जोर-जोर से चिल्लाएगा। बैल-गाड़ी की सामने की 'डांडी' लाँघने में उनका बच्चा गाड़ी के चलने से 'हँ-हँ, चर्र-चूँ' आदि जो आवाज़ होती है वैसी आवाज़ गले से करेगा। घोड़े की छाया गर्भवती स्त्री पर पड़ने से बच्चा घोड़े के समान फुर्र-फुर्र ध्वनि करेगा। कमारों के समवर्ती गोंडों में भी इसी प्रकार के विश्वास पाए जाते हैं। उनमें गर्भवती स्त्री को न तो नया कपड़ा पहनना चाहिए और न नई चूड़ियाँ। उनमें भी गर्भवती स्त्री के घोड़े की छाया तक से बचने का नियम है, किन्तु उसका कारण कमार लोक-विश्वास से भिन्न है। असात गोंडों का विश्वास है कि घोड़ी के बच्चा बारह माह में होता है। यदि उसकी छाया भी किसी स्त्री पर पड़ गई तो उसके गर्भ की अवधि भी उतनी अधिक बढ़ जायगी। गर्भाधान के संबंध में लेपचा आदि-जाति के विश्वास का उल्लेख किया जा चुका है। गर्भकाल में उनकी सामाजिक प्रथा के अनुसार माता-पिता को अनेक नियमों का पालन करना पड़ता है। उनमें से कतिपय उल्लेखनीय नियम ये हैं:

यदि माता या पिता में से कोई बाड़ लगा रहा है, तो उसे यह काम स्वतः अकेले ही करना चाहिए, नहीं तो शिशु-जन्म सुविधापूर्वक नहीं होगा।

पिता को नदी में ही फंदे से मछली नहीं निकालनी चाहिए, नहीं तो बालक की नाक बार-बार बन्द होगी।

पिता को अपने निजी संदूक के सिवाय किसी और चीज़ में ताला नहीं डालना चाहिए। यदि उसने ऐसा किया तो जब तक वह ताला न खोला जायगा शिशु का जन्म ही न हो सकेगा।

माता-पिता दोनों को दुर्घटना में मरे या जंगली जानवर द्वारा मारे गए किसी प्राणी का माँस नहीं खाना चाहिए। ऐसा करने से शिशु के जीवन में वैसी ही दुर्घटना की संभावना हो सकती है।

माता-पिता को सूर्य और चन्द्र-ग्रहण नहीं देखना चाहिए। ऐसा करने से शिशु मरा हुआ उत्पन्न होगा।

माता-पिता यदि गर्भकाल में किसी पवित्र मूर्ति को हटाएँगे तो बच्चा गूंगा पैदा होगा।

उड़ीसा के बोंदो समाज में गर्भवती स्त्री ग्रहण के समय बाहर नहीं निकलती। वह इस स्थिति में आम और कटहल नहीं खाती, क्योंकि इसके कारण बाद में शिशु द्वारा लार बहाने की संभावना बढ़ जाती है। बैंगन खाने से बालक को खुजली हो सकती है। पिता को बलि किये हुए या धार्मिक संस्कार के बाद शिकार में मारे गए जानवर के सिर और पैर के भाग का माँस नहीं खाना चाहिए।

इस तरह के अनेक निषेध, संसार की अन्य आदिवासी संस्कृतियों की भाँति, हमें भारत के आदिवासी समाज में भी दिखाई पड़ते हैं।

शिशु-जन्म तथा उससे संबंधित अन्य प्रथाओं में आदिवासी भारत के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में बड़ा अन्तर दिखलाई पड़ता है। जहाँ कुछ समाजों में इसे एक सामान्य प्राकृतिक घटना ही माना जाता है, वहाँ अनेक ऐसे समाज भी हैं जो इसे संकट की स्थिति मानकर प्रत्येक प्रकार की आशंका से मुक्त होने के लिए जादू-टोने का आश्रय लेते हैं। शारीरिक असमर्थता के साथ-ही-साथ प्रसव के कुछ दिन बाद तक माता पर अनेक सामाजिक-धार्मिक बंधन भी रहते हैं। यद्यपि विशुद्ध रूप में 'कूवा' (सह-प्रसविता या सहकष्टी) की प्रथा तो भारत में दिखाई नहीं पड़ती, उसकी छाया का आभास यदा-कदा अवश्य मिलता है। जिन संस्कृतियों में 'कूवा' की यह प्रथा है उनमें शिशु के जन्म पर पिता को विस्तर पर लेटकर ठीक उसी तरह व्यवहार करना पड़ता है जैसे उसके गर्भ से ही बच्चा हुआ हो। शिशु-जन्म के बाद के किसी विशेष संस्कार तक जिस तरह माता अशुद्ध रहती है, और न वह खाना बनाती न किसी का स्पर्श करती है, उसी तरह पिता भी एक निश्चित अवधि तक अशुद्ध रहता है। वह न तो सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक क्रियाओं और उत्सवों में भाग ले सकता है, और न जीवन के अन्य क्षेत्रों में ही समाज के सामान्य सदस्यों की भाँति स्वतंत्र रूप से व्यवहार कर सकता है। लेपचा समाज में शिशु-जन्म के बाद तीन दिन तक पिता कोई भी परिश्रम का काम, जैसे पत्थर उठाना, लकड़ी-काटना आदि, नहीं करता, क्योंकि उनका विश्वास है कि ऐसा करने से माँ के पेट में दर्द होने लगेगा।

शिशु-जन्म की घड़ी जब समीप आने लगती है तब कुछ समाजों में सावधानीपूर्वक उसके लिए तैयारी की जाती है, तथा धार्मिक क्रियाओं और जादू से अदृश्य जगत् की शक्तियों की सहायता ली जाती है। कुछ समाज ऐसे भी हैं जिनमें यह एक साधारण तथा प्राकृतिक घटना मानी जाती है। उड़ीसा के बोंदो समाज में शिशु-जन्म की घड़ी समीप आने तक माँ नियमित रूप से अपना कार्य करती रहती है। शिशु-जन्म के बाद प्रायः शीघ्र ही वह अपना काम फिर सँभाल लेती है। गर्भकाल में उसे अधिक बन्धनों का पालन नहीं करना पड़ता। प्रसव-पीड़ा प्रारम्भ होते ही, उसी समूह की कोई दूसरी स्त्री उसे मकान के एक कमरे में ले जाती है। प्रसूतिका के सहारे के लिए कभी-कभी कमरे में छत से एक बड़ी रस्सी बाँध दी जाती है। स्त्री को घुटनों के बल बिठाकर दो स्त्रियाँ उसे पकड़ लेती हैं और उससे ज़ोर-ज़ोर से खाँसने को कहती हैं। शिशु का जन्म होते ही स्त्रियाँ उसकी नाल की चिन्ता करती हैं। कन्या की

नाल बाण से, और पुत्र की हँसिये से काटी जाती है। माँ और बच्चे, दोनों को गरम पानी से नहलाकर, तेल से बच्चे की मालिश कर दी जाती है और आग जलाकर उसके शरीर को अच्छी तरह सेंक देते हैं। बालक के सिर का पहले बाहर आना विशेष रूप से अच्छा माना जाता है, क्योंकि उनकी दृष्टि में इसका अर्थ नवजात शिशु का धरती माता को प्रथम प्रणाम होता है। नाल का ऊपरी भाग जब तक सूखकर गिर नहीं जाता, माँ को रसोई के बर्तन नहीं छूने चाहिएँ। उसके रसोई में जाने के एक सप्ताह के बाद, बच्चे का बाप अपने ससुर के पास जाकर दावत की माँग करता है। ससुर की ओर से पुत्र के लिए एक मुर्गा और पुत्री के लिए एक मुर्गी दी जाती है। उसके वापस आने के समय, माँ बच्चे को लेकर दालान में बैठ जाती है। बाप मुर्गे या मुर्गी को उसके चारों ओर फिराकर कहता है, "मेरे सास-ससुर ने इसे भेजा है। उनका नाती मोटा हो जाय, वह ज्यादा रोए नहीं, वह सुख से रहे; वह अपने पितामह की भाँति ही लम्बी आयु प्राप्त करे, उनके समान ही मोटा और ताकतवर हो।" ऐसा करने के बाद वे मुर्गे को मारकर खा लेते हैं। जब तक यह नहीं हो जाता नवजात शिशु का पितामह उस घर में नहीं आ सकता। इस रस्म के बाद वे उसे आमंत्रित कर चावलों की शराब और केंकड़े या मछली की दावत देते हैं। इसी तरह छत्तीसगढ़ के कमारों में प्रसव के समय आदि-जाति की कोई अनुभवी वृद्धा, स्त्री की सास और एक-दो अन्य सम्बन्धी अथवा परिचित स्त्रियाँ उसके पास रहती हैं। प्रसव यदि बहुत अधिक पीड़ापूर्ण होता है, या उसमें साधारण से अधिक समय लगता है तो गाँव के 'बैगा' को बुलाकर उसका कारण जानने की कोशिश की जाती है और देवी-देवताओं को भेंट-बलि देकर या मंत्रबल से कष्ट को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है। बोंदो प्रथा से भिन्न इनमें माँ पुत्र-जन्म के बाद दो माह तक और पुत्री के जन्म के बाद तीन माह तक जाति के सामान्य सामाजिक जीवन से अलग रहती है और उन सभी निषेधों का पालन करती है जो रजस्राव के समय स्त्री की गतिविधि निर्धारित करते हैं। नागा समूहों में भी शिशु-जन्म को जीवन की एक साधारण घटना ही माना जाता है। रेंगमा नागा समूहों में अनेक स्त्रियों को प्रसव की पूर्व-वेदना का अनुभव अपने सुदूर खेतों में होता है और वे वन में किसी अन्य स्त्री की सहायता से शिशु को जन्म देकर, थोड़े समय बाद ही पहाड़ों और घाटियों को पार करती हुई अपने घर आ जाती हैं। 'हो' आदि-जाति तथा छोटा नागपुर के कतिपय अन्य समूहों में शिशु-जन्म के लिए पूरी तैयारी की जाती है। मकान का कमरा, या विशेष तौर पर इसी कार्य के लिए बनाई गई कुटिया में इस अवसर पर काम में आने वाले सभी

आवश्यक उपकरण सजाकर रख दिए जाते हैं। इस कमरे की सजावट की ओर भी पर्याप्त ध्यान दिया जाता है। शिशु को जन्म देने के लिए, इसमें स्त्री के प्रवेश करने से पूर्व वलि दी जाती है तथा होम भी किया जाता है। इतनी सब सावधानियों के बाद भी यदि प्रसव में साधारण से अधिक कष्ट होता है तो उसे किसी 'बोंगा' (अदृश्य शक्ति) के कोप का फल माना जाता है, और प्रार्थना, मन्त्र, वलि आदि से उनको प्रसन्न करने की चेष्टा की जाती है।

जन्म से ही मरा हुआ शिशु और शिशु के शीघ्र ही बाद मरी हुई माँ, दोनों प्रायः आशंका के कारण होते हैं। मरे हुए बच्चे को कई समूहों में स्त्रियाँ ही कहीं ले जाकर गाड़ देती हैं। पुरुषों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता, और उसके लिए किसी सामाजिक-धार्मिक संस्कार की भी आवश्यकता नहीं होती। छत्तीसगढ़ के कमारों का मत है कि भगवान् के पास से 'जीव' पहुँचने के पूर्व जो बालक पैदा हो जाते हैं वे अनिवार्यतः मृत रूप में जन्म लेते हैं। लेपचा आदि-जाति का विश्वास है कि इस तरह मृत स्थिति में उत्पन्न हुए बालक 'इंग बोंग मूंग' नाम की दुष्ट आत्माओं का रूप ले लेते हैं, और दूसरे छोटे बच्चों को दस्त की बीमारी लगाकर उनमें से बहुतों के प्राण समाप्त कर देते हैं। इस प्रकार के शिशुओं के सम्बन्ध में यह विश्वास जहाँ केवल थोड़े-से समूहों में ही सीमित है, वहाँ शिशु-जन्म के शीघ्र ही वाद मर जाने वाली माता के 'चुड़ैल' हो जाने का विश्वास भारत के अधिकांश आदिवासी समाजों के अतिरिक्त गाँवों और नगरों में वसने वाले अधिकांश हिन्दुओं में, और उनके प्रभाव से अन्य मतावलंबियों में भी पाया जाता है। जुड़वाँ बच्चों के सम्बन्ध में भारत की आदिवासी संस्कृतियों में अनेक मनोरंजक विश्वास पाए जाते हैं। उत्कल की 'बोंदो' आदि-जाति में यदि दो पुत्र या पुत्रियाँ एक साथ पैदा होते हैं, तो उनके सम्बन्ध में यह अनुमान किया जाता है कि पूर्व-जन्म में उनकी घनिष्ठ मैत्री रही होगी, जिसके कारण उन्होंने एक ही गर्भ से जन्म लेना उचित समझा। इस तरह के बच्चों के एक-से नाम रखे जाते हैं। आसाम की रेंगमा नागा आदि-जाति में इस तरह के बच्चों का जन्म अच्छा नहीं माना जाता। इसका कारण यह है कि उनके पालने में कष्ट होता है। उनकी धारणा है कि दो-दो बच्चे एक साथ पैदा करने की प्रवृत्ति छूत के रोग के समान होती है। इसी धारणा के वशीभूत रेंगमा स्त्रियाँ ऐसी किसी भी स्त्री की कंघी या बुनने के यंत्र अपने उपयोग के लिए उधार नहीं माँगतीं, जिसने जुड़वाँ बच्चों को जन्म दिया हो। भारतीय मध्य प्रदेश के कतिपय आदिवासी समूहों में लड़के और लड़की का जुड़वाँ पैदा होना अच्छा नहीं माना जाता, क्योंकि माँ के गर्भ में भी भाई और बहन का साथ-

साथ होना उनकी दृष्टि में अपराध है।

नामकरण का प्रश्न अनिवार्य रूप से शिशु-जन्म से संबंधित रहता है। कुछ आदिवासी समाजों में तो नामकरण के बाद ही शिशु समाज का सदस्य माना जाता है, उसके पूर्व नहीं। पुनर्जन्म-संबंधी धारणाएँ व्यापक रूप से नामकरण-संस्कार के स्वरूप को प्रभावित करती हैं। उत्कल की बोंदो आदि-जाति में शिशु का नामकरण उसके जन्म के दिन ही या जन्म के पाँचवें दिन या नाल सूखकर गिरने के बाद किया जाता है। भोजन के लिए चावल और शराब तथा बलि के लिए मुर्गे और सूअर उपलब्ध होने पर इसमें अधिक देर नहीं की जाती। मुर्गे की बलि देकर उसका एक पैर नवजात शिशु के हाथ में दे दिया जाता है। बच्चे के समीप ही कोई निकट सम्बन्धी बैठकर धीरे-धीरे एक-एक पुरखे का नाम लेता है। कोई विशेष नाम लिये जाते समय यदि बच्चा मुर्गे के पैर को हाथ से दबाता है तो यह माना जाता है कि उसकी आत्मा ने ही जन्म लिया है, और शिशु को सब लोग उसी नाम से पुकारने लगते हैं। यदि बालक किसी नाम पर भी इस तरह का संकेत नहीं करता तो उसका नाम उसके जन्म-दिन के आधार पर रख दिया जाता है। कमारों में नामकरण, जन्म के दूसरे-तीसरे दिन से लेकर नाल सूखकर गिरने तक कभी भी किया जा सकता है। यदि शिशु में किसी पूर्वज की कोई शारीरिक विशेषताएँ स्पष्ट रूप से देखी जा सकती हैं तो उसका नाम वही रख दिया जाता है। यदि यह संभव नहीं होता तो यह जानने का प्रयत्न किया जाता है कि किस पूर्वज ने पुनः जन्म लिया है। यह दो तरह से किया जा सकता है। जिस पूर्वज के जन्म की संभावना रहती है, एक व्यक्ति उसका नाम जोर से लेता है और दूसरा एक मुट्ठी धान निकालता है। सब उपस्थित लोग ध्यान से धान के दानों को गिनते हैं। यदि उनकी संख्या उतनी न हुई तो यह अनुमान किया जाता है कि जिस पूर्वज का नाम लिया गया, उसने पुनः जन्म नहीं लिया। संख्या पूरी होने की स्थिति में बालक को उसी पूर्वज के नाम से पुकारते हैं। बच्चे का नाम निर्धारित करने के लिए अनेक पूर्वजों के नाम से धान निकालना भी आवश्यक हो सकता है। दूसरे तरीके के अनुसार उपस्थित लोग एक बर्तन में पानी और दोनों में कुछ धान लेकर बैठते हैं। किसी पूर्वज का नाम लेकर विपरीत दिशाओं से धान का एक-एक दाना छोड़ा जाता है। यदि ये दाने शीघ्र ही मिल जाते हैं तो बालक को उसी पूर्वज का नाम दे दिया जाता है, नहीं तो किसी दूसरे पुरखे के नाम दाने छोड़े जाते हैं। बालक का नामकरण जन्म-दिन के अनुसार या जन्म के समय की विशेष घटना के आधार पर भी किया जाता है। उदाहरणार्थ इतवार के दिन पैदा हुए बालक का नाम 'इतवारी', अकाल के समय उत्पन्न हुए

शिशु का नाम 'दुकालू' रखा जा सकता है। रेंगमा नागा आदि-जाति में यदि बालक नामकरण के बाद लगातार रोता रहता है, तो यह अनुमान किया जाता है कि नाम उसके उपयुक्त नहीं है, और वह नाम शीघ्र ही बदल दिया जाता है।

वयःसंधि तथा रजोदर्शन का समय व्यक्ति की जीवन-यात्रा में बड़े महत्त्व का होता है।

विवाह

आदिवासी भारत में विवाह के पूर्व तरुण-तरुणियों को पर्याप्त स्वतंत्रता रहती है, और अधिकांश समाजों में यौन-क्षेत्र में वे प्रयोग कर सकते हैं। राजगोंड आदि समूह, जिनकी आर्थिक स्थिति अन्य आदिवासी समूहों की अपेक्षा बहुत अच्छी है और जो आचार-व्यवहार में ग्रामीण हिन्दू समाज के निकट आ गए हैं, अब बालक-बालिकाओं को यौन-स्वच्छन्दता नहीं देते। अन्य समूहों में असंगठित या संगठित रूप से इस प्रकार के अनुभव प्राप्त करने के अवसर रहते हैं। बैगा आदि-जाति में बालकों और तरुणों को यौन-ज्ञान देने के लिए कोई संगठन नहीं होता, किन्तु विवाह के पूर्व ही वे मैत्री के संबंध स्थापित कर उस क्षेत्र का अनुभव तथा ज्ञान पा लेते हैं। बस्तर के मुरिया गोंडों तथा भारत की कतिपय अन्य आदि-जातियों में संगठित 'युवा-गृह' होते हैं जहाँ एकत्रित होकर ग्राम के तरुण-तरुणियाँ रात्रि व्यतीत करते हैं। ये युवा-गृह संगठन तथा अनुशासन की शिक्षा के केन्द्र होने के अतिरिक्त यौन-शिक्षा के केन्द्र भी होते हैं। छत्तीसगढ़ की चोखुटिया भुंजिया आदि-जाति में रजोदर्शन के पूर्व ही कन्या का विवाह एक बाण से कर दिया जाता है। इस रस्म के बाद, पुरुष से विवाह होने के पूर्व ही वह यौन-संबंध स्थापित करे तो वह बड़ा और निंदनीय अपराध नहीं होता।

भारत के आदिवासी समाजों में वर या वधू की प्राप्ति के लिए निम्नलिखित मार्गों में से किसी एक का अवलंबन किया जाता है :

१. **नियमित विवाह** : समाज की प्रचलित रूढ़ियों का ऐसे विवाहों में पालन किया जाता है। भाई और बहनों के बच्चों में विवाह अनेक समूहों में आदर्श माना जाता है। पत्नी की मृत्यु पर उसकी छोटी बहन से विवाह, या भाई की मृत्यु होने के बाद छोटे भाई का उसकी पत्नी से विवाह इसी श्रेणी में आएगा। इनके अतिरिक्त भी आदि-जाति में किन्तु गोत्र के बाहर बहुधा विवाह-संबंध किया जा सकता है। पहले विवाह की शर्तें तय कर ली जाती हैं, बाद में निश्चित परिपाटी के अनुसार विवाह की रस्में पूरी की जाती हैं।

२. **पुरुष और स्त्री का भागकर किया हुआ विवाह** : आदिवासी भारत

में तथा हमारे सामान्य ग्रामों में इस प्रकार के विवाहों के उदाहरण खोजने में अधिक श्रम की आवश्यकता नहीं होगी।

३. अपहरण-विवाह : यद्यपि इस प्रथा का प्रचलन अब आदिवासी भारत में कम हो गया है, तो भी अनेक समूहों में इस सशक्त परंपरा के अवशेष अब भी दिखाई पड़ते हैं। मंडला के गोंडों में, छत्तीसगढ़ के बिन्दा तथा उत्कल की बोंडो आदि-जातियों में इस प्रथा का व्यापक प्रचलन अभी भी पाया जाता है।

४. सेवा-विवाह : यदि वर अनाथ होता है, या उसके माता-पिता साधन-हीन होते हैं तो वह एक निश्चित अवधि तक अपने भावी ससुर के घर काम करता है। उसे वहाँ भोजन और आश्रय तो मिलता ही है, साथ ही परिश्रम के बदले निश्चित अवधि पूरी होने के बाद अपनी ओर से पूरा खर्चा कर ससुर अपनी कन्या का उससे विवाह कर देता है। भारतीय मध्य-प्रदेश के आदिवासियों में इस तरह का 'लामसेड़े' या 'लमसेना' (घर-जमाई) रखने का बहुत रिवाज है। विशेषकर ऐसे लोग, जिनके बेटे नहीं होते केवल बेटियाँ होती हैं, कम-से-कम अपनी एकाध के लिए इस तरह का लड़का अवश्य चुनते हैं।

५. बलपूर्वक गृह-प्रवेश : स्त्री यदि पुरुष से प्रेम करती है और यदि उसकी पत्नी के रूप में उसके साथ रहना चाहती है तो वह 'पैठू' प्रथा के अनुसार बलपूर्वक उसके घर में घुस सकती है। उपर्युक्त नाम का प्रचलन भारतीय मध्य प्रदेश, विशेषकर छत्तीसगढ़ में है। अन्य क्षेत्रों में प्रथा का स्वरूप यही है, नाम भिन्न है। छत्तीसगढ़ में यदि पुरुष पहले स्त्री से विवाह करने का वायदा करता है और बाद में उससे विमुख हो जाता है, या जब स्त्री गर्भवती हो जाती है तो वह विवाह की इस प्रथा का आश्रय लेती है। वह इष्ट पुरुष के घर में घुसकर उसके कपड़े (कुरता, धोती आदि) पहन लेती है, और पुरुष के शरीर पर हल्दी का पानी डाल देती है। पुरुष यदि न भी चाहे तो ऐसी स्थिति में बहुधा वह स्त्री को स्वीकार करने के लिए बाध्य हो जाता है। छत्तीसगढ़ में पुरुष भी कभी-कभी 'सिकवा' के रूप में स्त्री के घर में बलपूर्वक प्रवेश करते हैं। यदि विधवा के पास जमीन-जायदाद होती है किन्तु उसकी देख-रेख करने वाला कोई नहीं होता, तो कोई संपत्तिहीन पुरुष कभी-कभी उसके यहाँ 'सिकवा' के रूप में जाकर रहने लगता है। स्त्री उसका अपमान करती है, उसे निकाल देने की धमकी देती है, किन्तु वह धैर्य से सब-कुछ सहता है। कुछ ही दिन में समाज उसे उस स्त्री के पति के रूप में स्वीकार कर लेता है।

६. विधवा या विवाहित स्त्री से विवाह : मृत बड़े भाई की स्त्री से छोटा भाई तो अधिकारपूर्वक विवाह कर सकता है, किन्तु यदि स्त्री किसी अन्य व्यक्ति से विवाह करना चाहे तो उसके नये पति को उसके पूर्व-पति के परिवार

को कुछ हर्जाना देना पड़ता है । इसी तरह यदि कोई विवाहित स्त्री अपने पति को छोड़कर दूसरे पुरुष के साथ भाग जाय तो उसका पति 'वधू-मूल्य' की रकम के अतिरिक्त कुछ हर्जाना पाने का अधिकारी होता है। छत्तीसगढ़ के गोंड समाज में पर-स्त्री को भगा ले जाने वाले पुरुष से पंचायत के प्रमुख कहते हैं, "तुमने दूसरे आदमी की हंडी फोड़ दी। अब वह किस बर्तन में बनाएगा-खाएगा ? नई हंडी खरीदने के लिए उसे पैसे दो ।"

नियमित विवाह निःसंदेह आदर्श तो होते हैं, किन्तु अनियमित विवाह भी शीघ्र ही समाज की स्वीकृति पा लेते हैं। समाज के प्रधानों को दिया गया एक भोज उन्हें बहुधा नियमित बना देता है। वैरियर एल्विन ने उड़ीसा की बोंदो आदि-जाति में १५० विवाहों की सूक्ष्म छानबीन की। इनमें से केवल पांच नियमित एवं आदर्श 'सेबुंग' प्रणाली के थे, शेष अन्य प्रकार के। 'सेबुंग' प्रणाली के विवाहों में समय और व्यय दोनों की आवश्यकता होती है। युवा-गृह में युवक-युवती का प्रेम, उनके संबंध को माता-पिता की स्वीकृति, रस्म-अदाई के लिए वर-वधू का एक-दूसरे के यहाँ कई बार जाना, नाम-मात्र का 'वधू-मूल्य' और उसके बाद पूर्ण वधू-मूल्य का चुकाया जाना, भेंटों का पारस्परिक आदान-प्रदान, एक भैंसे की बलि, वधू को वर के घर लाने की रस्में, न केवल व्यय-साध्य ही हैं, अपितु वे महीनों तक चलती रहती हैं। इसी विवाह-प्रणाली का एक संक्षिप्त तथा अपेक्षाकृत कम व्यय-साध्य प्रकार भी इस जाति में प्रचलित है। बोंदो लोगों की भाषा में इसे 'दामुंग जंग' विवाह कहते हैं और उड़िया में 'दाल-भात' विवाह। इसमें भी माता-पिता की अनुमति आवश्यक होती है तथा वधू-मूल्य का दिया जाना अनिवार्य होता है। हाँ, भैंसा नहीं काटा जाता और न सेबुंग प्रथा की भाँति अनेक बार वर-वधू एक-दूसरे के यहाँ जाते अथवा भेंटों का पारस्परिक आदान-प्रदान ही करते हैं। इनके अतिरिक्त प्रेमी-प्रेमिका का भाग जाना या बलपूर्वक स्त्री को ले जाने की प्रथाओं का भी प्रचलन है।

नियमित विवाह की प्रचलित प्रथाओं में भिन्न-भिन्न प्रकार की रस्में पाई जाती हैं। ये भिन्नताएँ न केवल भिन्न-भिन्न समूहों में ही मिलती हैं, वरन् एक ही समूह के भिन्न-भिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में वास करने वाले खण्डों में भी पाई जाती हैं। ये अन्तर इतने अधिक होते हैं कि विवाह की विभिन्न रस्मों का उल्लेख भी कठिन हो जाता है।

मृत्यु

मृत्यु मनुष्य की जीवन-यात्रा की अंतिम घटना होती है। आदिवासियों के

मतानुसार व्यक्ति का जीवन मृत्यु से ही समाप्त नहीं हो जाता। मृत्यु व्यक्ति के शव-संस्कार का उचित प्रबंध करने के अतिरिक्त उन्हें उनकी आत्मा के लिए भी समुचित प्रबंध करना पड़ता है। अनेक आदि-जातियों में मृत व्यक्ति की आत्मा का आवाहन किया जाता है। परिवार के शेष पूर्वजों की आत्माओं के साथ घर के एक कोने में उसे भी प्रस्थान दिया जाता है।

आदिवासी भारत की अधिकांश आदि-जातियाँ मृत्यु को एक दुर्घटना मानती हैं, जिसका कारण होता है देवताओं का कोप, रोष, पितरों की आत्माओं का रोष, भूत-प्रेत आदि की बाधा या प्रतिद्वन्द्वियों द्वारा जादू आदि का प्रयोग। शंकास्पद मृत्युओं में उनके कारण की खोज की जाती है, और दोषी को प्रत्यक्ष रूप से मारकर या परोक्ष रूप से जादू आदि के प्रयोग से दण्डित करने का यत्न किया जाता है।

भारत की आदिवासी संस्कृतियों में शव को औषधि आदि के प्रयोग से 'ममी' के रूप में सुरक्षित रखने की प्रथा नहीं है। अधिकांशतः शव को अन्तिम क्रियाओं के लिए तैयार करके या तो उसका दाह-संस्कार कर दिया जाता है या उसे जमीन में गाड़ देते हैं। अधिकांश आदिवासी समाजों में दोनों प्रथाओं का प्रचलन है। सामान्यतः लाश गाड़ी जाती है, किन्तु मृत व्यक्ति के धनवान, प्रभावशाली, शक्ति-सम्पन्न अथवा अति वृद्ध होने की स्थिति में उसका अग्नि-संस्कार किया जाता है। अन्तिम संस्कार के समय शव की स्थिति कैसी हो, उसका सिर किस दिशा में हो, आदि प्रश्नों के संबंध में प्रायः प्रत्येक आदिवासी समूह की अपनी-अपनी धारणाएँ और अपनी-अपनी प्रथाएँ होती हैं। शव-संस्कार के बाद मृत व्यक्ति के दैनिक उपयोग की वस्तुएँ अनेक समूहों में उसकी चिता या कब्र के पास ही छोड़ दी जाती हैं। उदाहरणार्थ कमार आदि-जाति में पुरुष के धनुष-बाण, कुल्हाड़ी, वस्त्र, खाट आदि, स्त्री के सस्ते गहने, तेल का बर्तन, जड़ें खोदने की 'खोनगी' आदि, तथा बच्चों के खिलौने शव-संस्कार के स्थान पर ही छोड़ दिए जाते हैं। मध्य प्रदेश के आदिवासियों में शव-संस्कार के लिए गया समूह, कार्य की समाप्ति के बाद नहाकर एक पंक्ति में, बिना पीछे देखे हुए, गाँव को लौट आता है। गोंड समूह में दाह-संस्कार के समय 'गौ-बलि' की प्रथा थी जो अब भी हैदराबाद राज्य के आदिलाबाद जिले के राजगोंड और वरंगल के कोया लोगों में प्रचलित है। शव-संस्कार के स्थान पर पत्थर के वृत्ताकार अथवा खड़े हुए स्मारक 'मेनहिर', 'डालमेन' आदि बनाने का रिवाज अनेक आदिवासी समाजों में है। निमाड़ की कोरकू आदि-जाति में तथा बस्तर के कतिपय आदिवासियों में खुदाई के सुन्दर काम किये हुए लकड़ी के

स्मारक खड़े किये जाते हैं।

असाधारण ढंग से मरने वालों के लिए शव-संस्कार का ढंग भी साधारण से भिन्न होता है। गर्भावस्था में मरने वाली स्त्री साधारण श्मशान से दूर दफनाई जाती है। इसी तरह शेर द्वारा मारे जाने वाले, बिजली गिरने से मरने वाले, डूबकर मरने वाले या हैजे अथवा चेचक से मरने वालों के अन्तिम संस्कार का प्रबंध भिन्न प्रकार से किया जाता है।

मृत्यु के कुछ दिन बाद शुद्धि-स्नान तथा शुद्धि-भोज होता है। इसका समय और स्वरूप अलग-अलग होता है। मृतक की आत्मा को बुलाने की रस्म जो भारतीय मध्य प्रदेश के आदिवासियों में व्यापक रूप प्रचलित है, विशेष रूप में उल्लेखनीय है। छत्तीसगढ़ के कमारों में 'गाता डूमा' को बुलाने के लिए परिवार और सम्बन्धी परिवारों के सब लोग एकत्रित होते हैं। चावल के आटे का एक चौक पूरा जाता है, और उसके ऊपर सात धागों को बँटकर उसमें ताँबे का एक छल्ला बाँधकर छत से लटका दिया जाता है। पास ही दो दोनों में धान और पानी भरकर रख दिए जाते हैं। ताँबे का छल्ला जिस सूत में बँधा रहता है उसे 'जीवतिया सूत' कहते हैं, और मृत व्यक्ति का जीव उसी के सहारे उतरता है। परिवार का कोई उत्तरदायी सदस्य एक दोने में से थोड़ा पानी और चावल लेकर सात बार अपनी उँगलियों को धागे में ऊपर से नीचे की ओर फिराता है। दूसरे लोग पाँच-पाँच बार ऐसा करते हैं। उसके बाद सब लोग कहना शुरू करते हैं, "ओ मृतात्मा, तुम जहाँ भी हो, आ जाओ। हम तुम्हें बुला रहे हैं। यदि तुम आकाश में हो तो आ जाओ, पृथ्वी में हो तो आ जाओ, यदि तुम्हें धान चाहिए तो हम धान देंगे, चावल चाहिए तो चावल। हमारे पास लौटकर घर में बाल-बच्चों की और जंगल में जानवरों की रक्षा करो। हम बुला रहे हैं, हमारी सहायता करो, हमारी रक्षा करो, हमें कुप्रभावों और जंगली जानवरों से बचाओ" आदि। इसके बाद ही एक छोटा मुर्गा वहाँ छोड़ा जाता है। यदि वह दोने से धान का दाना उठा लेता है तो उसे वहीं काट देते हैं। धान का दाना उठाना ही मृत आत्मा के आगमन की सूचना है। इसी क्षेत्र के गोंडों में आटे का चौक टोकने से ढक दिया जाता है। रात-भर के बाद दूसरे दिन सुबह उसमें सामूहिक रूप से चिह्न देखे जाते हैं। यदि उसम किसी भी प्रकार का चिह्न मिलता है तो परियार के लोग आश्वस्त हो जाते हैं कि मृत व्यक्ति की आत्मा पुनः घर में वास के लिए आ गई।

परिवार के सदस्यों की मृत आत्माएँ उसके जीवित सदस्यों से अधिक अपेक्षा नहीं करतीं, किन्तु अपनी पूर्ण अपेक्षा अथवा अनादर उन्हें सहन नहीं होता। ऐसी स्थिति में वे प्रतिशोध एवं प्रतिकार की भावना से प्रभावित होकर

अपनी उपेक्षा, अवज्ञा तथा अपमान करने वाले निकट संबंधियों को भी दण्डित करने के लिए प्रस्तुत हो जाती हैं।

सामाजिक संगठन के अन्य पक्ष

आदिवासी संस्कृतियों के अंतर्गत समाज-व्यवस्था का संगठन जिन अन्य सिद्धान्तों पर अवलंबित रहता है, उनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं :

१. सामाजिक स्थिति तथा पद।

२. वर्ग तथा जाति।

३. आयु-वर्ग, गुप्त समितियाँ आदि।

सामाजिक स्थिति तथा पद कतिपय समाजों में वर्ग अथवा जाति पर अवलंबित रहते हैं। भारत की आदिवासी संस्कृतियों में सुसंगठित वर्ग एवं जाति वाले समाजों से लेकर, सम्पूर्णतः स्तर एवं वर्गहीन तक प्रायः प्रत्येक प्रकार के समाज मिलते हैं। छत्तीसगढ़ के गोंडों को हम तीन प्रमुख शाखाओं में विभाजित कर सकते हैं—अमात, धुर और उड़िया राजगोंड। इनमें अमात स्थानीय रियासतों के शासक अथवा उनके संबंधी होने के कारण, अपने-आपको कुलीन तथा अन्य गोंड-समूहों की अपेक्षा ऊँचा मानते हैं। इनकी तुलना में खेती, किसानी या मेहनत-मजदूरी करने वाले धुर गोंड सामान्य सामाजिक स्थिति के ही माने जाते हैं। इस तरह एक ही विशाल परिवार की ये दो प्रमुख शाखाएँ, एक ही क्षेत्र में वास करने पर भी, दो स्वतन्त्र आदि-जातियों का रूप ग्रहण कर चुकी हैं। तुलनात्मक दृष्टि से अमातों की समुन्नत आर्थिक स्थिति तथा राज-परिवारों से इनके सम्बन्ध ने उनमें वर्ग-भावना भी भर दी है। उड़िया राजगोंड अपने-आपको अभिजात-वर्ग का मानते हैं, किन्तु भिन्न भाषा-भाषी होने के कारण तथा प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से शासक-वर्ग से सम्बन्धित न होने के कारण वे अमातों से सर्वथा भिन्न एक स्वतंत्र जाति के रूप में ही संगठित हो गए हैं। पूर्वी भारत की आदिवासी संस्कृतियों में आसाम के नागा समूह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। भाषा, रीति-रिवाज और संगठन-सम्बन्धी अनेक भिन्नताएँ इन समूहों में पाई जाती हैं। कतिपय नागा-समूहों में जाति का प्रधान अत्यन्त शक्तिशाली तथा पवित्र माना जाता है। वह जन-साधारण की अपेक्षा सर्वथा भिन्न एवं उच्च माना जाता है। उसका पद तथा उच्च सामाजिक स्थिति उसके वर्ग पर अवलम्बित रहती है। इसके विपरीत अनेक नागा-समूह ऐसे हैं जिनकी समाज-व्यवस्था प्रायः पूर्ण रूप से प्रजातन्त्रात्मक है और जिनमें समाज की गतिविधि का संचालन करने की सत्ता सर्व-साधारण में

निहित होती है। कुछ नागा-समुदायों में सामाजिक-राजकीय प्रश्नों पर अन्तिम निर्णय करने का अधिकार जाति के वयोवृद्धों को होता है। वर्गहीन-जातिहीन समाजों के आदर्श उदाहरण के रूप में हम खाद्य-संकलन करने वाले अथवा आंशिक रूप से खाद्य-संकलन करने वाले तथा आंशिक रूप से अस्थिर, प्राथमिक कृषि करने वाले आदिवासी-समूहों के नाम प्रस्तुत कर सकते हैं। हैदराबाद के चेंचू, मध्य प्रदेश के कमार अथवा दक्षिण के काडर आदि-समाजों में वर्ग-भावना नाम-मात्र को भी नहीं मिलती। इन समूहों में शासक-वर्ग अथवा शासित-वर्ग, 'कुलीन', 'सामान्य' और 'नीच' आदि के भेद प्रयत्न करने पर भी नहीं मिल सकते। प्रायः प्रत्येक स्वतन्त्र आदिवासी समूह अपने सांस्कृतिक वैशिष्ट्य के कारण स्वतंत्र जाति का रूप ग्रहण कर चुका है। इनमें जो समूह बहुसंख्यक हैं उनके अंतर्गत अनेक शाखाएँ तथा उप-शाखाएँ विकसित दिखाई पड़ती हैं, जिनमें से कुछ स्वतंत्र जातियों का रूप ग्रहण कर चुकी हैं। वर्ग-भेद की उपस्थिति अनेक अंशों में जाति के ऐतिहासिक आर्थिक विकास पर अवलंबित रहती है। फिर भी प्रत्येक समाज में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की सामाजिक स्थिति में थोड़ा-बहुत भेद अवश्य पाया जाता है। उच्च सामाजिक स्थिति के लिए अभिजात-वर्ग, अथवा कुलीन एवं संपन्न घराने में पैदा होना आवश्यक नहीं है। जिन समाजों में उपर्युक्त भावनाओं का अभाव होता है उनमें भी स्थिति-भेद तो पाया ही जाता है। आयु और संपत्ति का प्रभाव व्यक्ति की सामाजिक स्थिति पर संसार के प्रायः प्रत्येक समाज में पड़ता है। भारत की प्राथमिक संस्कृतियाँ इस सामान्य नियम की अपवाद नहीं हैं। प्रत्येक आर्थिक एवं सांस्कृतिक स्तर के भारतीय आदिवासियों में आयु तथा अनुभव का आदर किया जाता है। आदिवासी संस्कृतियाँ मौखिक परंपरा पर अवलंबित रहती हैं, और समाज के अनुभवी वृद्ध इस परंपरा के संबंध में अन्तिम मत अधिकारपूर्वक दे सकते हैं। जहाँ एक ओर आयु का आदर होता है, वहाँ दूसरी ओर अत्यन्त वृद्धावस्था में जब कि व्यक्ति की शारीरिक एवं मानसिक क्षमताएँ क्षीण हो जाती हैं, उसका समाज के दैनिक जीवन में अधिक हस्तक्षेप उचित नहीं माना जाता। उदाहरणार्थ, छत्तीसगढ़ की कमार, भुँजिया आदि-जातियों में जहाँ चालीस-पचास वर्ष के व्यक्ति के मत का आदर किया जायगा, सत्तर वर्ष या इससे अधिक आयु के वृद्धों का मत महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर भी लेना आवश्यक नहीं है। अधिक आयु होने पर अधिकांश व्यक्ति समाज की गति-विधियों से दूर एकाकी जीवन बिताते हैं। सम्पत्ति से भी व्यक्ति की सामाजिक स्थिति में निश्चित परिवर्तन होता है। संसार के आदिवासी समाजों में ऐसी संस्कृतियों के अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनमें केवल सम्पत्ति प्राप्त कर लेने से ही

व्यक्ति की सामाजिक स्थिति नहीं सुधर जाती, किन्तु भारत में ऐसे उदाहरणों का अभाव है। हमारी प्रचलित आर्थिक परंपरा पुरातनतम आदिवासियों के जीवन में भी प्रवेश कर गई है। चेचू कमार आदि-जातियों में भी अपेक्षाकृत धनवान व्यक्ति का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव समाज में धनहीन व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक रहता है।

आयु तथा सम्पत्ति के अतिरिक्त व्यक्ति अपनी सामाजिक स्थिति में उन्नति तथा अवनति अन्य माध्यमों से कर सकता है। साधारण से भिन्न व्यक्तियों का स्थान भारत के भिन्न-भिन्न आदि-समाजों में भिन्न प्रकार का होता है। कुछ समाजों में मिरगी रोग से पीड़ित व्यक्ति को दैवी शक्ति से सम्पन्न माना जाता है, तो दूसरे समाजों में ऐसे व्यक्ति को केवल दया और सहानुभूति का अधिकारी समझा जाता है। मध्य प्रदेश के मण्डला जिले में अपनी पाँच पत्नियों को एक पंक्ति में अपने पीछे बाजार ले जाने वाला गोंड कुछ कुतूहल से अवश्य देखा जाता था, किन्तु साधारण से भिन्न होने के कारण उसकी स्थिति और सामाजिक सम्मान एक या दो पत्नी वाले गोंडों से निश्चित रूप से भिन्न थे। सामाजिक स्थिति तथा सम्मान में उन्नति करने की स्पर्धा प्राथमिक समाजों में भी प्रायः उसी परिमाण में पाई जाती है जिस परिमाण में उसे विविध रूपों में हम आधुनिक सभ्यता में देखते हैं।

आयु-वर्ग, गुप्त समितियाँ तथा 'क्लब' आदि का संगठन सर्वथा भिन्न धरातल का होता है।

भारत की आदिवासी संस्कृतियों में आयु-वर्ग के संगठनों का अभाव है। योद्धाओं तथा जादू-टोना करने वालों की गुप्त समितियों के संबंध में भी अब तक कोई विशेष महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रकाशित नहीं हुई। धार्मिक-सामाजिक क्रियाओं के लिए नर-मुण्ड प्राप्त करने वाले नागा आदि-जाति के गुप्त संगठन तथा उत्कल की बोंदो आदि-जाति में प्रचलित 'मेरिया' नर-बलि-प्रथा के गुप्त संगठन के बारे में हमारी जानकारी प्रायः नहीं के बराबर है। मध्य प्रदेश के मण्डला-क्षेत्र अथवा छोटा नागपुर क्षेत्र की आदिवासी नारियों में पुरुषों के प्रति विद्रोह करने की भावना समय-समय पर विकसित हुई और उन्होंने उसे व्यक्त करने के लिए पुरुषों के प्रति बलपूर्वक अपना रोष भी प्रकट किया, किन्तु इन विद्रोहों के संगठन, संचालन आदि के संबंध में कोई महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध नहीं हो सकी है। भारत के आदिवासी समाजों में 'युवा-गृह' की संस्था का वितरण हमें उत्तर से दक्षिण तक मिलता है। विभिन्न नामों से संबोधित यह युवा-गृह 'क्लब' तो होता ही है, उसके संगठन में हमें आयु-वर्ग तथा गुप्त समितियों के

कतिपय तत्त्व भी दिखाई पड़ते हैं। शैशव से प्रवेश करके व्यक्ति अपने बालक तथा किशोर जीवन का एक अंश इन गृहों में बिताता है। यौवन-काल के कुछ दिन भी वह यहीं बिताता है और विवाह के बाद वयस्कों के साथ समाज के नियमित उत्तरदायित्व स्वीकार करने के बाद वह प्रायः 'युवा-गृह' की सदस्यता का परित्याग करता है। इस धरातल के संगठनों में भारतीय आदिवासियों का यही संगठन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, अतः उसके विस्तार-स्वरूप एवं महत्त्व पर विस्तार से विचार करना आवश्यक है।

'युवा-गृह' अथवा 'जातीय गृह' संस्था अपने अत्यन्त विकसित रूप में उत्तरी बर्मा और आसाम के पर्वतीय भागों में वितरित दिखाई पड़ती है। पुरुषों और स्त्रियों के भिन्न गृह होते हैं। पुरुषों के गृह, युद्ध और शांति में जाति के सामाजिक और धार्मिक जीवन का संगठन करते हैं। युवतियों के गृहों का महत्त्व अपेक्षाकृत कम होता है। वे सामान्यतः युवक-युवतियों के मिलन-स्थल के रूप में व्यवहृत होते हैं। नागा संस्कृतियों में इन 'मोरुंग' संगठनों का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। मुण्डा तथा द्रविड़ भाषाएँ बोलने वाले कतिपय आदिवासी समाजों में यह संस्था हमें एक भिन्न रूप में विकसित दिखाई पड़ती है। बिहार, उत्कल तथा मध्य प्रदेश के बस्तर ज़िले में कुछ स्थानों पर इन गृहों का उपयोग ग्राम के सामूहिक कार्यों तथा गाँव के अतिथियों के विश्राम-स्थान के रूप में भी होता है, किन्तु उनके संगठन का मुख्य उद्देश्य होता है गाँव के बालक-बालिकाओं तथा अविवाहित तरुण-तरुणियों के रात बिताने के लिए आश्रय का प्रबन्ध करना। इन गृहों में तरुण-तरुणियाँ सामाजिक धरातल पर एक-दूसरे से परिचय तथा घनिष्ठता बढ़ा सकते हैं, तथा यौन-अनुभव एवं शिक्षा भी ग्रहण कर सकते हैं। बस्तर की मुरिया आदि-जाति के 'गोतुल' संगठन में युवक-युवतियों के भिन्न गृह के कार्यों का एकीकरण देखा जा सकता है। यह बालक-बालिकाओं का स्वतंत्र राज्य होता है, जिसके माध्यम से वे ग्रामीण समाज-संगठन में एक सुनिश्चित स्थान प्राप्त करते हैं। समूह-नृत्य तथा गायन, मनोरंजन के अन्य साधनों का संगठन तथा जातीय कार्यों की ओर संगठित रूप से आदि-जाति के तरुणों को उन्मुख करना इस संस्था का प्रमुख उद्देश्य होता है। दक्षिण-पश्चिम भारत की अनेक अर्ध-स्थिर आदि-जातियों में इस प्रकार के लड़के-लड़कियों के भिन्न संगठन होते हैं। उनके आंतरिक संगठन के संबंध में अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। उनमें भी बस्तर की मुरिया-गोतुल की भाँति नेताओं का निर्वाचन होता है। नीलगिरि-क्षेत्र की कोटा आदि-जाति में युवक-युवतियों के रात्रि-विश्राम के लिए अलग मकान निश्चित कर दिए जाते हैं। अविवाहित तरुण-तरुणियों

के अतिरिक्त ऐसे युवक-युवतियाँ भी यहाँ एकत्रित होते हैं जिनके कोई बच्चे नहीं होते। इन गृहों में भी गायन-वादन तथा मनोरंजन का समुचित प्रबन्ध होता है। प्रेम के पारस्परिक आदान-प्रदान के लिए भी इन गृहों में पर्याप्त अवसर प्राप्त हो जाता है। उत्तर प्रदेश के गढ़वाल-क्षेत्र की भोटिया जाति में इस प्रकार की 'रंग बंग' नामक संस्था का प्रचलन दिखाई पड़ता है। इसका संगठन ग्रामीण युवतियाँ करती हैं। इनका उद्देश्य भी ग्रामीण तरुणियों और तरुणों को एकत्रित होने का अवसर देना तथा उनके सामूहिक मनोरंजन का प्रबंध करना होता है। भारत में इन सामूहिक गृहों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के 'क्लब' या गुप्त संगठनों का प्रचलन नहीं है।

चार

धर्म

आदिवासी भारत में प्रचलित, अदृश्य जगत् एवं उसकी शक्तियों से संबंध रखने वाले लोक-विश्वासों का विश्लेषण करने से हमें उनमें प्रायः सभी प्रकार के नृतत्त्वीय विश्वास मिलते हैं। एनिमिज़्म अथवा जीववाद, एनिमेटिज़्म अथवा जीवीवाद, 'पितृ-पूजा आत्मा-वस्तु में विश्वास तथा अनेकेश्वरवाद आदि धार्मिक विश्वास भारत-भूमि में बिखरी अनेक आदि-जातियों में अपने विभिन्न स्वरूपों में दिखाई पड़ते हैं।

एनिमिज़्म की श्रेणी में रखे जाने योग्य विश्वास भारत के प्रायः किसी भी आदिवासी समूह में बड़ी सरलता से पाए जा सकते हैं। अदृश्य, अव्यक्त, अभौतिक तथा आत्मिक, इस प्रकार की शक्तियों में प्रायः प्रत्येक भारतीय आदिवासी समूह विश्वास रखता है। यद्यपि भारत में सम्भवतः एक भी समूह ऐसा नहीं है जो संपूर्ण रूप से यह धारणा रखता हो कि मनुष्य जन्म से मृत्यु तक अदृश्य आत्माओं, प्रेतों और शक्तियों से घिरा रहता है, और जिस पर नई धार्मिक विचार-धाराओं का प्रभाव ही न पड़ा हो, फिर भी प्रायः प्रत्येक आदिवासी संस्कृति के किसी-न-किसी पक्ष में उक्त श्रेणी के विचारों की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है। उदाहरणार्थ छत्तीसगढ़ के कमारों के अनुसार चट्टान, पहाड़, पेड़, और नदियाँ, ये सब जीवयुक्त होते हैं। जीवयुक्त होने के साथ-ही-साथ इनमें अन्य जीवोचित गुण-दोष भी होते हैं। ये प्रसन्न भी हो सकते हैं, कुपित भी। नदी के बीचों-बीच खड़ी एक चट्टान के संबंध में कमारों के एक समूह ने इन पंक्तियों के लेखक को बताया कि वे उस चट्टान को नियमित रूप से बलि और भेंट देते थे, इसीलिए वह उन पर प्रसन्न थी। एक रात को उस समूह के एक प्रमुख व्यक्ति से सपने में चट्टान ने कहा, "मैं भूखी हूँ। अपनी बलि लूंगी। अपने

गाँव को सावधान कर दो।" गाँव में दूसरे ही दिन बात फैल गई, और गाँव वाले नदी की ओर गये ही नहीं। संध्या होते ही समाचार मिला कि समीप के गाँव के तीन व्यक्ति चट्टान के पास एक भँवर में डूबकर मर गए। मुझे यह घटना बताने वाले व्यक्ति का पूर्ण विश्वास था कि उस गाँव ने तीन वर्ष तक चट्टान को भेंट-पूजा नहीं दी थी, इसीलिए कुपित होकर उसके 'जीव' ने उस गाँव के आदमियों से बदला ले लिया। मिर्जापुर के आदिवासी कोरवा लोगों के संबंध में मजुमदार ने लिखा है कि उनके लोक-विश्वास के अनुसार फसल, वर्षा तथा गाय-बैल आदि का नायकत्व करने वाली आत्माएँ होती हैं जो कोरवा आदि-जाति का अन्य समवर्ती आदि-जातियों, जाति के पुजारी तथा जाति के नायक आदि के प्रति दृष्टिकोण निर्धारित करती हैं।

इसी तरह ऐनिमेटिज्म की श्रेणी में आने वाले विचार भी हमें आदिवासी भारत के अनेक समूहों में दिखाई पड़ते हैं। इस मत के अनुसार अदृश्य जगत् में एक अभौतिक, अव्यक्तिक एवं जीव-तत्त्व सरीखी शक्ति होती है, जो सजीव एवं निर्जीव पदार्थों पर अपना प्रभाव डालती है, और यदि उचित स्थिति में उसका ठीक उपयोग करने का प्रयत्न किया जाय तो वह आश्चर्यजनक फल देने में समर्थ हो सकती है। छोटा नागपुर के अनेक आदिवासी समूहों में 'वोंगा' नामक इस प्रकार की अदृश्य शक्ति में विश्वास पाया जाता है। वोडिंग ने संथाल धर्म के विषय में लिखते हुए कहा है कि 'वोंगा' प्रत्येक प्रकार की ऐसी आत्माओं को कहते हैं जिनकी पूजा जाति द्वारा की जाती है। मुंडा आदि-जाति पर लिखते हुए शरत्चन्द्र राय ने इस विषय का अधिक स्पष्टीकरण किया है। उनके मतानुसार 'वोंगा' शब्द से 'आत्मा' और 'देवता' दोनों का बोध होता है। बिहार और छोटा नागपुर की आदिवासी संस्कृतियों पर उपलब्ध साहित्य के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि 'वोंगा' शब्द के अर्थ की गहराई तक गये बिना ही लेखकों ने अनेक भिन्न अर्थों में उसका उपयोग किया है। मजुमदार ने 'हो' आदि-जाति-सम्बन्धी अपने ग्रन्थ में तथा उसके बाद एक स्वतन्त्र निबन्ध में इस विषय पर विस्तार से चर्चा की है। उनके मतानुसार छोटा नागपुर क्षेत्र की आदि-जातियों में 'वोंगा' शब्द से स्पष्टतः एक अदृश्य शक्ति का बोध होता है। वे तो 'हो' धर्म को ही 'वोंगाइज्म' या 'वोंगावाद' कहने के पक्ष में हैं। यह शक्ति चल और अचल, जीवित और जड़, दोनों श्रेणियों के पदार्थों में पाई जाती है। यदि किसी वृक्ष में उनके अनुसार वोंगा का वास हो तो वे स्वयं उसे नहीं काटेंगे पर यदि कोई अन्य व्यक्ति किसी तरह उस वृक्ष को हानि पहुँचा भी दे तो वह वोंगा नष्ट नहीं होगा। ऐसी स्थिति में वह वोंगा संसार

में अन्यत्र फैली समान-गुण-धर्मी शक्ति में समा जायगा। समय में अनन्त और सीमा में चारों ओर फैले 'बोंगा' की शक्ति अमर्यादित होती है। इसका कोई विशेष रूप या आकार नहीं होता। बोंगा पर्वत में निवास कर सकता है, किन्तु स्वयं पर्वत बोंगा नहीं होता। इसी तरह नदी अथवा सूर्य के प्रकाश में बोंगा का वास हो सकता है, अपने-आप में वे बोंगा नहीं होते।

'आत्मा-वस्तु' में विश्वास और 'पितृ-पूजा' मूल रूप से एक ही कोटि के लोक-विश्वास के दो भिन्न रूप हैं। मृत्यु के बाद मानव का निष्क्रिय एवं जड़ हो जाना तथा स्वप्न की अवस्था में भौतिक शरीर के एक स्थान पर जड़ रूप में पड़े रहने पर भी किसी आन्तरिक तत्त्व का बाह्य जगत् में जाकर उसके अन्य तत्त्वों के साथ सम्पर्क में आना—ये सम्भवतः मानव के 'आत्मा-वस्तु'-सम्बन्धी विश्वासों को जन्म देने के मूल कारण हैं।

भारतीय मध्यदेश की आदि-जातियों में 'जीव'-सम्बन्धी धारणाएँ बहुतायत से मिलती हैं। उदाहरणार्थ, छत्तीसगढ़ की कमार और भुंजिया आदि-जातियों में अधिकांश स्वप्नों के संबंध में यह विश्वास है कि वे व्यक्ति के 'जीव' के स्वतन्त्र एवं पृथक् अनुभव होते हैं। मनुष्य का शरीर जब निद्रा-मग्न होकर विश्राम करता है तो उसका चंचल जीव बाहरी दुनिया की सैर करना चाहता है। उनकी दृष्टि में स्वप्न भी उतने ही यथार्थ होते हैं जितने जागृत स्थिति में मनुष्य-शरीर के प्रत्यक्ष अनुभव। अंतर केवल इतना है कि एक स्थिति में अनुभूति शरीर को होती है, दूसरे में जीव को। स्वयं जीव के स्वरूप और गुणों के संबंध में अनेक धारणाओं का प्रचलन है। कमारों के अनुसार मृत व्यक्ति का शरीर तो 'मढ़ी' बनकर श्मशान में वास करने लगता है, किन्तु उसका 'जीव' सीधा भगवान् के पास चला जाता है। 'मढ़ी' की अपनी स्वतंत्र चेतना होती है, और वह अन्य जीवों को हानि पहुँचा सकती है। परिवार के लोग जब 'जीव' का आवाहन करते हैं तो वह 'गाता डूमा' के स्थान पर, जहाँ अन्य पुरखों के जीव भी वास करते हैं, आकर रहने लगता है। कतिपय अन्य समूहों में विश्वास किया जाता है कि व्यक्ति की दो आत्माएँ होती हैं—एक बाह्य, दूसरी आन्तरिक। एक सीमा तक उक्त धारणा और कमार लोक-विश्वास में हमें साम्य दिखाई पड़ता है। स्वप्न आदि में जीव कभी-कभी अस्थायी रूप से शरीर से बाहर जाता है, और कुछ समय बाद वापस आ जाता है। संभवतः मृत्यु भी अस्थायी हो, इस भावना से प्रेरित होकर नीलगिरि-क्षेत्र के टोडा और छोटा नागपुर के 'हो' समूहों में दो प्रकार की अन्तिम क्रियाएं होती हैं—कच्ची और पक्की। मृत्यु के बाद तुरंत ही कच्ची अन्त्येष्टि-क्रिया

होती है, और पर्याप्त समय बीत जाने के बाद पक्की। तुलनात्मक दृष्टि से दूसरी क्रिया बड़ी महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। 'हो' आदि-जाति में जीव के बोंगा नामक अदृश्य शक्ति में मिल जाने के उपलक्ष्य में इस क्रिया के समय ढोल बजाए जाते हैं और उत्सव मनाया जाता है।

पितरों के 'जीव' को संतुष्ट रखना तथा उन्हें आदरपूर्वक वापस बुलाकर घर में स्थान देना भारतीय मध्यदेश के अनेक आदिवासी समूहों में आवश्यक माना जाता है। छत्तीसगढ़ के आदिवासियों में जहाँ भगवान् और अन्य देवी-देवताओं की पूजा की जाती है, वहीं उनके धार्मिक जीवन में 'गाता डूमा' माता और पितरों की आत्माओं का भी महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। छत्तीसगढ़ के कमार, भुंजिया तथा धुर, अमात और उड़िया गोंड, प्रायः प्रत्येक आदिवासी समूह में मृत्यु के कुछ समय बाद सुनिश्चित रस्मों द्वारा मृत व्यक्ति की आत्मा का आवाहन किया जाता है, और घर के एक विशेष स्थान पर उन्हें रखा जाता है।

त्योहारों, उत्सवों और संस्कारों के अवसर पर अन्य देवी-देवताओं के साथ 'डूमा' को भी धूप, बलि, भेंट आदि दी जाती हैं, और उन्हें प्रसन्न रखने का प्रयत्न किया जाता है। अवज्ञा और अनादर से जिस प्रकार देवी-देवता रुष्ट हो जाते हैं, उसी तरह 'डूमा' भी क्रोधित होकर परिवार पर संकट डाल सकते हैं।

भारत की आदिवासी संस्कृतियों में 'सर्वशक्ति-सम्पन्न' देव तथा उसके रूप, गुण और कार्य के संबंध में कौनसी धारणाएँ पाई जाती हैं, इस प्रश्न का उत्तर नृतत्व के नवीन ग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण स्थान पाता जा रहा है। असंदिग्ध रूप से केवल एकेश्वरवाद के सिद्धांत में विश्वास करने वाला आदिवासी समूह भारत में मिलना कठिन है। यदि ऐसा कोई समूह यहाँ रहा भी हो तो संस्कृति-सम्पर्क की नई स्थिति में अनेक देवी-देवताओं पर विश्वास रखने वाली ग्रामीण हिन्दू संस्कृति के प्रभाव से उसके धार्मिक विश्वासों का स्वरूप बदल गया होगा। हमारे आदिवासी समाजों में देवताओं में भी स्तर-भेद पाया जाता है। उत्कल की बोंदो आदि-जाति की परंपरा के अनुसार 'महाप्रभु' सर्वशक्तिमान तथा अदृश्य जगत् के अमर देवताओं का प्रमुख स्थान होता है। महाप्रभु नाम नया है तथा स्पष्टतः उड़ीसा के हिन्दुओं के प्रभाव से बोंदो पर्वतों में पहुँचा है। वास्तविक नाम 'सिंगी अरके' या 'सिंह अरके' है जो संथालों के सिंग बोंगा से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। बोंदो सूर्य को पृथ्वी का रचनाकार तथा अपना मुख्य देवता मानते हैं। अन्य छोटे देवता, दैत्य, पितरों की आत्माएँ आदि निश्चित रूप से 'सिंगी अरके' का नेतृत्व एवं प्रभुत्व स्वीकार

करती हैं। 'माता' और पितरों के अतिरिक्त छत्तीसगढ़ के कमार अनेक देवताओं पर विश्वास करते हैं। उनके अनुसार अपनी जटा में पृथ्वी और आकाश को रखने वाले महादेव सबसे बड़े देवता हैं, पर वे मनुष्य के कार्यों में सामान्यतः हस्तक्षेप नहीं करते, इसलिए उनकी विशेष पूजा नहीं की जाती। महादेव के नीचे 'भगवान्' का स्थान है। मरने के बाद व्यक्ति का जीव भगवान् के पास जाता है; और वही अपने पास के जीवों को कहीं जाकर जन्म लेने की आज्ञा देते हैं। इन दो के अतिरिक्त ठाकुरदेव, दूल्हादेव आदि अनेक स्थानीय देवताओं की भी वे पूजा करते हैं। आसाम के मातृ-प्रधान खासी समाज में इस प्रकार सबसे बड़े देव का नाम 'युब्लेइ नोंग-था' है। स्त्री-प्रधान समाज में इस देव की जो कल्पना की गई है, उसके अनुसार 'युब्लेइ नोंग-था' लैंगिक रूप से स्त्री और पुरुष दोनों है।

धर्म के व्यावहारिक पक्ष

भारत की आदिवासी संस्कृतियों में धर्म के व्यावहारिक रूप पर विचार करने से पूर्व उनके धार्मिक विश्वासों के एक अन्य पक्ष का उल्लेख आवश्यक है। जादू-टोना आदि में विश्वास अदृश्य जगत् की शक्ति-सम्पन्न, अज्ञात शक्तियों संबंधी विश्वासों के साथ अविभाज्य रूप से उनका संबंध है। जादू-टोना अनिवार्यतः आदिवासी धर्म का अंग नहीं है। इसे उसके अदृश्य शक्तियों-संबंधी विश्वास का एक विशेष अंग मानना अधिक उपयुक्त होगा।

भारत की प्रायः प्रत्येक आदिवासी संस्कृति में जादू-टोने में विश्वास पाया जाता है। सामान्य रूप से किसी कार्य को पूरा कर लेने की क्षमता जब व्यक्ति अथवा समूह में नहीं रहती तब वह इन क्रियाओं का सहारा लेता है। यह जादू-टोना अच्छा भी होता है और बुरा भी।

जादू-टोनों का प्रयोग तीन तरह से किया जा सकता है। विशेष फल की प्राप्ति का इच्छुक व्यक्ति स्वयं उसका प्रयोग कर सकता है, या वह इन क्रियाओं के किसी विशेषज्ञ से उसका प्रयोग करा सकता है। अनेक स्थितियों में इन दोनों में पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता होती है। ऐसी स्थिति में विशेषज्ञ के आदेशानुसार व्यक्ति कार्य करता है। इन क्रियाओं के भी तीन मुख्य रूप होते हैं। सबसे सरल उपाय है किसी शक्ति-संपन्न वस्तु के धारण-मात्र से अभीष्ट सिद्धि का प्रयत्न करना। जड़ी-बूटी, देवी-देवताओं की स्पर्श की हुई वस्तुएँ, विशेष स्थान की मिट्टी, विशेष स्थान का पानी, विशेष पक्षियों के पंख आदि की उपयोगिता के संबंध में विभिन्न समुदायों के अपने निश्चित

मत होते हैं। इन वस्तुओं में लोगों को नाश करने की क्षमता होती है। वे स्नेह-भाव भी उत्पन्न कर सकती हैं और शत्रु भी। यदि किसी व्यक्ति को इन वस्तुओं के गुण और स्वभाव का ज्ञान है तो वह स्वयं उनका उपयोग कर सकता है, अन्यथा वह किसी जादूगर या टोटके वाले से उन्हें प्राप्त करता है। अनेक प्रकार के तावीज, टोटके आदि इसके उदाहरण हैं। सांकेतिक रूप से विशेष क्रियाएँ करके उनके परिणामस्वरूप समानान्तर फल की प्राप्ति या प्रयत्न, इन क्रियाओं का दूसरा रूप है। भारतीय मध्यदेश के अनेक आदिवासियों में गर्भवती स्त्री के शिशु-जन्म के समय बच्चा जल्दी हो, इसलिए उसके गले में किसी ऐसे वृक्ष की लकड़ी का एक टुकड़ा पहना देते हैं जिस पर बिजली गिरी हो। यदि शिशु-जन्म के समय देर होती है तो जच्चा को तेज धार का पानी पिलाया जाता है, या उसे मछली का शोरबा पीने को दिया जाता है। बिजली द्रुत गति की प्रतीक है। बिजली-गिरे वृक्ष की लकड़ी बाँधकर जिस समानान्तर फल की अपेक्षा की जाती है वह है शिशु का शीघ्र जन्म। ठीक इसी भाँति तेज धार का पानी या मछली भी गति और चंचलता के प्रतीक हैं। उन्हें देखकर भी समानान्तर फल की अपेक्षा करना स्वाभाविक ही है। मरण की तांत्रिक क्रियाओं में शत्रु अथवा प्रतिस्पर्धी की मिट्टी या लकड़ी की मूर्ति बनाई जाती है। मंत्र-पाठ तथा विशेष रस्मों के साथ उसे पानी में सड़ने, गलने या किसी अन्य तरह से नष्ट होने को छोड़ देते हैं। जैसे-तैसे वह मूर्ति धीरे-धीरे गलती जाती है, यह अपेक्षा की जाती है कि शत्रु की जीवन-शक्ति भी क्रमशः उसी अनुपात में क्षीण होती जायगी और अन्त में वह नष्ट हो जायगा। जादू-टोनों की क्रियाओं का तीसरा रूप है विशेष शब्द-समूह अथवा मंत्रों के पाठ से निश्चित फल की प्राप्ति। यह उपाय सामान्यतः सर्वसाधारण के लिए सुलभ नहीं होता और इसके लिए विशेषज्ञों की सहायता आवश्यक होती है। इस मंत्र-शक्ति का प्रयोग भी भले और बुरे दोनों प्रकार की फल-प्राप्ति के लिए किया जाता है।

छत्तीसगढ़ के कमार अथवा भुँजिया समूह आदिवासी संस्कृति के अस्थिर कृषि-धरातल पर जीवन-यापन करते हैं। इन दोनों आदि-जातियों में दो तरह के 'बैगा' होते हैं। गाँव के साधारण बैगा को वे 'डिह बैगा' कहते हैं। डिह बैगा का मुख्य काम होता है गाँव के पुजारी के रूप में गाँव की ओर से की गई संयुक्त पूजा का संचालन। यदि किसी स्थान पर नया गाँव बसाना होता है तो 'डिह बैगा' पहले यह देख लेता है कि उस स्थान पर भूत-प्रेत, देवी-देवता, मसान-चुड़ैल आदि का वास तो नहीं है। प्रति वर्ष धान बोना शुरू करने से

पहले गाँव की ओर से एक रस्म की जाती है, जिसमें वैगा अपने मंत्र-पाठ के साथ वलि के वकरे के खून से सानकर धान के बीज चारों दिशाओं में विखेर देता है। इससे यह आशा की जाती है कि चारों दिशाओं में खेती अच्छी होगी। इसी तरह वह गाँव के खेतों की सीमाएँ अपने मंत्र से वाँध देता है। यह विश्वास किया जाता है कि इस तरह मंत्रों से वाँधे गए खेतों में जंगली जानवर नहीं घुस सकते और न आग से ही फसल की हानि हो सकती है। विशेष शक्ति-संपन्न वैगा तो यह भी दावा करते हैं कि वे जिस खेत को वाँध दें उसमें चोरी की नीयत से घुसकर कोई आदमी भी सही-सलामत नहीं लौट सकता। इनके अतिरिक्त 'डिह वैगा' के पास भूत-प्रेत, चुड़ैल, देवी-देवता या पितरों की वाधाओं से ग्रस्त लोग भी आते हैं। अपनी ओर से डिह वैगा पूरा प्रयत्न करता है, परन्तु इस क्षेत्र में न उसका अधिक सम्मान होता है और न लोग उसका अधिक विश्वास ही करते हैं। ऐसे लोग वहुधा अपेक्षाकृत अधिक ख्याति-प्राप्त 'गुनी' (गुणवान) वैगा लोगों के पास जाते हैं। कोई भी व्यक्ति 'गुनी' दो तरह से हो सकता है। सर्वप्रथम किसी चमत्कारिक शक्ति से गुण पाकर अथवा किसी गुनी द्वारा उसकी कला सीखकर। उपर्युक्त आदि-जातियों के जिन अधिकांश गुनी वैगा लोगों से मेरा व्यक्तिगत परिचय है, उन्हें अपनी शक्ति चमत्कारिक ढंग से प्राप्त हुई थी, उदाहरणार्थ माता या वुखार की वेहोशी में चमत्कारिक ढंग से देवाताओं से गुण पाकर रात के समय आये हुए किसी देवी-स्वप्न में या सुनसान जंगल में किसी अदृश्य शक्ति द्वारा कान में कहे गए शब्द सुनकर। ये वैगा लोग अधिक शक्ति-संपन्न माने जाते हैं। उनकी दक्षिणा भी अधिक होती है। वे भूत-प्रेत की वाधाएँ सहज ही दूर कर देते हैं। हिस्टीरिया, पागलपन आदि में संकेत-शक्ति के व्यापक मानसिक प्रभाव से मरीज को अच्छा करते हुए मैंने कई वैगाओं को देखा है। ऐसे भूत, जो सामान्य डिह वैगा की वात नहीं सुनते, गुनी के मंत्र के प्रभाव से गाँव की सीमा से अलग किये जा सकते हैं। कभी-कभी आत्माएँ शेर, चीते या रीछ का रूप धारण कर अपनी वलि खोजती फिरती हैं। उन्हें भी गुनी वाँध सकता है। जव डिह वैगा या गुनी के सामने इस तरह का कोई मामला आता है तो वह पहले उसके कारण को भी भली भाँति समझने का प्रयत्न करता है, वाद में उसके निराकरण का यत्न करता है। कारण समझने का प्रयत्न वह इन तीन उपायों से करता है—जोत देखना, सूप वजाना और धान गिनना। जोत देखने के लिए वैगा अपने सम्मुख एक दीया रखकर वैठता है। पहले वह अपने मंत्र पढ़ लेता है, उसके वाद दीये की ज्योति को एक-टक देखता हुआ एक के वाद एक संभावित कारणों के नाम लेता जाता है। जैसे

ही वह बाधा या संकट के वास्तविक कारण का नाम लेता है, दीये की लौ में कम्पन होने लगता है। बैगा पाँच बार उन कारणों की पुनरावृत्ति उसी भाँति करता है। यदि कम-से-कम तीन बार दीये की लौ में किसी एक कारण का नाम लेते समय कंपन हो, तो यह विश्वास कर लिया जाता है कि कष्ट का कारण वही है। दूसरे उपाय की स्थिति में बैगा सूप में धान लेकर बैठ जाता है और मंत्र पढ़ता हुआ सूप में एक हाथ चलाता जाता है। क्रमशः वह कष्ट के संभावित कारणों में से एक-एक का नाम लेता है। उचित कारण का नाम आते ही देवी-शक्ति के चमत्कार से सूप बैगा के हाथ को हल्का-सा धक्का देता है। इसे 'सूप बजाना' कहा जाता है। 'धान गिनना' उपर्युक्त दोनों विधियों से कुछ भिन्न होता है। मंत्र-पाठ के बाद प्रत्येक संभावित कारण के नाम से बैगा सूप में से दाने निकालकर उनके तीन-तीन या पाँच-पाँच छोटे-छोटे ढेर बनाता है। यदि तीनों ढेरों में से दो और पाँच में से तीन पूरे हों तो यह समझा जाता है कि जिस कारण के नाम से ये ढेर निकाले गए थे, उसी ने बाधा उत्पन्न की थी। यदि अधिकांश ढेर ऊने निकलते हैं तो अन्य कारणों के नाम से पुनः धान गिनने का उपक्रम किया जाता है।

बाधा का कारण ज्ञात हो जाने पर उसके निराकरण का उपाय किया जाता है। पितर, देवी-देवता आदि तो भेंट-बलि लेकर अथवा समय-समय पर पूजा-पाठ आदि का आश्वासन पाकर ही मान जाते हैं। भूत-प्रेत, चुड़ैल आदि को निकालकर गाँव के बाहर कहीं दूर लोहे की लम्बी कील से गाड़ देना आवश्यक होता है। ये गुनियों के उचित कार्य हैं और इन्हें हम 'संरक्षक जादू' की श्रेणी में रख सकते हैं। शत्रु-भाव से कभी-कभी 'विनाशक जादू' का उपयोग भी किया जाता है। ये प्रयोग अधिकांशतः शत्रु की मृत्यु, उसकी फसल या जानवरों के नाश आदि के लिए किये जाते हैं। प्रेम में प्रतिस्पर्धी की असफलता तथा अपनी विजय के लिए भी इन उपायों का सहारा लिया जा सकता है। इन प्रयोगों में बैगा मंत्र-प्रयोग के साथ लाक्षणिक क्रियाएँ करता है और शत्रु पर समानान्तर फल होने की आशा करता है।

विनाशक जादू की चर्चा करते समय छत्तीसगढ़ की 'टोनही' या टोना करने वाली स्त्रियों का उल्लेख भी आवश्यक है। यह स्त्रियों की एक विशेष श्रेणी है। ऐसा कहा जाता है कि मसान में एक विशेष प्रकार की साधना करके ये स्त्रियाँ विशेष विनाशक शक्ति प्राप्त करती हैं। सोते हुए व्यक्ति का खून चूसकर अशक्त और निर्जीव कर देना, बालकों के कोमल माँस के भोजन की आशा में अपनी कुदृष्टि से उनका अन्त करना, तथा अपनी भूख अधिक बढ़

जाने पर गाँव में हैज़ा आदि विशेष प्रकार की बीमारियों का प्रकोप कराने की विशेषज्ञता इन स्त्रियों को प्राप्त रहती है। बैगा पहले तो अपने अधिक शक्तिशाली मंत्रों के प्रभाव से टोनहियों के संकट को दूर करने का यत्न करते हैं। यदि वे अपने प्रयत्नों में सफल नहीं होते तो टोनही स्त्री का पता लगाकर उसे मारते, पीटते और बाँध देते हैं।

स्थानाभाव के कारण यहाँ भारत के अन्य आदिवासी क्षेत्रों में प्रचलित जादू-टोनों के भिन्न-भिन्न प्रकारों का विस्तृत उल्लेख संभव नहीं है। इन विश्वासों और क्रियाओं का मूल ढाँचा प्रायः वही है जो ऊपर की पंक्तियों में वर्णित किया जा चुका है। यद्यपि क्रियाओं के ढंग में स्वभावतः अनेक स्थानीय अन्तर पाए जाते हैं, फिर भी यह उल्लेखनीय है कि अनेक क्षेत्र इस दिशा में अनावश्यक ख्याति या कुख्याति प्राप्त कर लेते हैं। 'बंगाल का जादू' या कामरूप में होने वाली अनहोनी बातों की अनेक कहानियाँ भारत-भर में प्रचलित हैं। उत्तर प्रदेश की थारू आदि-जाति अपने जादू के लिए बदनाम है। इस जाति की स्त्रियाँ बड़ी शक्ति-संपन्न मानी जाती हैं। थारू स्त्रियों का कहना है कि वे केवल संरक्षक जादू जानती हैं और अपने क्षेत्र की अनेक विनाशक शक्तियों से बचने के लिए तरह-तरह के टोटके करती हैं, तावीज पहनती हैं और मंत्रों का उपयोग करती हैं। परन्तु उनके सम्बन्ध में अनेक समवर्ती आदि-जातियों का मत है कि वे असाधारण शक्तिशाली होती हैं। वे आत्माओं और देवी-शक्तियों को किसी गाँव के विरुद्ध कर सकती हैं। यह भी कहा जाता है कि वे अपनी दृष्टि-मात्र से दूध-दही को विषाक्त कर सकती हैं। उनकी नज़र से बच्चा बीमार हो जायगा और यदि वे मंत्र प्रयोग करें तो कोई भी व्यक्ति खून की कै करने लगेगा या हैज़े अथवा आँव से पीड़ित हो जायगा। तराई क्षेत्र में लोगों का विश्वास है कि थारू स्त्रियों के जादू को थारू स्त्रियाँ ही दूर कर सकती हैं। इसका एक परिणाम अवश्य हुआ है, और वह यह कि अन्य जातियों के लोग थारू स्त्रियों से डरकर हमेशा दूर ही रहेंगे।

अन्त में आदि-संस्कृतियों में धर्म के व्यावहारिक रूप पर कुछ शब्द कहना अनुपयुक्त न होगा।

साधारणतः अदृश्य जगत् से आदिवासियों का संपर्क और प्रार्थना पूजा-पाठ के माध्यम से होता है। दैनिक प्रार्थना तो बहुत थोड़े आदिवासी समाजों में होती है। विशेष उत्सवों के अवसर पर देवी-देवता और पितर दोनों पूजे जाते हैं, उन्हें भेंट-वलि दी जाती है और फिर सामाजिक खान-पान होता है। ऐसे अवसरों पर उनकी पूजा में पढ़े गए मंत्र अधिकांशतः आशाओं और आशंकाओं

की एक लम्बी कड़ी होते हैं। उदाहरणार्थ छत्तीसगढ़ के कमारों के एक मंत्र में अदृश्य शक्तियों से प्रार्थना की जाती है कि वे उनके गाय, बैल, औरत, बच्चों और मुर्गों की रक्षा करें, उन्हें जंगल में शिकार दिलाने में सहायक हों, जंगल के कंद, मूल, फल खूब उत्पन्न करें और कृषि की रक्षा करें। अदृश्य जगत् के बड़े देवी-देवताओं के साथ स्थानीय देव-जाति के परम्परागत नायक, कुल अथवा परिवार के देवता और पितर एक ही श्रेणी में सम्मिलित हो जाते हैं और एक साथ पूजे जाते हैं। यह पूजा व्यक्तिगत भी होती है और परिवार द्वारा सम्मिलित रूप से भी। कभी-कभी पूरा गाँव या जाति भी मिलकर पूजा करते हैं। वर्ष में एक या दो बार उत्सवों की शृङ्खला कई दिन तक चलती है। असाधारण स्थितियों में, जैसे आकस्मिक मृत्यु, संकट आदि के समय अदृश्य जगत् की शक्तियों से दूसरे प्रकार का संबंध जादू-टोने के माध्यम से स्थापित किया जाता है। 'भय' के तत्त्व पर विजय पाने के लिए, आदि-मानव ने अपने सीमित ज्ञान और विज्ञान के दायरे में उपर्युक्त दोनों साधनों के माध्यम से सुरक्षा पाने का यत्न किया है।

पाँच

भारतीय आदिवासी : समस्या और समाधान

भारतीय आदिवासी अपने अल्प प्राविधिक विकास, आर्थिक दैन्य और सामाजिक-सांस्कृतिक सामंजस्य की कतिपय जटिल समस्याओं के कारण देश के लिए एक विशेष समस्या बन गए हैं। संविधान द्वारा दिये गए संरक्षण और शासन द्वारा उनके विकास और कल्याण की विभिन्न योजनाएँ बनने के बाद भी यह आवश्यक है कि योजनाकार और विकास-कार्यकर्त्ता उनकी समस्याओं को सहानुभूति से समझें और उनका वैज्ञानिक समाधान खोजने का यत्न करें।

अभी तक आदिवासियों की समस्याओं के समाधान खोजने के जो प्रयत्न हुए हैं वे अधिकांशत: राजनीतिक अथवा भावुकतापूर्ण ही रहे हैं। आदिवासियों के हितों को प्रादेशिक तथा राष्ट्रीय हितों से संबद्ध एवं संतुलित करने की निश्चित कार्य-प्रणाली विकसित करने की दिशा में अधिक विचार नहीं किया गया है। अब यह आवश्यक हो गया है कि हम आदिवासी हितों के संरक्षण तथा उनकी संस्कृतियों के वैशिष्ट्य और जीवन-शक्ति को बनाए रखने के प्रयत्नों के साथ यह भी विचार करें कि विनाशकारी सांस्कृतिक प्रभावों से उन्हें बचाए रखकर भी उनके तथा क्षेत्रीय एवं राष्ट्रीय विकास की योजनाओं में किस तरह सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है।

कतिपय समाज-शास्त्रियों और समाज-सेवकों ने आदिवासी समस्या के स्वतंत्र अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं किया है। उनके विचार में 'तथाकथित आदिवासी समस्या' ग्रामीण भारत की व्यापक समस्या का ही एक अंश-मात्र है। इसका अर्थ यह हुआ कि ग्रामीण क्षेत्रों के लिए बनाई गई विकास-योजनाएँ आदिवासी क्षेत्रों के लिए भी पर्याप्त होंगी; और इस प्रकार आदिवासियों के लिए अलग से योजनाएँ बनाना अनावश्यक है। यह विचार एक

मान्य समाज-शास्त्रज्ञ के लेखन में व्यक्त हुआ है, और इस विचार-धारा ने आदिवासी क्षेत्रों में कार्य करने वाले अर्ध-शासकीय और स्वतंत्र कल्याण-संगठनों को भी प्रभावित किया है। संसार के विभिन्न क्षेत्रों के अनुभव ने यह प्रमाणित कर दिया है कि अनियोजित संस्कृति-संपर्क हानिप्रद और विनाशकारी प्रभावों को जन्म दे सकता है। आदिवासियों की समस्याओं को व्यापक ग्रामीण समस्याओं का ही एक अंग मान लेने में यह भय है कि कहीं विनाशकारी सांस्कृतिक प्रभाव उनकी जीवन-शक्ति का ह्रास कर उनकी संस्कृति को नष्ट न कर दें।

इसके विपरीत, आदिवासी प्रश्न पर विचार करने वाले बहुसंख्यक व्यक्तियों का यह निश्चित मत है कि आदिवासी समस्या का स्वतंत्र अस्तित्व है और उस पर एक गम्भीर तथा महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय प्रश्न के रूप में विचार करना आवश्यक है। समस्या के समाधान के संबंध में इस वर्ग में प्रबल मतभेद हैं, और आदिवासियों के विकास और कल्याण के लिए कार्यान्वित होने वाली शासकीय, अर्धशासकीय एवं स्वतंत्र योजनाओं में यह मतभेद पर्याप्त रूप से लक्षित हुआ है।

आदिवासी समस्याओं के समाधान के लिए उपलब्ध चार मुख्य दिशा-निर्देशों का संक्षिप्त विश्लेषण यहाँ आवश्यक है। ये दिशा-निर्देश जिन प्रयत्नों में लक्षित होते हैं उनमें मुख्य निम्न हैं :

१. समाज-सेवी संस्थाओं के यत्न।
२. राजनीतिक प्रयास।
३. धार्मिक आन्दोलन।
४. नृतत्व-शास्त्रीय दृष्टिकोण।

समाज-सेवा में लगी संस्थाओं ने आदिवासी क्षेत्र में पर्याप्त कार्य किया है, किन्तु बहुधा उनके अनियंत्रित आदर्शवाद और सेवा-भावना का आदिवासी समूहों के संगठन, सामाजिक मूल्यों और समस्याओं के ज्ञान के साथ तादात्म्य नहीं हो पाया। वे संपूर्ण भारत की व्यापक आदिवासी समस्या का, जैसा कि वे उसे समझ पाए, एक स्वयं-पूर्ण समाधान लेकर आदिवासी क्षेत्रों में पहुँचे, जब कि वस्तु-स्थिति यह है कि बहुधा विभिन्न आदिवासी समूहों की, और कहीं-कहीं तो एक ही समूह के विभिन्न उप-समूहों की समस्याएँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं। समाज-सेवियों के उद्देश्य उनकी अपनी संस्कृति के संदर्भ में भले ही प्रशंसनीय हों, पर वे आदिवासी समाज के मूल्यों के अनुकूल नहीं थे। ये कार्यकर्ता यह जानने में भी असफल रहे कि उनके कतिपय शुभेच्छित सुधार आदिवासी समूहों के सामाजिक-सांस्कृतिक गठन की दृष्टि से अहितकर भी हो सकते हैं।

राजनीतिक प्रयत्नों को अंग्रेजी राज्य और स्वतंत्र भारत के संदर्भ में भिन्न रूपों में देखा जा सकता है। ब्रिटिश सरकार ने 'बाह्य' और 'अंशतः बाह्य' क्षेत्रों का निर्माण किया और आदिवासियों को पृथक् राजनीतिक प्रतिनिधित्व भी दिया। देश की राष्ट्रवादी विचार-धारा ने इस नीति को साम्राज्यवादी विभाजन-नीति के अनुसार देश में एक नये अल्पसंख्यक समूह के निर्माण का प्रयत्न मानकर उसका विरोध किया। निष्पक्ष दृष्टि से विचार करने पर हम यह देखते हैं कि स्वतंत्र भारत ने भी इसी नीति को कुछ परिष्कृत रूप में अपनाया है, और यह इस बात का प्रमाण है कि ब्रिटिश नीति विभाजन और शासन के ध्येय-मात्र से ही प्रभावित नहीं थी। आदिवासियों को भारतीय समाज की प्रमुख धाराओं से पृथक् रखने की इस नीति के साथ उनके कल्याण की योजनाओं के अभाव ने निश्चय ही इस नीति को नकारात्मक स्वरूप दे दिया था। यहां ब्रिटिश नीति के एक अन्य पक्ष का उल्लेख आवश्यक है। आदिवासियों को पृथक् प्रतिनिधित्व देने की नीति की एक दृष्टि से कोई आलोचना नहीं हुई। प्रतिनिधित्व देते समय समस्त आदिवासी समाज में ऐसे ऐक्य की कल्पना कर ली गई थी, जिसका भारत में वास्तविक अस्तित्व ही नहीं था। उन्हें पृथक् प्रतिनिधित्व देने की योजना बनाते समय यह ध्यान नहीं रखा गया कि आदिवासी समूहों में भी भिन्नताएँ हैं और उनमें भी कई छोटे-छोटे समूहों का बड़े और सशक्त समूहों द्वारा शोषण होता है।

जैसा ऊपर कहा गया है, इसी नीति को स्वतंत्र भारत ने थोड़े परिष्कृत रूप में स्वीकार किया है। देश की अनुसूचित आदिजातियों को विधान का विशेष संरक्षण प्राप्त है और उनके कल्याण के लिए योजनाएं बनाने की शासकीय व्यवस्था भी हुई है। मूलतः आदिवासी क्षेत्रों का अंशतः पृथक्करण और उनके लिए विशिष्ट कल्याण-योजनाओं के निर्माण की नीति न केवल उन्हें संरक्षण ही प्रदान करती है, वरन् वह उनमें परिवर्तन के एक ध्येययुत कार्यक्रम का, जो आदिवासियों को भारतीय समाज की प्रमुख धारा में समाहित करने के उद्देश्य से निर्मित किया गया है, समारंभ भी करती है। किन्तु इन योजनाओं के निर्माण और उन्हें कार्यान्वित करते समय हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि देश में न तो कोई एक आदिवासी समस्या है और न उसका एक निदान ही हो सकता है। इन योजनाओं की उपयोगिता बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि आदिवासी समूहों का उनकी आवश्यकताओं के अनुसार वर्गीकरण किया जाय और प्रत्येक वर्ग की आवश्यकताओं के अनुकूल योजनाएँ बनाई जायँ।

पिछले कुछ दशकों में एक भिन्न प्रकार का राजनीतिक अभियान आदि-

वासी क्षेत्रों को स्वतंत्र सत्ता दिलाने के पक्ष में उठाया गया है। यह आंदोलन क्षेत्रीय दृष्टि से दो प्रदेशों तक ही सीमित रहा है। स्वतंत्र नागा-राज्य और स्वनियंत्रित झारखंड की मांगों को न केवल आदिवासी हितों की दृष्टि से आंकना आवश्यक है, वरन् प्रादेशिक और राष्ट्रीय हितों की व्यापक पृष्ठभूमि में भी इनका मूल्यांकन आवश्यक है। अपेक्षित रूप में उनका निर्माण हो जाने पर क्या ये इकाइयां आदिवासी समूहों के कल्याण और विकास के लिए कार्य कर सकेंगी? क्या वे अपने स्वातंत्र्य और स्वनियंत्रण परावलंबी हुए बिना भी निभा सकेंगी? देश को इन मांगों की पूर्ति के लिए क्या मूल्य चुकाना पड़ेगा? ये बड़े गम्भीर प्रश्न हैं। इन प्रश्नों पर तात्कालिक लाभ और भावुकता की दृष्टि से विचार करना हानिप्रद हो सकता है। अपनी गम्भीरता के अनुकूल वे गहन विचार और वैज्ञानिक नियोजन की अपेक्षा रखते हैं। यदि इन आंदोलनों के मूल में दीर्घकालीन अंतर्सामूहिक तनाव, भय और आशंकाएं हैं, तो उनके कारकों की शोध और उनका निराकरण आवश्यक है। दूसरी ओर, यदि ये आदिवासी-राजनीतिज्ञों द्वारा आदिवासियों के पूर्ण और समृद्ध जीवन के विकास के स्थान पर अन्य-हित-साधना के लिए उठाये गए कदम हैं, तो स्थिति को दूसरी प्रकार से सुलझाने के यत्न आवश्यक होंगे। इस दिशा में उदासीन, निष्क्रिय और निश्चिन्त रहना कालान्तर में राष्ट्रीय हितों की हत्या प्रमाणित हो सकता है। वैज्ञानिक दृष्टि से यह कह सकना कठिन है कि धार्मिक प्रयासों ने आदिवासियों का हित अधिक किया है, अथवा अहित। यदि आदिवासियों का धर्म-परिवर्तन अपने पड़ोसी समुदायों से उन्हें दूर किये बिना ही उनकी सामाजिक एकता में सहायक होता है, और उन्हें आधुनिक जीवन में भाग लेने के लिए तैयार करता है, तो उसका विरोध नहीं किया जा सकता। किन्तु यदि यह धर्म-परिवर्तन उनमें सांस्कृतिक विघटन उत्पन्न कर उन्हें उनके जीवन की मुख्य धारा से विमुख करता है तो उसकी उपयोगिता संदिग्ध होगी।

नृतत्त्व-वेत्ताओं ने आदिवासी जीवन को निकट से देखकर उसकी समस्याओं का गंभीर अध्ययन किया है। इस प्रश्न पर वे अधिकारपूर्वक अपना मत व्यक्त कर सकते हैं। यह दुर्भाग्य का विषय है कि देश के राजनीतिज्ञों और समाज-सेवकों ने समसामयिक नृतत्त्व और उसके उद्देश्यों को भली भांति नहीं समझा और नृतत्त्ववेत्ताओं के संबंध में उनके हृदय में आज भी अनेक शंकाएं हैं। अंग्रेजों के समय से ही नृतत्त्व-वेत्ताओं के संबंध में यह भ्रान्ति प्रचलित हो गई है कि वे आदि-जातियों को अपने अध्ययन के लिए शेष समाज के प्रभावों से दूर रख उन्हें आदिम अवस्था में ही बनाए रखना चाहते हैं। नृतत्त्व-वेत्ताओं ने इस प्रश्न पर अपनी

स्थिति का स्पष्टीकरण एक ही नहीं अनेक बार किया है, किन्तु राजनीतिज्ञों की आलोचना का स्वर अभी भी नहीं बदला। जहाँ तक आदिजातियों के पृथक् रखे जाने का प्रश्न है, नृतत्व-वेत्ताओं ने थोड़े-से न्यूनसंख्यक ऐसे आदिवासी समूहों के अल्पकालीन पृथक्करण का सुझाव दिया है, जिनके संबंध में उनका यह निश्चित मत है कि वे तत्काल ही आधुनिक जीवन की प्रतियोगिता में उतर सकने में असमर्थ हैं। भारत के समस्त आदिवासी समूहों को यदि हम दृष्टि में रखें तो इस प्रकार के समूहों की संख्या नगण्यप्राय ही मानी जायगी। शेष आदिवासी समूहों के संबंध में नृतत्व का आग्रह रहा है कि उनकी समस्याओं का वैज्ञानिक अध्ययन कर उनके कल्याण की ऐसी योजनाएँ बनाई जायँ कि वे कालान्तर में भारतीय जीवन की प्रमुख धारा में समाहित हो सकें। नृतत्व-वेत्ताओं ने आदिवासी जीवन के मूल्यों को परखा है, और वे उसकी शक्ति से परिचित हैं। यदि वे आदिवासियों की वैशिष्ट्यपूर्ण संस्थाओं और जीवन-प्रकारों के नाश को रोककर उनके जीवन को एक नहीं बनाना चाहते हैं तो इसका अर्थ केवल यही है कि वे अनियंत्रित संस्कृति-संपर्क के विरुद्ध हैं। 'वैभिन्य में भी ऐक्य' भारतीय संस्कृति की एक विशेषता है। नृतत्व-वेत्ता का आग्रह है कि आदिवासी अपनी कतिपय परंपरागत संस्थाओं को जीवित रखकर भी राष्ट्र के उपयोगी नागरिक और महत्त्वपूर्ण अंग बन सकते हैं।

आदिवासी समस्या के समाधान के लिए नृतत्व-वेत्ता प्रयास की निम्न दिशाएँ सुझाता है :

१. वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा आदिवासियों के सामाजिक संगठन और मूल्यों के ज्ञान की उपलब्धि।

२. विभिन्न प्राविधिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकास के धरातलों पर उनकी समस्याओं का सूक्ष्म अध्ययन।

३. आदिवासी जीवन में एकीकरण की शक्तियों और कारकों का अध्ययन।

४. संस्कृति के सहज-परिवर्तनशील और परिवर्तन-विरोधी पक्षों का विश्लेषण।

५. संस्कृति के विभिन्न पक्षों के संबंध-सूत्रों और अंतरावलंबन का अध्ययन।

६. आदिवासी क्षेत्रों में कार्य करने वाले शासकों तथा अन्य शासकीय और सामाजिक कार्यकर्ताओं को आदिवासी जीवन और संस्कृति से परिचित कराने और इन समूहों में किये जाने वाले कार्य को समझाने के लिए विशेष प्रशिक्षण की व्यवस्था।

७. विचारपूर्वक ऐसी विकास-योजनाओं का निर्माण जो आदिवासी समूहों की आवश्यकताओं का क्षेत्रीय और राष्ट्रीय आवश्यकताओं से समन्वय कर सकें।

८. इन योजनाओं द्वारा जनित प्रवृत्तियों की गतिविधि और प्रभावों का अध्ययन और उनके हानिकारक तत्त्वों के निराकरण का प्रयत्न।

वैज्ञानिक अध्ययनों द्वारा ही आदिवासी संगठन के विभिन्न पक्षों का वास्तविक मूल्यांकन किया जा सकता है। ये अध्ययन उनके विकास की योजनाएँ बनाने के लिए अत्यंत आवश्यक हैं। योजनाओं को कार्यान्वित करने की प्रत्येक स्थिति में यह ज्ञान आवश्यक होगा। इन योजनाओं को कार्यान्वित करने वाले राजकीय कर्मचारी यदि व्यापक सहानुभूति रखकर अपने कर्तव्यों को पूरा करने का यत्न करें, और शेष समाज यदि आदिवासियों के संबंध में स्वस्थ सांस्कृतिक दृष्टिकोण रखे, तो थोड़े ही समय में समस्या अपने समाधान के निकट पहुँच जायगी।